समकालीन संपादकीय

सिद्धेश्वर

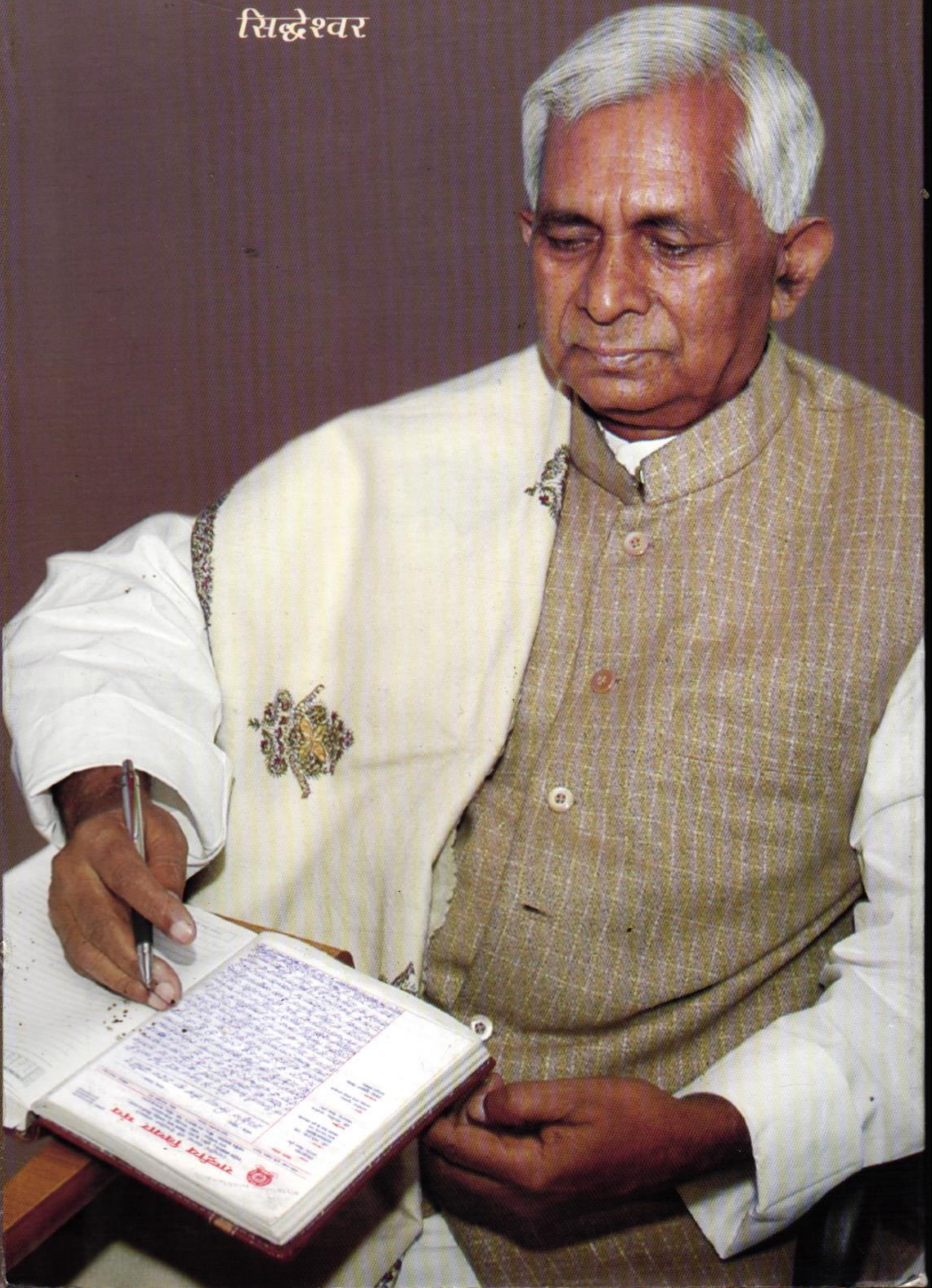

समकालीन संपादकीय
सिद्धेश्वर

सरदार पटेल साहित्य प्रकाशन
दिल्ली

समकालीन संपादकीय

(संपादकीय अग्रलेख)

सिद्धेश्वर

प्रकाशक
सरदार पटेल साहित्य प्रकाशन, दिल्ली

समकालीन संपादकीय

(संपादकीय अग्रलेख)

लेखक : **सिद्धेश्वर, संपादक, 'विचार दृष्टि'**
'दृष्टि', यू-207, शकरपुर, विकास मार्ग,
दिल्ली - 110092
फोन नं. : 011-22530652, 011-22059410
0612 - 2510519, मो. : 9873434086

प्रकाशक : **सुधीर रंजन**
प्रबंध संपादक, 'विचार दृष्टि'
'दृष्टि', यू-207, शकरपुर, विकास मार्ग, दिल्ली-110092
फोन नं. - 011-22530652
मो. : 9899238703, 9811281443

© : **सुधीर रंजन, प्रकाशक**

मुद्रक : **कांशी इंटरप्राइजेज, दिल्ली-110092, भारत**

शब्द संयोजन : **सुनयना कुमारी**
डी.टी.पी. प्वाइंट, खास महल मोड़, पटना-1,
फोन नं. : 0612-3298703

छायांकन : **संजय कुमार**
सिद्धार्थ प्रिंटोग्राफिक्स, एस-537, स्कूल ब्लॉक,
शकरपुर, दिल्ली-110092 मो. : 9810723122

प्रथम संस्करण : वर्ष 2008

मूल्य : 400 रुपए मात्र

I.S.B.N. No. : **978-81-904100-7-6**

SAMKALEEN SAMPADKIYA

A Collection of Editorials

Written by: **Sidheshwar**

Price Rs.: 400/- Only

समर्पण

उन सभी ज्ञात-अज्ञात पत्रकारों तथा पत्रकारिता से जुड़े लोगों को,
जिनकी कलम आदर्श समाज की एक
स्पष्ट तस्वीर देती है, जो समाज को व्यक्तिगत
स्वार्थ और शोषण से मुक्त करने का रास्ता
दिखाती है, सामाजिक सरोकार की
खण्डित होती पत्रकारिता से निजात
दिलाने का प्रयास करती है,
जो पत्रकार न केवल
उत्पीड़ित और समाज
की निचली सीढ़ी
पर बैठे लोगों
की आवाज
बनकर
सरकार के समक्ष उपस्थित होता है, बल्कि वैचारिक
क्रांति लाने के लिए आमजन में चेतना जागृत
करता है और देश व समाज के उत्थान के
लिए खरी-से-खरी तथा सही बातें
कहने में कोताही नहीं करता है,
क्योंकि वह पत्रकार ही है,
जो देश को सही दिशा दे
सकता है और सही रास्ते
पर ले जा सकता
है।

–सिद्धेश्वर

संपादक सिद्धेश्वर अपने मार्गदर्शक प्रो. राम बुझावन सिंह तथा सहयोगी श्री लखन सिंह के साथ

फुर्सत के क्षण में इतमिनान से बैठे संपादक सिद्धेश्वर

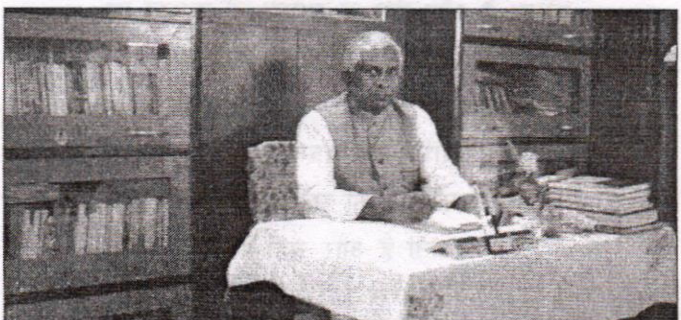

'विचार दृष्टि' के कार्यालय में कार्यरत संपादक सिद्धेश्वर

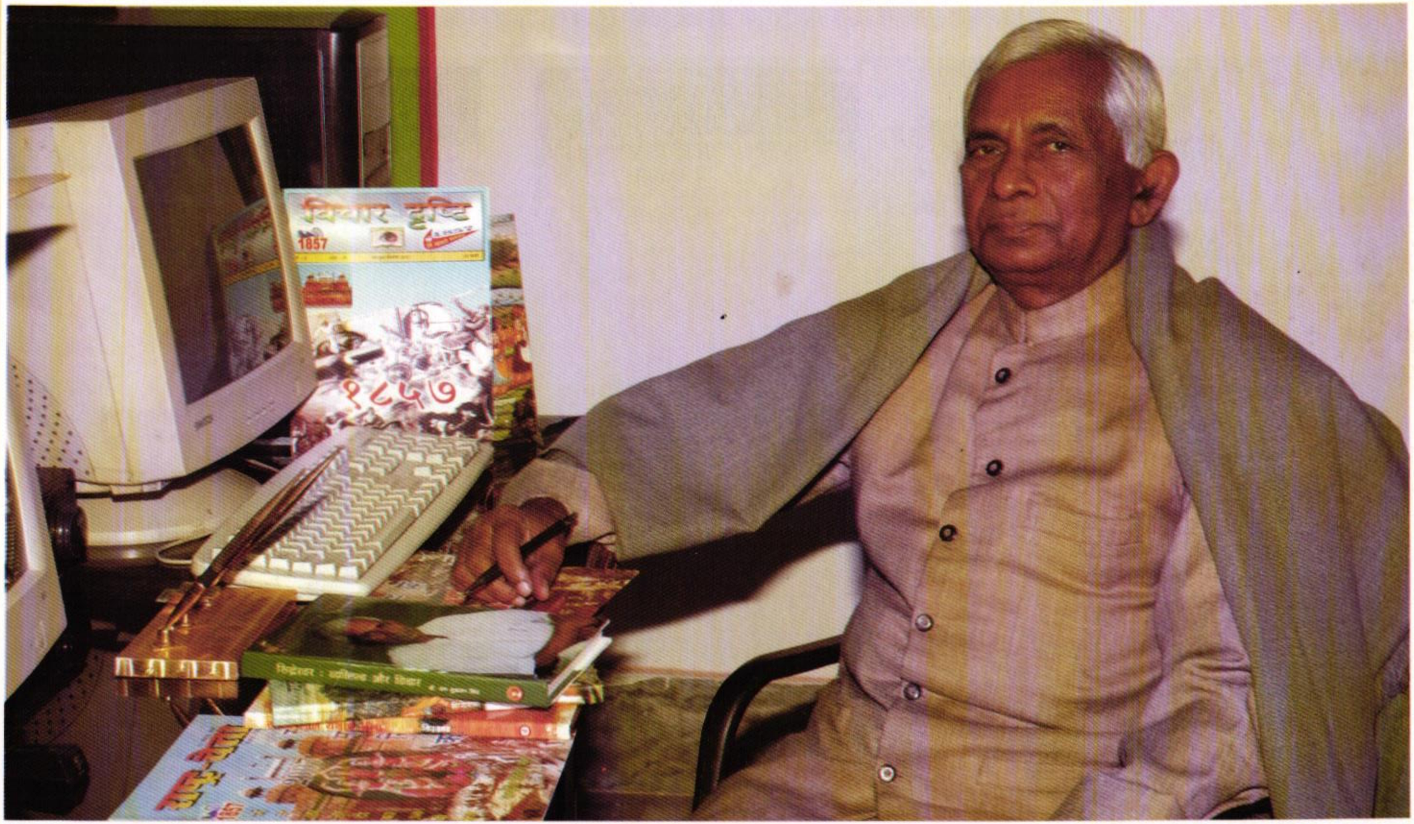

'विचार दृष्टि' के संपादक सिद्धेश्वर अपने कार्यालय में कार्यरत

श्री सिद्धेशवर अपनी धर्मपत्नी श्रीमती बी.प्रसाद के साथ

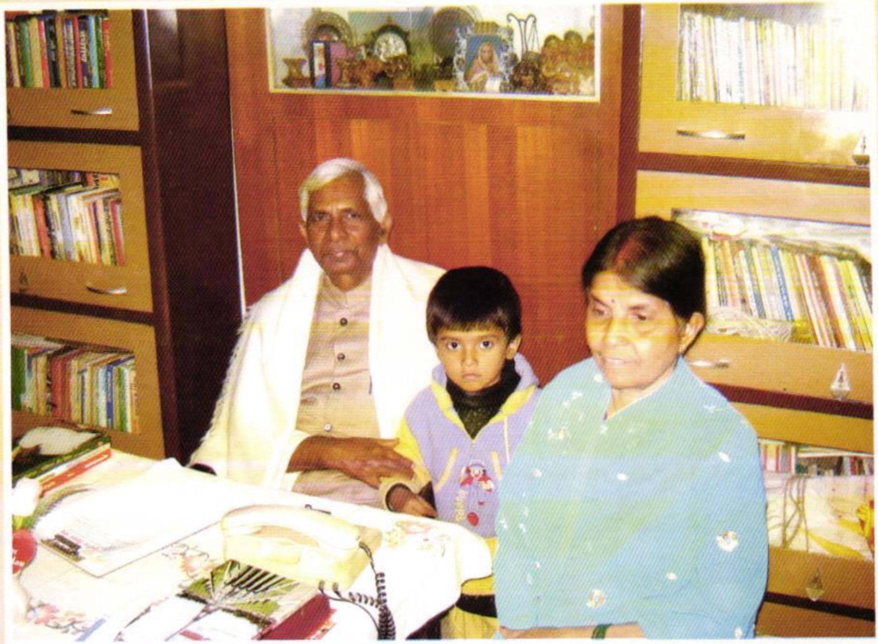

अध्ययन कक्ष में संपादक सिद्धेश्वर अपनी धर्मपत्नी तथा पौत्र के साथ

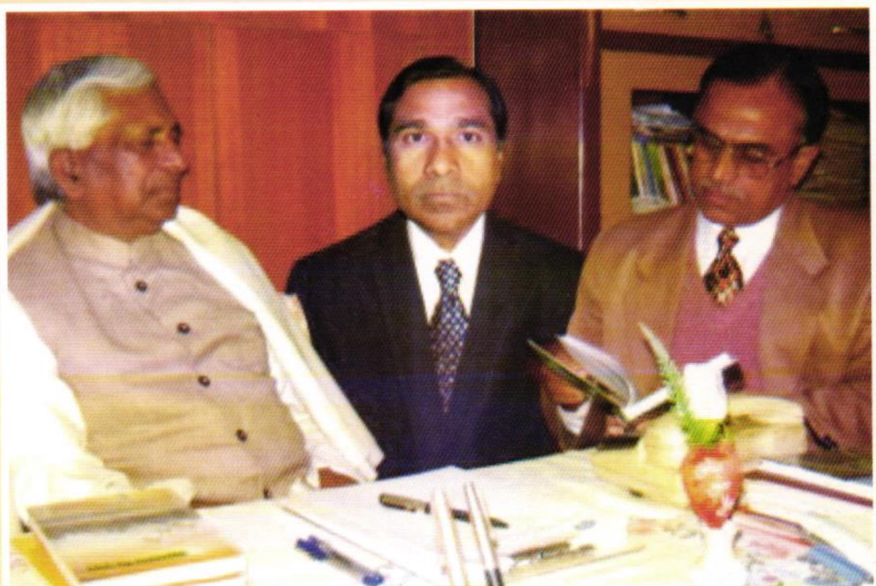

संपादक सिद्धेश्वर अपने उप-संपादक डॉ. शाहिद जमील एवं
सहायक-संपादक श्री उदय कुमार राज के साथ विचार विमर्श करते हुए।

संपादक सिद्धेश्वर के जीवन पर प्रो. राम बुझावन सिंह द्वारा विरचित पुस्तक 'सिद्धेश्वर : व्यक्तित्व और विचार' का बिहार विधान परिषद् के सभागार में लोकार्पण करते बिहार के मुख्यमंत्री श्री नीतीश कुमार के साथ सिद्धेश्वर।

संकलन का संदर्भ

यह किताब समकालीन भारतीय परिदृश्य पर एकाग्र हमारे संपादकीय अग्रलेखों व टिप्पणियों का संकलन है। इसमें बीसवीं शताब्दी के आखिरी दशक और इक्कोसवीं सदी के प्रथम दशक के भारतीय परिदृश्य में समाज, साहित्य, संस्कृति और राजनीति का सटीक विवेचन किया गया है। ये अग्रलेख नैतिक आवेग में 'प्रहरी', 'संघमित्रा', 'राष्ट्रीय विचार पत्रिका' और 'विचार दृष्टि' पत्रिकाओं में संपादकीय की सीमा को ध्यान में रखते हुए लिखे गए हैं, किंतु आकार में छोटे होते हुए भी पठनीय बनाने की कोशिश में इनमें निबंध-सी बुनावट, कहानी-सी रोचकता, रेखाचित्र-सी चुस्ती और पत्रकारिता की यथार्थता चित्रित है। इन संपादकीयों को मैंने इतनी जीवंतता से लिखा है कि पूरा समकालीन परिदृश्य सजीव-सा जान पड़ता है। इनमें वर्णन के जो तत्त्व हैं उनमें कल्पना उतनी नहीं है जितना यथार्थ है।

समाज, साहित्य, संस्कृति और राजनीति ये हमारे प्रिय विषय रहे हैं या यों कहा जाए कि उनपर हमनें बहसें भी चलाई हैं और समय-समय पर उन पर प्रहार भी किए हैं, मगर वे महज आक्रोश की अभिव्यक्ति नहीं हैं, बल्कि उनमें विचार तत्त्व की प्रधानता भी है। सामाजिक सोच की विकृतियों पर इनमें कई संपादकीय हैं जिसके माध्यम से निश्चय ही जन-जीवन को नया चिंतन-पथ और नया वैचारिक आलोक मिलेगा, क्योंकि अपने चतुर्दिक की दुनिया को हमने खुली आँखों देखा है, समझा है और अपने निष्कर्ष निकाले हैं। हमनें समाज और समय को पूर्णता और गहराई से जाना-पहचाना है तथा अपने समय में होने वाले परिवर्तन के प्रति सूझ-बूझ से काम लेते हुए अपनी संवेदनशीलता का परिचय दिया है, जो यथार्थ के करीब है।

हमनें धर्म को आधुनिक प्रौद्योगिकी के परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयत्न किया है ताकि नई पीढ़ी रूढ़िवादी धार्मिकता के लिए अपनी आँखें खोले। साथ ही इसमें साहित्य और संस्कृति की सार्थकता में आस्था जगाने वाले संपादकीयों का समावेश है। इसमें शब्दों के अर्थ को कर्म से जोड़कर समाज के लिए सार्थक बनाने की कोशिश की गई है और समाज को बदलने के लिए प्रयत्नशील राजनीति भी। इनसे गुजरना हमेशा अपने समकालीन से गुजरना है, क्योंकि ये वैचारिक जड़ता और संवेदनशीलता का एक समुच्चय है। समय और समाज की

विसंगतियों और विद्रूपताओं को देखकर जो बेचैनी मुझमें उपजी है उसी को अभिव्यक्त करने का प्रयास हुआ है इन संपादकीयों में। इसी प्रकार उपभोक्तावादी संस्कृति और बाजारवाद के इस जटिल और आपाधापी के युग में लुप्त होती मानवीय संवेदनाएँ, टूटते पारिवारिक रिश्तों और छीजते जीवन-मूल्य, मर्यादाएँ, जो मानव समाज के लिए खतरनाक संकेत हैं, पर खास तौर पर दृष्टि डाली गई है, क्योंकि अपने समय की भयावह, त्रासद स्थितियों की जटिलताओं का मुझे यथार्थ-बोध है। इस तरह इन संपादकीयों की मूल प्रवृत्ति समाज, मानवीय संबंध और राजनीति में क्या खोया और क्या पाया, कौन-सी दुनिया हमसे छूट गई या छूटती जा रही है, ऐसे कई सवालों को शिद्दत से देखती-पहचानती हैं। समकालीन परिदृश्यों की निर्मम विवेचना करके हमने सार्थक हस्तक्षेप करने का प्रयास किया है ताकि समाधान के अनूठे आयाम तलाशने में हम सफल हो सकें।

'समकालीन संपादकीय' के इन संपादकीयों में हमारा यह भी प्रयास हुआ है कि समय-समय पर समाज व देश के ज्वलंत मुद्दों और सरोकारों पर उठाए गए सवालों पर दो-टूक ढंग से मैं अपनी राय जाहिर करूँ, जो निश्चित रूप से समाज को एक दिशा तो प्रदान करते ही है, उन्हें गुमराह होने से बचातो भी है। बिना किसी दावे और बड़बोलेपन के संवेदना और विचार पक्ष को ताजे संदभों के जरिए पूरी ईमानदारी से, पूरी लगन से अपने मन में उपजे विचारों को इसमें उकेरने का मैंने प्रयत्न किया है, ताकि पाठक इसे पढ़कर सुखानुभूति प्राप्त कर सकें। वैसे भी पत्रकारिता का लक्ष्य होता है अपनी सुर्खियों से रक्त-चाप को बढ़ा देना। समाज, संगठन और पत्रकारिता में काम करने का हमने जो लंबा अनुभव प्राप्त किया है उसकी छाप स्पष्ट तौर पर इनमें देखी जा सकती है। कारण कि मुझे अँधेरे से लड़ने में रुचि है और आम आदमी तथा स्त्रियों के अपमान और संचार माध्यमों द्वारा खबरों को मसाले की तरह इस्तेमाल करते देख हम आक्रोश से तिलमिला उठते हैं। हम समझते हैं कि इससे हमारी सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक अस्मिता लूटी जा रही है। हमारी संवेदना समाज से जुड़कर धरातल पा गई है। मेरी मान्यता है कि लोक प्रजातंत्र का पहरुआ है और बाजारवाद है कि आज पूँजीवाद और जन शक्ति के बीच घमासान चल रहा है, किंतु हमें विश्वास है कि बाजार पर जन विजय हासिल करेंगे।

मेरा यह भी मानना है कि मूल्य के बगैर सामाजिक विकास पंगु हो जाता है, किंतु पुराने मूल्यों की जड़ता सामाजिक विकास में अवरोधक सिद्ध होने लगती है। सामाजिक मूल्य समय-समय पर बदलते रहते हैं और नए मूल्य आकार ग्रहण करते हैं, जो समाज की स्वीकृति पाते हैं। इस परिप्रेक्ष्य में यदि हम देखें, तो जब

कोई रचनाकार या पत्रकार लिखने बैठता है तो समाज के स्वीकृत प्रासंगिक मूल्य ही उसके लेखन में अभिव्यक्त होते हैं। इस पुस्तक में सम्मिलित संपादकीयों में इन्हीं समाज स्वीकृत मूल्यों की अभिव्यक्ति मिली है, क्योंकि सामाजिक प्रतिबद्धता और भारतीय संस्कृति एवं राष्ट्रीय एकता को अक्षुण्ण बनाए रखने की मेरी इच्छा-शक्ति ने हमारी लेखनी को प्रभावित किया है। यही कारण है कि संपादकीयों में इतिहास और संस्कृति के अतीत तत्त्व पर वर्तमान संदर्भों को संपादित करने में हमने पूर्णता और निपुणता का निर्वाह किया है। हमने अपनी वय के अनुरूप वाक् को सिद्ध करने में कोई कोताही नहीं की है और सामान्य जीवन-शैली में व्याप्त मिथकीय प्रसंगों को अपने संपादकीयों का विषय बनाया है, क्योंकि न तो मुझे साहित्य या पत्रकारिता में रातों-रात चर्चित होने की लालसा है और ना ही कोई तगमा झटकने की होड़। इसलिए मेरी कलम यथार्थ को लेकर चलती है और सदैव संयत तथा मार्मिक लेखन के लिए प्रयासरत रहती है। इसी वजह से इन संपादकीयों में अश्लीलता के परवान कभी न चढ़ पाए। भारतीय मिट्टी से जुड़े होने के कारण इन संपादकीयों से उसकी सोंधी गँध निकलती है।

हमारे संपादकीय लेखन पर दार्शनिक भाववाद से ज्यादा प्रभाव सामाजिक दृष्टिकोण का है, क्योंकि लेखन भी खासकर साहित्यिक लेखन दर्शन के सूत्रों की जगह जीवन के चित्रों से बनता है। हमारी अधिकतर रचनाएँ सामाजिक प्रश्नों को संबोधित कर रही हैं। इसका रुझान मूलत: यथार्थपरक है, क्योंकि ये रचनाएँ हमारे सामाजिक अनुभव और निजी प्रेरणा से रची जाती रही हैं। वैसे भी श्रेष्ठ सृजन सदैव जन साधारण के जीवन-यथार्थ से तादात्म्य करके ही रचा जाता रहा है। सच तो यह है कि रचना दार्शनिक चिंतन से प्रभावित अवश्य होती है, लेकिन उसका मूल सृजनात्मक स्रोत सामाजिक अनुभव है। अनुभव और चिंतन में तारतम्य न होने पर श्रेष्ठ रचना की शक्ति बाधित होती है। कहना नहीं होगा कि सामाजिकता से साहित्यिकता का संबंध गाढ़ा है। इसलिए सामाजिक बौद्धिकता के बिना शुद्ध साहित्य नहीं चल सकता और शुद्ध साहित्य शांति और शीतलता के निर्वेद तक ले जाने का लक्ष्य बनाता है। साहित्य हृदय भूमि और लोकोत्तर आनंदभूमि तक पहुँचता है। मगर आज की सच्चाई यह है कि साहित्य व पत्रकारिता से संबंधित अधिकतर व्यक्तियों का वैचारिक बौनापन लगातार बढ़ता जा रहा है। मुश्किल से दस-पंद्रह प्रतिशत प्रतिभाएँ ही कसौटियों पर शायद खरा उतरें। शेष के संदर्भ में पद, डिग्री और पहुँच के बल पर अर्जित तथाकथित 'बौद्धिक' छवि को दिखाकर सम्मान और संबंधित व्यावहारिक लाभ उठाने की अनवरत कोशिशें, अघोषित ही सही, आज की कड़वी सच्चाई है।

आज ऐसा देखने को मिल रहा है कि समकालीन संपादकीय लेखन में संपादकों के मन की कुंठा यथार्थ के नाम पर पत्र-पत्रिकाओं में प्रत्यारोपित हो रही हैं जिसके परिणामस्वरूप वे मिट्टीपलीद हो रही हैं। प्रेम और कामुकता का जो घिनौना प्रदर्शन समकालीन पत्र-पत्रिकाओं में हो रहा है वह भौड़ा रूप ग्रहण करता जा रहा है। अश्लीलता की यह पराकाष्ठा पाठकों को कौन-सी दिशा देगी, यह अत्यंत चिंतनीय विषय है। दरअसल भारतीय हिंदी फिल्मों की तरह समकालीन पत्रकार भी अपनी पत्रिकाओं में बीच-बीच में कामुक यौन संदभों और अश्लील चित्रों एवं दृश्यों को इसलिए पिरोते हैं कि पाठक आकर्षित होकर उन्हें पढ़ें और पत्र-पत्रिकाओं की बिक्री बढ़े, किंतु उन्हें यह नहीं पता कि पाठकों को आकर्षित करने और पत्र-पत्रिकाओं की बिक्री बढ़ाने का यह नुस्खा पाठकों की मनोवृत्ति को कुत्सित करेगी।

दरअसल ज्यादा बेचने के लोभ में मीडियावाले यह सोच भी नहीं सकते कि कल किस मामूली-सी खबर को वे ले भागेंगे। इसलिए वे हल्के कदम उठाने को मजबूर हैं। सच तो यह है कि सबसे ज्यादा बिकने वाले तंत्रों ने समाज का सत्यानाश ज्यादा किया है। सामाजिक सरोकारों और आदमी से जुड़ी समस्याओं से मुँह मोड़े बैठा यह तंत्र कभी किसी की चोली उतारने को ले भागता है, तो कभी सिने तारिकाओं के निजी जीवन में ताक-झाँक पर उतारू हो जाता है। पर समाज की कुरूपता को रंग-रोगन से ढांपकर मीडिया या तो खुद को फुसला रहा है या फिर वास्तविकता से लोगों का ध्यान हटाने का प्रयास कर रहा है। भूख, गरीबी, बेरोजगारी, अपराधों और यौन अत्याचारों की खबरों की जगह फैशन शो, डांस-फ्लॉर और धमाकेदार लाइव-शो ले चुके हैं। मीडिया के लिए औरत सिर्फ एक उत्पादन है जिसके देह-दर्शन से उसकी दुकानें चल रही हैं। बात चोली की हो या चूमने की, उसे तो चाहिए सनसनी। पत्रकारों का यह प्रयास रहता है कि सस्ती लोकप्रियता के बल पर या मसालेदार चीजें परोसकर पाठकों की संख्या में वृद्धि की जाए, किंतु वे यह नहीं समझते कि पाठकों की कुत्सित मनोवृत्ति उनके पत्र-पत्रिकाओं में अपना माथा खपाने की बजाय अश्लील फिल्मों एवं धारावाहिकों की दिशा में भागेगी। इसलिए पत्रकारों की इस अपसंस्कृति में जीकर संस्कृति को सूली पर चढ़ाने की यह पवृत्ति ईमानदार और सकारात्मक न होकर नकारात्मक है।

इधर हाल के वर्षों में प्रायः सभी पत्रों के साथ पेज थ्री का चलन तेजी से हो गया है जिसमें भोगी जीवन-शैली जैसी पार्टियाँ, नए-नए परिधान, फैशन के नए स्वरूप, आमोद-प्रमोद, मनोरंजन आदि पर ही जोर रहता है। पेज थ्री

सप्लिमेंटरी में अधिकतर वस्तुओं के विज्ञापन पाठकों को इसी ओर खींचते हैं। कारण कि काला धन और रातों-रात महान तथा लोकप्रिय बनने का लोगों का सपना हो गया है। यह सब उन्हें तश्तरी में रखे फास्ट फूड की तरह दिखाई दे रहा है। पेज थ्री में यही मसालेदार खबरें होती हैं जिनसे हमारे भारतीय संस्कारों का, शिक्षा का, उद्देश्यों का और आदर्शों का कुछ भी लेना-देना नहीं होता। 21वीं सदी में हम कई तरह के बदलाव देख रहे हैं जैसे पूँजी का दबाव बढ़ रहा है। जो समाज पहले ही बुराइयों से घिरा हो उस पर पूँजी का प्रकोप कुरुचियों की महामारी में ढकेल देगा। पेज थ्री की पत्रकारिता मध्यवर्ग के युवक-युवतियों को भी लालच में फँसा रही है यानी कम वक्त में अमीर और पोपुलर होने के नुस्खे सीखने की लिप्सा। जिंदगी शार्टकट या फास्ट फूड या हाटमूड नहीं होती। एक गरीब देश में जहाँ किसान आत्महत्याएँ कर रहे हों, स्त्रियाँ हर रोज बलात्कार की शिकार हो रही हों, लाखों लोग बेरोजगार हों, कुपोषण हो, अभाव-असमानताएँ हों, वहाँ पेज थ्री की जिंदगी और उससे जुड़ी पत्रकारिता मुझे एक तरह का अपराध लगता है।

दरअसल आज की पत्रकारिता और पत्रकारों पर पूँजी पूरी तरह प्रभावी हो चुकी है। वह उसे अपने रंग में बहुत तेजी से रंग रही है। यही वजह है कि उनके लेखन में पहले की प्रतिबद्धता, चतुर्दिक ज्ञान व मिशनरी उत्कंठा कम्प्यूटर आदि लेते जा रहे हैं। जुगाड़ संस्कृति में माहिर होना उसकी प्रबंधकीय विशेषता है। सच तो यह है कि राजनीति, धर्म, साहित्य या पत्रकारिता जैसे क्षेत्रों की परंपरागत यशस्वी पहचान खुली अर्थ व्यवस्था के लिए जनता को भरमाने का जरिया अधिक बनते जा रहे हैं। यही कारण है कि इन क्षेत्रों में बौद्धिक बौनापन बढ़ रहा है। ऐसी घिनौनी वैचारिकता और कुत्सित एवं अराजक, संपादकीय लेखन से हमेशा मेरा बचने का प्रयास रहा है और हमने अपने संपादकीयों के द्वारा भारतीय समाज को सभ्य, सुसंस्कृत और संस्कारित बनाने की कोशिश की है, जिसमें हम कितना सफल हो पाए हैं यह तो पाठक अथवा आलोचक ही बता पाएँगे। यदि थोड़ा बहुत भी ये संपादकीय लेख वर्तमान व भावी पीढ़ी को मूल्यवत्ता और मर्यादा की प्रेरणा प्रदान करने में सहयोग करते हैं तो मेरा यह प्रयास सार्थक समझा जाएगा, क्योंकि हमारे इन संपादकीय लेखन का जीवन के प्रति रागात्मक दृष्टिकोण है और जीने के लिए, सार्थकता भी इसने प्रदान की है, कुछ सूत्र भी सुझाए हैं जिनके जरिए आधुनिक मूल्यहीनता की स्थिति के साथ व्यक्ति सामंजस्य स्थापित कर सकता है। दरअसल आधुनिकताजन्य मूल्यहीनता से आज का समाज और व्यक्ति पीड़ित होकर उसके समक्ष बौना होने का एहसास

करता है। हमारा यह प्रयास रहा है कि नवीन मूल्यों की स्थापना द्वारा वैसे व्यक्तियों को अपनी पीड़ा से मुक्ति दिलाई जाए। इसलिए इस पुस्तक को मूल्यहीन समाज में सार्थकता की तलाश कहना यथोचित होगा। हमारा ध्यान राजनीति और नौकरशाहों से आक्रांत होकर बिखरते समाज, मीडिया, धर्म और संस्कृति के सार्वकालिक सरोकारों के सवालों के साथ-साथ हमारा प्रयास उन जगहों में भी जाने का हुआ है जहाँ अभी भी संभावनाएँ बची हुई हैं।

आप मानें या न मानें, मगर मुझे ऐसा लगता है कि विभिन्न क्षेत्रों में कार्यरत चिंतनशील व्यक्तियों के चिंतन में एक ऐसा ठहराव आ गया है कि वे अपनी घिसी-पिटी लीक से हटकर कुछ नया सोचने या करने के लिए तैयार नहीं है। उनके वैचारिक शतरंज पर वह पुरानी गोटियाँ आज भी मौजूद हैं, जो आज से कई दशक पूर्व थीं। उन्हीं को कुछ हेर-फेर के साथ सार्वजनिक जीवन का समीकरण बनाते-बिगाड़ते रहते हैं और संपूर्ण समाज तमाशबीन बनकर रह गया है। ऐसे साहित्यकार व पत्रकार के लेखन में ईमानदार गतिबद्धता व दिलों को संस्पर्श करने वाली स्वाभाविक कलम दूर-दूर तक नजर नहीं आती। ऐसे रचनाकारों में नौकरशाह, राजनेता और यहाँ तक कि बाबुओं और उनके परिवारजन प्रमुख हैं। अपनी दिन-रात की उठा-पटक के बीच वे कितना समय वास्तविक अध्ययन और चिंतन को दे पाते होंगे, इसका अनुमान लगाना मुश्किल है। इसी की तुलना में ऐसे उपेक्षित लेखक साहित्यकार व पत्रकार भी कम नहीं हैं, जो जुगाड़ की दौड़ में असफलता के बीच उपेक्षा का दंश झेल रहे हैं, मगर 'समरथ को नहिं दोष गुसाईं' की तर्ज पर सब चलता है। सच तो यह है कि समाज को वैचारिक संभ्रम के जंगल से निकालकर उसे सुदृढ़ एवं ठोस वैचारिक धरातल पर खड़ा करने का दायित्व प्रबुद्धजनों और चिंतनशील व्यक्तियों एवं पत्रकारों का है। कुछ इसी भाव से प्रेरित होकर हमारी कलम चली है इन संपादकीयों में, जिन्हें इस पुस्तक में शामिल किया गया है।

भारत में संवेदनात्मक ज्ञान की यह विशेषता रही है कि वह एक बिंदु पर जाकर रुका नहीं है। उसकी संवेदना सदैव नवीन की खोज और अमित की प्राप्ति से चाह लिए रहती है। रचनात्मक मौलिकता समय की माँग है। वैसे तो साहित्य या पत्रकारिता में शुद्ध मौलिकता नाम की कोई चीज नहीं होती, किंतु किसी न किसी के भाव या उसके अंश को लेकर लेखक या पत्रकार मौलिक से भी अपने लेखन को बेहतर बना देता है। मौलिक लेखन के लिए अनुभूति, अनुभव, भीतरी द्वंद्व और आत्म संघर्ष के विभिन्न चरणों से होकर गुजरना पड़ता है। हमने समाज से सीधे जुड़कर अपने संपादकीयों को विचारों एवं चिंतन की

भूमि पर खड़ा करने का प्रयत्न किया है। चिंतक परिस्थितियों का दास नहीं, उसका निर्माता और क्रांति का सर्जक होता है। वह अवरोधों की चट्टानों को चकनाचूर करके रास्ता निकालना जानता है, वह जंगलों की भूल-भूलैया में खो नहीं जाता।

इस दृष्टि से यदि देखा जाए तो प्रस्तुत पुस्तक के संपादकीयों में सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक देशज ध्वनियाँ सुनी और महसूस की जा सकती हैं और हिंदी भाषा-भाषी प्रदेशों और उसके लोगों की गहरी प्रतीति से लेकर अन्य भारतीय भाषा-भाषी क्षेत्रों की प्रतीति भी इनमें झलकती है। संभवत: आज के परिदृश्य में ये संपादकीय-लेखन खेमेबाज और गुटबाज लोगों को आईना दिखाते नजर आते हैं। यही नहीं, बल्कि इन संपादकीयों में व्यक्त विचारों का एक बड़ा हिस्सा धर्मांध लोगों और धर्म के नाम पर राजनीति करन वालों को भी रेखांकित किया गया है। इनमें बड़े-से-बड़े मठाधीशों, राजनेताओं तथा छद्म रचनाकारों के खिलाफ भी टिप्पणियाँ की गई हैं। साथ ही साहित्य, समाज और पत्रकारिता के धुँधलके को छाँटने का हर संभव प्रयत्न भी किया गया है और समग्र समाज की श्रेयष्कारी, निष्पक्षता और विवेक को चित्रित करने का हमने भरसक सार्थक प्रयास किया है, क्योंकि विवेक ही विचार का प्राण तत्त्व है और बिना विवेक के विचार का कोई अर्थ नहीं। पत्रकारिता का श्रुतिफल तो विवेक ही है और सजगता एवं सतर्कता विचारक, चिंतक एवं प्रबुद्धजनों के आवश्यक गुण हैं, जिन्हें लोकतांत्रिक कार्यकलाप की निगरानी करनी पड़ती है। इस देश के सामान्य जन का अधिकार केवल चुनाव के दिन मतदान करने तक सीमित हो गया है, जबकि उसकी भागीदारी संपूर्ण व्यवस्था से और उसके सभी अंगों से होनी चाहिए, साथ ही उन अंगों की परिचालन-शैली से वह परिचित भी हो। इसके लिए कारगर उपाय यही है कि लोकतांत्रिक मान्यताओं के विचार और साहित्य उन्हें सुगमता से उपलब्ध हों, ताकि लोग खुद जान सकें कि वे जिस लोकतांत्रिक प्रणाली का हिस्सा हैं, उनका आधार क्या है? इस नाते इसे एक सजग प्रहरी की भूमिका में देखा जा सकता है। यहाँ को जनता और उनके दु:खों-सुखों से उनकी आशा-आकांक्षाओं से भली-भाँति परिचित रहने के कारण ही हमने सजग प्रहरी की भूमिका के निर्वहन हेतु अपनी कलम का इस्तेमाल जन-हित में किया है और जन विरोधी शक्तियों से संघर्ष करने का प्रयास किया है।

दरससल हमारी सबसे बड़ी चिंता, जो प्राय: प्रत्येक संपादकीय लेखन या अन्य कॉलमों में दृष्टिगोचर होती है, वह यह है कि आज व्यक्ति व समाज मज़हब, जाति और रूढ़ियों एवं अँधविश्वास की दुहाई देता हुआ पहले से कहीं ज्यादा संवेदनशून्य और उसकी समस्याएँ ज्यादा घनीभूत हो गयी हैं। सत्ताश्रित, संस्थाश्रित

और धनाश्रित शक्तियों ने भारतीय लोकतंत्र को वस्तुत: भीतर से खोखला कर दिया है। ऐसे में लोकतंत्र के चौथे प्रहरी के रूप में देखे जाने वाले संचार माध्यमों की भूमिका अहम् हो जाती है, किंतु अब केवल पत्र-पत्रिकाओं के स्तंभों में स्थान घेरकर और संपादकीय अग्रलेखों के भरोसे बैठे रहने अथवा सभा-संगोष्ठियों में व्यक्त विचार को सुनकर चैन से रहने की आदत छोड़नी होगी। समाज के सजग प्रहरियों, बुद्धिजीवियों, साहित्यकारों और सामाजिक, सांस्कृतिक कार्यकर्ताओं को सामने आना होगा और हर घर में दीप जलाना होगा। एक जागरूक पत्रकार के नाते हमने अपने समय के जन-क्रंदन को कान खोलकर सुना है और देश की दुर्दशा को खुली आँखों से देखा है। इसलिए समय की माँग को ध्यान में रखते हुए इन संपादकीयों को लिखा है, जिनके द्वारा व्यक्तियों के भीतर उच्च मानवीय भावनाओं को पैदा किया जा सकता है और उनकी आंतरिक शक्तियों को जागृत किया जा सकता है, ताकि हर व्यक्ति जीवन की कठिनाइयों का सामना करने की शक्ति प्राप्त कर सके। अपनी जन पक्षधरता की वजह से ही प्रस्तुत पुस्तक के संपादकीय भारतीय जनता को अँधकार के गर्त से निकालकर उसे प्रकाश के पथ पर अग्रसर करते हैं। आज के परिदृश्य में ये संपादकीय विरासत हैं और अधिक प्रासंगिक भी, जिनका बड़ा अर्थ और मूल्य है। इससे हमें आत्मिक संतोष होता है। इस दृष्टि से आमजन को समझने में हमारे ये संपादकीय सही मार्गदर्शन कर सकेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।

प्राय: यह कहते सुना जाता है या पुस्तकों में पढ़ा जाता है कि इस पृथ्वी पर जनमे अमुक महापुरुषों, रचनाकारों अथवा पत्रकारों ने समय की धारा को मोड़ दिया। समय की धारा को मोड़ देने का ध्वन्यार्थ यह है कि पुरुष ने अपने पुरुषार्थ अथवा कर्त्तव्य से संपूर्ण मानव समाज को नई दिशा की ओर अग्रसर किया। मेरा यह दावा नहीं कि इस पुस्तक में संकलित संपादकीयों से समय की धारा प्रभावित होगी, पर जिस कठिन और विषम दौर से हम गुजर रहे हैं, हमारे ही द्वारा उत्पन्न जटिलताओं और समस्याओं के समाधान में हमारा यह सत्कर्म परिवर्तन की दिशा और गति में अवश्यं कुछ अंतर लाएगा, ऐसी आशा मैं करता हूँ। हमारे इस कर्म सुवास से समाज का मस्तक ऊंचा होगा और उसके लोगों को भी अपने रंग में रंग लेगा, यह विश्वास तो मैं दिला ही सकता हूँ। आखिर समय भी मनुष्य और सृष्टि की कर्म-सुवास और गति से ही गौरव पाता है। हम अपने कर्म के माध्यम से जीवन की सक्रियता में अग्रसर हैं। हम अपनी कर्मण्यता में अपना होना ही सिद्ध करते हैं और सच तो यह है कि समय की निरपेक्षता में हम स्वयं ही सापेक्षता को सिद्ध करते हैं।

रचनाकार हो या पत्रकार, सामान्य जन के बीच रहने वाला वह सचेष्ट व्यक्ति है, जो सामाजिक उद्वेगों, हलचलों तथा संवेगों को एक निरपेक्ष द्रष्टा के रूप में ग्रहण कर चिंतन के आभ्यंत्रिक दोहन से प्रसूत भावों व विचारों की सार्थक अभिव्यक्ति समाज के हितार्थ करता है। उसकी अभिव्यक्ति की प्रभावशीलता उसकी अनुभूति व तद्जन्य स्फूरण की तीवता पर निर्भर करती है। यही वह तत्त्व है, जो उसे सामान्य व्यक्ति से अलग कर विशेष स्तर प्रदान करता है और साथ ही उसकी सदिच्छा, सहृदयता एवं सोच को परिलक्षित करता है। मैंने भी काल–सापेक्ष चिंतन अपनी सोच व सामर्थ्य के अनुरूप किया है। समाज में निरंतर बहने वाली विभिन्न सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक धाराएँ, जिन्होंने हमारे मानस–पटल व सरोकारों को अपने–अपने ढंग से प्रभावित किया हैं के विचारों का प्रस्फुटन इन संपादकीयों में संभव हो पाया है। इनमें आप पाएँगे जन–चेतना, राष्ट्र–चेतना तथा जीवन के वास्तविक संघर्ष का प्रतिबिंब एवं मध्य वर्गीय विडंबना का कटु सत्य और करुणा।

आज जब हम राष्ट्र के विगत इतिहास पर दृष्टिपात करते हैं तो वह हमें तत्कालीन, सामाजिक व राजनीतिक परिस्थितियों, आँदोलनों एवं क्रिया–कलापों का स्पष्ट चित्र विश्लेषण एवं चिंतन करने को विवश करता है, क्योंकि युगचेता साहित्यकार व पत्रकार सामाजिक कुरीतियों, विद्रूपताओं तथा समाज विरोधी विघटनकारी तत्त्वों का मूकदर्शक न होकर उसके विरुद्ध खड़ा हो जाता है और उसकी तात्कालिक अभिव्यक्ति समाज में सज्जनों को संबल व दुर्जनों को तिरष्कृत एवं परिष्कृत करने का सुअवसर प्रदान करती है। मौजूदा परिदृश्य के अवलोकन से ऐसा प्रतीत होता है कि आज के साहित्यकारों व पत्रकारों का एक वर्ग जहाँ व्यवसायिकता का लबादा ओढ़ राष्ट्र के मौलिक आस्तिक चिंतन, साहित्य, भाषा, संस्कृति व अभिव्यक्ति के मानक रूपों को नजरअंदाज करता जा रहा है, वहीं वह जनमानस की 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' की भावना को भूलता जा रहा है। जो राष्ट्र की सांस्कृतिक धरोहर हमारे पूर्वजों ने संजोकर रखा था उसे समवेत स्वर से नकारने का प्रयास किया जा रहा है जिसके परिणामस्वरूप आज समाज में द्वंद्व पैदा हो रहा है और तद्ज्न्य सोच के घिनौने साहित्य और पत्रकारिता ने नागरिकों व पाठकों में साहित्य के प्रति अरुचि का भाव उत्पन्न कर दिया है। ऐसी स्थिति में समाज के सरोकारों के प्रति सजग हम साहित्यकारों व पत्रकारों का यह राष्ट्रीय दायित्व हो जाता है कि परिदृश्य को धूमिल होने से बचाएँ और उसे अपने चिंतन से आलोकित कर युगचेता के रूप में राष्ट्र को अनवरत अनुप्राणित करें। पुस्तक के संपादकीय इसी के मद्देनजर सद्भावना, सहजता, मानवीयता और राष्ट्रीयता की सहज अभिव्यक्ति हैं, क्योंकि मैं महसूस करता हूँ कि वैचारिक शून्यता से उभरने के लिए वैचारिक स्वराज्य का निर्माण अत्यावश्यक हो गया है। यह कार्य

तभी संभव है जब राष्ट्रीयता के प्रति भारत के हजारों वर्ष से चला आ रहा 'वसुधैव कटुम्बकम्' के विचार से मिलता-जुलता विचार 'ग्लोबल वीलेज' के नाम से आया है, जिसके परिणामस्वरूप कला-साहित्य हाशिए पर चला जा रहा है और हर तरफ विचारधाराओं का पतन हो रहा है। किंतु यह समझना होगा कि पहले जहाँ मानवता पर आधारित विचार है, वहीं दूसरा आर्थिक पहलू पर आधारित। दूसरे विचार से पश्चिमी अवधारणाओं को अग्रणी होने का अवसर मिलता है और अपनी मौलिकता धीरे-धीरे छँटती जाती है, क्योंकि बाजारवादी अधिनायकों का विश्वग्राम पर पूरा दबदबा है। आज जरूरत है भारतीय आदर्शों से प्रेरित सृजनशीलता को आगे बढ़ाते हुए उसी में से मार्ग खोजने की। प्रस्तुत पुस्तक में सम्मिलित हमारे संपादकीय उन्हीं भारतीय आदर्शों से प्रेरित प्रयासों का प्रतिफल है। इसे पढ़कर पाठक जन-जीवन को संचालित करने वाली शक्तियों तथा उसके विकास की दिशा समझ सकेंगे। अपनी बात को अधिक से अधिक लोगों तक पहुँचाने के लिए मैंने अपनी भाषा को सरल, जीवंत और एक सशक्त साधन के रूप में इस्तेमाल किया है। विश्वास है, इन्हीं में से इस देश के नागरिक मार्ग खोजने का प्रयास करेंगे और तभी हमारे इस सृजन की सार्थकता सिद्ध होगी।

संपादकीय अग्रलेखों के इस संकलन की पांडुलिपि अपने हाथों में लिए मैं अति प्रसन्नता का अनुभव इसलिए कर रहा हूँ कि यह ऐसे समय में प्रकाशित हो रहा है जब 'विचार दृष्टि' पत्रिका सफलतापूर्वक अपने दस वर्ष पूरे कर रही है और सज-धजकर इसका दस-वर्षांक 37 (अक्टूबर-दिसंबर 2008) 30-31 अक्टूबर 2008 को नई दिल्ली में आयोजित पत्रिका के द्वितीय राष्ट्रीय अधिवेशन के अवसर पर लोकार्पित हो रहा है।

हम आभारी हैं उन सभी साहित्यकारों, संपादकों, पत्रकारों तथा शुभेच्छुओं के, जिन्होंने सहज रूप से इस पुस्तक की भूमिका, शुभाशंसा तथा अभिमत लिखकर हमारा मनोबल बढ़ाया है।

उन सहयोगियों का भी मैं आभारी हूँ, जिनका प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से इस संकलन में सहयोग मिला है।

(सिद्धेश्वर)

'दृष्टि' यू-207, शकरपुर,
विकास मार्ग, दिल्ली -92
दूरभाष - 011-22530652, 22059410
0612-2510519

अभिमत

पत्रकारिता की महत्ता को सार्थक करता संपादकीय

यह बात ठीक है कि मौजूदा दौर में पत्रकारिता एक सस्ता व्यवसाय बन गई है जिसका उद्देश्य मात्र धनोपार्जन है और उसका मूल मंत्र है हत्या, बलात्कार, चोरी, डकैती, फिल्मी जगत की कुछ चटपटी खबरें व तारिकाओं के सुंदर, आकर्षक तथा अश्लील तस्वीरें प्रस्तुत करना। मगर ऐसी विषम स्थिति में भी 'समकालीन संपादकीय' के लेखक सिद्धेश्वर जी अपनी पत्रिका 'विचार दृष्टि' के माध्यम से विशुद्ध साहित्यिक व सामाजिक सामग्री, गंभीर व चिंतनपरक लेख और मन-मस्तिष्क को झकझोरने वाले प्रेरणादायक प्रसंग प्रकाशित कर रहे हैं। इनके संपादकीय न केवल राष्ट्रीय व सामाजिक चेतना से ओत-प्रोत होते हैं, बल्कि विचारोत्तेजक भी। इन्हीं संपादकीय अग्रलेखों का संकलन है प्रस्तुत पुस्तक 'युगीन संपादकीय'। नि:संदेह इन संपादकीयों के जरिए लेखक ने पत्रकारिता के आदर्शों और उच्च सिद्धांतों की रक्षा करते हुए सही अर्थ में लोकतंत्र और सामाजिक क्रांति का मार्ग प्रशस्त करने का प्रयास किया है। यशस्वी पत्रकार बाबूराव विष्णु पराड़कर ने पत्रकारिता के संबंध में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा था, ''जीवन में जिन प्रश्नों पर उचित निर्णय की आवश्यकता होती है और जिन निर्णयों पर समाज का जीवन अंत में निर्भर करता है, उसके बारे में जनता को योग्य जानकारी कराना और उसके संबंध में जनमत का निर्माण एवं नेतृत्व करना, उस मत को प्रकट करना तथा उससे अधिक से अधिक लाभ जनता को पहुँचाना ही एक आदर्श पत्रकार का कर्त्तव्य है।'' सिद्धेश्वर जी की यह कोशिश रही है कि इस परंपरा का निर्वाह किया जाए और वे इसी दिशा में अग्रसर हैं।

मौजूदा दौर के बदलते तकनीकी परिवेश में सूचना का जबर्दस्त विस्तार हो रहा है। इसलिए समय का तकाजा है कि पत्रकारिता से जुड़े लोगों को भी बदलती तकनीक के साथ बदलना चाहिए। इसी के मद्देनजर 'समकालीन संपादकीय' के लेखक व संपादक अपने कौशल से बदलते परिवेश में पत्रकारिता की गुणात्मक श्रेष्ठता को बिना खोए अपनी साख बनाए चल रहे हैं, क्योंकि उनका मानना है कि सामाजिक प्रभाव बिकाऊ नहीं होता, वह पत्रिका की उत्कृष्टता से बनता है और उसी के सहारे व्यवसाय भी चलता है। ऐसा नहीं कि

आज की पीढ़ी सत्य, न्याय, सामाजिक प्रतिबद्धता और जन-पक्षधरता नहीं चाहती। मगर पत्र-पत्रिकाओं की प्रस्तुति अवश्य प्रतिभाशाली हो और सच से उसका वास्ता हो, क्योंकि जीवंत लोकतंत्र में पत्रकारिता का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि आज की पत्रकारिता अपने सामाजिक सरोकारों से दूर होती जा रही है। सामाजिक सरोकारों को लेकर जितनी गंभीरता उनमें होनी चाहिए वह नहीं दिख रही है। इस दृष्टि से जब हम प्रस्तुत पुस्तक के संपादकीयों पर नजर डालते हैं तो पाते हैं कि इसके संपादक सामाजिक जिम्मेवारी निभाने में सदैव सतर्क हैं और समय-समय पर न केवल अपने संपादकीय अग्रलेखों के माध्यम से, अपितु अपनी अन्य रचनाओं के जरिए भी स्वास्थ्य, महिला कल्याण, श्रमिक सुधार, पंचायती राज, शिक्षा, बिजली, दूरसंचार तथा पेंशन जैसी सामाजिक सुरक्षा के सवालों से रू-ब-रू होते हैं और सरकार तथा संबंधित अधिकारियों का ध्यान आकृष्ट करने से बाज नहीं आते हैं। अपने प्राक्कथन - 'संकलन का संदर्भ' में लेखक स्वयं लिखते हैं - ''समकालीन संपादकीय'' के इन संपादकीयों में हमारा यह भी प्रयास हुआ है कि समय-समय पर समाज व देश के ज्वलंत मुद्दों और सरोकारों पर उठाए गए सवालों पर दो टूक ढंग से मैं अपनी राय जाहिर करूँ, जो निश्चित रूप से समाज को एक दिशा तो प्रदान करते ही हैं, उन्हें गुमराह होने से बचाते भी हैं।''

समय-समय पर लेखक ने देश के सर्वांगीण विकास हेतु सरकार के द्वारा अपनाई गई उदारीकरण और भूमण्डलीकरण की नीतियों पर भी चोट की है। 'राष्ट्रीय विचार पत्रिका' के जनवरी-मार्च, 1999 के अंक : 4 के संपादकीय में संपादक की टिप्पणी काबिले गौर है - ''स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद प्रथम चालीस वर्षों तक योजनाबद्ध विकास के द्वारा आत्मनिर्भरता और सर्वांगीण उन्नयन के प्रयासों को नयी उदारीकरण और भूमण्डलीकरण की नीतियाँ गंभीर आघात पहुँचा रही हैं। मिश्रित अर्थव्यवस्था तथा विदेशी पूँजी की लालसा ने अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व व्यापार संगठन के मकड़जाल में देश की अर्थ व्यवस्था को ढकेल दिया है। इसी प्रक्रिया के परिणामस्वरूप 'एशियन टाइगर्स' कहलाने वाले सिंगापुर, इंडोनेशिया, ताइवान, मलएशिया तथा कोरिया आदि देश दिवालिया होने के कगार पर आ गए हैं, यह बात किसी से छिपी नहीं है। बहुराष्ट्रीय कंपनियों की लूट और अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं की गलत एवं मनमानी शर्तों की वजह से इन राष्ट्रों को भयंकर आर्थिक संकट और राजनीतिक उलटफेर भुगतने के साथ अमरीकी आर्थिक साम्राज्यवाद के सामने घुटने टेकने को विवश होने

पड़ रहे हैं। यही नहीं, बल्कि इन देशों की जनता को भूखमरी, आर्थिक शोषण तथा सामाजिक-राजनीतिक उत्पीड़न का शिकार होना पड़ रहा है। इससे भारतवासियों को क्या सबक नहीं लेनी चाहिए?''

सिद्धेश्वर जी के इन संपादकीयों पर जब हम गहराई से नजर डालते हैं तो पाते हैं कि इनमें विवेकशीलता है और इसी विवेक के लिए वे सान्निध्य अथवा सत्संग पर ज्यादा जोर देते हैं। विवेक के बारे में तुलसीदास जी भी कहते हैं, ''बिनु सत्संग विवेक न होई। राम कृपा बिनु सुलभ न कोई।'' यानी सत्संग के बिना विवेक नहीं आता और सत्संग राम की कृपा के बिना तो मिलता नहीं। सिद्धेश्वर जी इसी 'सत्संग' शब्द की जगह 'सान्निध्य' शब्द का इस्तेमाल करते हैं और 'राम' के स्थान पर विवेकशील, स्वस्थचित्त तथा अच्छे विचारवालों के साथ सान्निध्य को प्रश्रय देते हैं। इनकी दृष्टि में सत्संग अथवा सान्निध्य धार्मिक दृष्टि से ही नहीं, बल्कि राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक और व्यावहारिक क्षेत्र में भी विवेक लाता है। स्वतंत्रता-संग्राम के दिनों में गाँधी, नेहरू, पटेल, आजाद, तिलक, सुभाष, गोखले आदि महापुरुषों के सान्निध्य के चलते ही उस समय राजनीति में विवेकशील लोग आए और उन्होंने त्याग और जन सेवा को ही अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया। इस पुस्तक के लेखक में अच्छे और बुरे की पहचान है और यह पहचान वे किसी व्यक्ति के भीतर छिपी विवेकशीलता से करते हैं। भारतीय दर्शन ने भी दूध और पानी को अलग करने की हंस की विशेषता को ही 'विवेकिनी बुद्धि' कहा है। यूँ तो हंस और बगुले की शक्ल देखने में एक जैसी ही होती है, लेकिन नीर-क्षीर अलग कर सकने की हंस की विशेषता उसे बगुले से कहीं ज्यादा महान बना देती है, हंस इसलिए हंस है, क्योंकि वह मोती चुगता है, जबकि बगुला गंदे तालाबों से भी मछलियाँ पकड़कर खा लेता है। हंस और बगुले की तरह ही सारे मनुष्य ऊपर से तो समान नजर आते हैं, लेकिन उनके भीतर छिपी विवेकशीलता ही उन्हें छोटा या बड़ा बनाती है। सिद्धेश्वर जी व्यक्ति को परखने का पैमाना विवेकशीलता को मानते हैं। यही कारण है कि बुरे अथवा पथ-भ्रष्ट लोग इनके यहाँ नहीं फटकते हैं।

चाणक्य ने विवेकशीलता की मात्रा के आधार पर ही इंसान की तीन श्रेणियाँ बताई हैं। उनके अनुसार, 'अधर्माधनमिच्छन्ति, धन मानं च मध्यमा। उत्तमा मानमच्छिन्ति, मानं ही संता धनम्, अर्थात् अधर्म और विवेकहीन लोग धन की इच्छा करते हैं, मध्यम कोटि के लोग केवल मान की इच्छा करते हैं। इस आधार पर सिद्धेश्वर जी को हम तीसरी कोटि में इसलिए मानते हैं कि वे केवल

मान की इच्छा रखते हैं। धन की लालसा तो इनमें है ही नहीं। जो धन इनके पास है उसी में इन्हें संतोष है। विवेक के चलते ही पैसे और लालच की अँधी दौड़ में वे शामिल नहीं हैं। जो कुछ भी वे कर रहे हैं उसके पीछे उनकी मान-प्रतिष्ठा छिपी है, विवेक छिपा है जिसके बल पर वे गलत काम के लिए कभी भी समझौता करने के लिए तैयार नहीं होते। यही विशेषता उन्हें औरों से अलग करती है और वे अपने मित्रों, सहकर्मियों तथा शुभेच्छुओं के बीच सर्वप्रिय हैं। ऐसे विवेकशील इंसान का सान्निध्य पाकर हम सभी उनके मित्र गर्व का अनुभव करते हैं।

लेखन-कार्य को प्रस्तुत पुस्तक के लेखक ने अपनी आदत बना डाली है। मुझे याद आती है बेंजामिन फ्रेंकलिन की वह पंक्ति जिसमें उन्होंने कहा था - ''यदि तुम चाहो कि मरने के बाद भुला दिए नहीं जाओ, तो दो में से एक काम करो - कुछ ऐसा करो कि लोग उसे लिखें या ऐसा लिखो कि लोग उन्हें पढ़ें।'' मुझे ऐसा लगता है कि सिद्धेश्वर जी फ्रेंकलिन के कथन की दोनों बातों पर अमल कर रहे हैं। संगठन, पत्रकारिता तथा हिंदी साहित्य की सेवा में निरंतर कार्यरत रहकर वे ऐसा काम कर रहे हैं कि लोग उसे लिखेंगे और ऐसा लिख रहे हैं कि लोग उन्हें पढ़ेंगे। वर्ष 2006 में हिंदी साहित्य के सुपरिचित साहित्यकार प्रो. राम बुझावन सिंह ने इनके जीवन पर आधारित जो पुस्तक 'सिद्धेश्वर : व्यक्तित्व और विचार' लिखी है और सिद्धेश्वर जी द्वारा प्रणीत दिल्ली के सरदार पटेल साहित्य प्रकाशन ने अब तक जो लगभग एक दर्जन पुस्तकें सद्यः प्रकाशित की हैं, प्रेमचंद की दोनों बातों की संपुष्टि करती हैं। 'समकालीन संपादकीय' भी उसी की अगली कड़ी है जिसे पाठक बड़े मनोयोग से पढ़ना चाहेंगे, क्योंकि सामान्य जीवन-शैली में व्याप्त मिथकीय प्रसंगों को इन्होंने अपने संपादकीयों का विषय बनाया है जिसके कारणों पर प्रकाश डालते हुए ये स्वयं कहते हैं, ''न तो मुझे साहित्य या पत्रकारिता में रातों-रात चर्चित होने की लालसा है और ना ही कोई तमगा झटकने की होड़। इसलिए मेरी कलम यथार्थ को लेकर चलती है और सदैव संयत तथा मार्मिक लेखन के लिए प्रयासरत रहती है। इसी वजह से इन संपादकीयों में अश्लीलता के परवान कभी न चढ़ पाए। भारतीय मिट्टी से जुड़े होने के कारण इन संपादकीयों से उसकी सोंधी गँध निकलती है।'' संपादक के निजी अनुभव, आत्म विश्वास व दृढ़ता भरे लक्ष्य को हासिल करने के लिए इनके द्वारा किए जा रहे प्रयासों, संकल्पों व सिद्धांतों से भरे विचार भी कम प्रेरणादायक नहीं हैं। निःसंदेह इनके विशिष्ट कर्म को विलक्षण प्रतिभा से निर्वाह करके आमजन अपने जीवन को सफलता से सार्थक बना सकते हैं, कारण

कि आज की आपाधापी भरी रोजमर्रा की जिंदगी में उन्हें अनेक दबावों का सामना करना पड़ रहा है। इस दृष्टि से देखा जाए तो 'समकालीन संपादकीय' सिद्धेश्वर जी के सामाजिक एवं साहित्यिक योगदान को रेखांकित तो करती ही है, साथ ही वर्तमान तथा आने वाली पीढ़ियों का सम्यक् मार्गदर्शन भी। विश्वास है समग्र साहित्य एवं पत्रकारिता जगत् में इसका समादर होगा। समाज और राष्ट्र से संपृक्त पत्रकारिता और रचनाकर्म के प्रति निष्ठावान और समर्पित सिद्धेश्वर जी को ऐसी सुंदर और आकर्षक साज-सज्जा से युक्त कृति के लिए हमारी हार्दिक बधाई और स्वस्थ-प्रसन्न रहने के लिए मंगलकामना।

एस-107, स्कूल ब्लॉक,
शकरपुर, दिल्ली-110092
दूरभाष : 001-22485864

उदय कुमार 'राज़'
सहायक संपादक, 'विचार दृष्टि'

संपूर्णता के ताने-बाने को प्रतिबिंबित करते संपादकीय

पत्रकारिता अपने समय का इतिहास होती है। मगर कभी-कभी युग विशेष की आवश्यकता के अनुरूप यह इतिहास अपने आप में कालजयी दस्तावेज होता है। उस समय इसके मूल में अवस्थित प्रमुख तत्त्व युगबोध होता है, जो समकालीन से परे भी उसी उत्साह उमंग के साथ शिद्दत से महसूस किया जाता है। सिद्धेश्वर जी के संपादकीयों का यह संकलन 'समकालीन संपादकीय' ऐसे समय में सामने आया है जब मीडिया को लेकर एक नई तरह की बहस छिड़ी हुई है। पत्रकारिता की आचार संहिता को लेकर सवाल उठाए जा रहे हैं। इस दृष्टि से यह पुस्तक एक नए आदर्श के रूप में सामने है, जो अपने समय की भयावह, त्रासद स्थितियों की जटिलताओं का बोध कराती है और ऐसे सवालों के समाधान भी प्रस्तुत करती है। समय और समाज के साक्ष्यों से यह इतनी परिपूर्ण है कि सामान्य पुस्तक से यह पुस्तक पत्रकारिता के अध्यवसायियों के लिए ही नहीं, अपितु आने वाली नई पौध के लिए भी उपयोगी और प्रेरणास्पद है। इस रूप में लेखक का यह संकलन सराहनीय है।

लेखक ने अपने संपादकीयों में मानव जीवन की पीड़ा और औदात्य को इस रूप में अभिव्यक्त किया है कि एक तरह से यह पूरे भारतीय समाज विश्लेषण है। भावपरक तीक्ष्ण, प्रतिवादी स्वर में सृजित ये संपादकीय पाठक को गहरे तक आंदोलित करते हैं। स्थूल एवं सपाट अभिव्यक्ति से बचकर गहन भावमयता से लिखे गये मानवीय पीड़ाबोध के ये संपादकीय व्यक्ति के भीतर करुणा सृजित करते हैं, यही संकलन की सफलता है।

आज जिस प्रकार समाज और साहित्य के बीच बढ़ती खाई गंभीर चिंता का विषय है उसी प्रकार पत्रकारिता और पाठक के बीच भी खाई बढ़ती जा रही है, कारण कि पाठकों के समक्ष मसालेदार एवं चटपटी चीजें परोसने से पठनीय सामग्रियाँ घटती जा रही हैं जो चिंता का विषय है। ऐसी स्थिति में प्रस्तुत पुस्तक के लेखक ने अपना दायित्व समझते हुए पत्रकारिता की अच्छाई-बुराई को परख कर इन संपादकीयों के जरिए समाज को सही दिशा सुनिश्चित करने की कोशिश की है। दरअसल लेखक ने जो भी काम इस दिशा में किए हैं वे पूर्णत: समर्पण और पूज्य भाव से, क्योंकि इनकी मान्यता है कि ''काम ही पूजा है।'' 'समकालीन संपादकीय' के सभी संपादकीय वास्तव में संपूर्णता के उसी ताने-बाने को प्रतिबिंबित करते हैं जिसके पीछे छिपी है देश की परंपरा, कार्यशैली, सामाजिक प्रतिबद्धता और पराकाष्ठा को छूती राष्ट्रीयता की भावना। लेखक ने संपादन तथा लेखन की एक अलग राष्ट्रीय ओज से सनी शैली का

एक अनुपम उदाहरण प्रस्तुत किया है। सच तो यह है कि ये संपादन तथा संपादकीय अग्रलेख इतने बेहतरीन तरीके से प्रस्तुत हैं कि यह काम इन्हें एक बड़े दायित्वबोध का अहसास कराता है। छोटी-सी-छोटी बारीकियों पर भी वह जरूरत से ज्यादा समय व्यय करते हैं। वह इस बात की परवाह नहीं करते कि उनके बारे में क्या कहा जाता है। सारी आलोचनाओं को अंगीकार कर वह अपने में सुधार का प्रयास करते हैं। इन संपादकीयों पर यदि किसी पाठक की इनके विरुद्ध प्रतिक्रिया भी आती है तो वह उसे अगले अंक के 'पाठकीय पन्ना' स्तंभ में प्रकाशित कर उसका स्वागत करते हैं। इनके संपादकीयों की एक और विशेषता यह है कि प्राय: इनके सभी संपादकीयों पर पाठकों की प्रतिक्रियाएँ अवश्य आती हैं। मुक्त कंठ से सराहना के शब्द होते हैं जिनसे इन्हें प्रोत्साहन मिलता है। कारण कि आज के दौर में जब पुरानी जीवन शैली समाप्त हो रही है और नए में हमारा दम घुटता है, तो ऐसे में सिद्धेश्वर जी ने अपने संपादकीयों के जरिए हमारी स्मृतियों में बसी कुछ अच्छी चीजों को प्रस्तुत किया है। इन्होंने अपने संपादकीयों के माध्यम से परंपराओं को आधुनिकता से जोड़ने का प्रयास किया है। यही नहीं, लेखक ने रचनाकर्म, पत्रकारिता के सामने भूमंडलीकरण और बाजारवाद के बढ़ते खतरे के दौर में यह आशा व्यक्त की है कि साहित्य व पत्रकारिता मानवता के पक्ष में निर्णायक भूमिका निभाने में सक्षम हैं। इनके संपादकीयों में परंपरा का बोध और आधुनिकता की चेतना का अनोखा और अनूठा संबल है। इनका हर संपादकीय चुनौती भरा हुआ रहता है।

पत्रकारिता की क्षण-भंगुर दुनिया में सिद्धेश्वर जी लगातार ऐसा लेखन कर रहे हैं, जो दीर्घकालीन मूल्य रखता है और वे कभी भी अप्रासंगिक नहीं दिखें, बल्कि यह कहना ज्यादा सही है कि बौद्धिकों और पत्रकारों की एक पूरी पीढ़ी को आधुनिक विचार और जीवन दृष्टि सिखाने में इनका महत्त्वपूर्ण योगदान है। इस प्रकार पत्रकारिता की सीमाओं को विस्तृत करने का एक बड़ा काम वे कर रहे हैं। इनके संपादकीय में समाज व देश के ज्वलंत मुद्दों पर विचारोत्तेजक और रोचक छानबीन की एक झलक मिलती है।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रस्तुत पुस्तक के लेखक सिद्धेश्वर जी पिछले दो-तीन दशक से हिंदी पत्रकारिता में विचारों की खेती कर रहे हैं और विचारों की दुनिया में ही रहकर अपने समय के गंभीर सवालों से निरंतर मुठभेड़ करते दिखाई दे रहे हैं, जिसे पढ़कर निष्कलुष बौद्धिक आनंद मिलता है। दरअसल जब समाज अपने को किसी चौराहे पर खड़ा पाता है, तो उन विचारों की खेती की महत्ता और बढ़ जाती है। इस दृष्टिकोण से इस संकलन के संपादकीय बहुत ही उर्वर साबित हो सकते हैं, क्योंकि ये हजारों घरों को दस्तक दे रहे हैं। आज भारतीय समाज में जिस पैमाने पर और जिस स्तर की उथल-पुथल हो रही है, उसमें इन संपादकीयों के जरिए विचार-मंथन अथवा

विचार-वितर्क किया जा सकता है ताकि उस मंथन से मक्खन के रूप में विवेक प्राप्त हो सके। दौड़ना अच्छा है, लेकिन यह तय करने के बाद कि किस दिशा में दौड़ना है, ये संपादकीय दीपक का काम करेंगे, क्योंकि संपादकीयों द्वारा प्रज्ज्वलित दीपक के आलोक में मानव अधिकार और मानव गरिमा की झलक दिखेंगी।

यों तो साहित्य ही ऐसी विधा रही है जिसमें मनुष्य प्रारंभ से ही सुख और मार्गदर्शन खोजता आया है, किंतु आज स्थिति कुछ उलट-सी गई है। साहित्य में सच का साया जहाँ नजर आता है, वहीं राजनीति के दाव-पेंच शुरू हो जाते हैं, साहित्य और उसकी पत्रकारिता विधा पर राजनीति आज ग्रहण जैसी बनी है, जो उसकी छवि को स्पष्ट नहीं होने देती। राजनीति के दूषित होते ही देश के भीतर जहाँ कई तरह के विघटन शुरू होते हैं, वहीं साहित्य की पत्रकारिता विधा भी अपने उद्देश्य से हटकर राजनीति और व्यवसाय का एक अस्त्र बनकर रह जाती है। पत्रकारिता का मकसद साहित्य, संस्कृति, कला आदि का व्यापक रूप से प्रचार-प्रसार कर जन-जन तक पहुँचाना रहा है। आजादी के पूर्व तो देश में प्रकाशित होने वाली पत्र-पत्रिकाएँ लोक साहित्य, चरित्र-निर्माण, देश, प्रेम और धर्म आध्यात्मिक विषयों के साथ मनोरंजन और साहित्यिक कलात्मक आग्रह ही तब पत्रकारिता का उद्देश्य रहा है। यहाँ तक कि आजादी बाद भी लगभग दशकों तक राजनीति की अपेक्षा साहित्य, समाज, संस्कृति, धर्म, दर्शन आदि की पत्र-पत्रिकाओं में प्रमुखता रही है, ऐसी सभी पत्र-पत्रिकाओं का संपादन भी जाने-माने साहित्यकार, समाज-सेवी, विचारक और निष्ठावान चिंतक ही करते रहे हैं। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सभी स्तरों पर घटने वाली घटना-दुर्घटनाओं पर वे निर्भय, निष्पक्ष, अपनी प्रतिक्रिया, सहयोग और सुझाव भी पेश करते रहे। मगर आज वैसी बातें पत्रकारिता में नहीं देखने को मिल रही हैं। आज तो जनमानस को विकृत करने वाले हत्या, बलात्कार, अपहरण, घोटाले जैसे समाचारों की रोचक कहानी के रूप में विस्तार से छापने की धृष्टता वे करते हैं जिसे आज के बुद्धिजीवी पत्रकार, संपादक भी धड़ल्ले से कर डालते हैं।

पत्रकारिता के ऐसे अवमूल्यन के वक्त भी सिद्धेश्वर जी जैसे कुछ संपादक सत्य को उद्घाटित करते हैं, यथार्थ को खोज लेते हैं और किसी निर्णय तक पहुँचना संभव हो पाता है। कम-से-कम इनके संपादकीयों के इस संकलन को पढ़ने से तो यही लगता है कि इनकी लेखनी सत्यं, शिवं, सुंदरम् की सृष्टि करती रही है। पत्रकारिता के आदर्शों और परंपराओं को जीवंत रखने वाले संपादक श्री सिद्धेश्वर द्वारा संपादित 'विचार दृष्टि' पत्रिका अभी शेष है जिसमें पत्रकारिता की परंपरा का लोप नहीं हुआ है और पत्रिका की यह पारंपरिक-यात्रा स्वयं में एक अजूबा है, जो संपादक और पत्रकार की छवि को धूमिल नहीं होने देती,

बल्कि सच तो यह है कि सच्चाई और निष्ठा के साथ प्रवृत्त रहने की प्रेरणा देती है। संपादक सिद्धेश्वर एक सुपरिचित लेखक, चिंतक और विचारक हैं। देश भर के ख्याति-लब्ध संपादकों, लेखकों, कवि-कलाकारों तथा चिंतक-विचारकों से इनके संपर्क हैं जिसके परिणामस्वरूप इनकी पत्रिका में हृदयस्पर्शी कविता, कहानियाँ, लेख आदि पढ़ने को मिल जाते हैं और जिन्हें पढ़कर पाठक आत्मविभोर हो जाते हैं। संपादक सिद्धेश्वर जी के व्यक्तित्व की विशेषता यह है कि वे तपाक से हर व्यक्ति से मिल लेते हैं और बातों-बातों में उसे अपना बना लेते हैं। यही कारण है कि हिंदी के दिग्गज लेखक भी पत्रिका से जुड़ जाते हैं और पत्रिका की छवि को अपने लेख आदि से निखारते हैं। सच तो यह है कि पत्रकार जब ईमानदार के साथ परिश्रमी भी होता है, तो उसके पत्र को दिशा नहीं खोजनी पड़ती। सिद्धेश्वर जी के संपादन में प्रकाशित पत्रिका 'विचार दृष्टि' के साथ यही बात लागू है। इनके अग्रलेखों की ये पंक्तियाँ मुझे याद हो आती हैं जिन्हें 'बिस्मिल आजीमावादी' ने लिखा -

वक्त आने दे बता देंगे तुझे ऐ आसमां
हम अभी से क्या बताएँ क्या हमारे दिल में है-

इस पुस्तक के संपादकीय अग्रलेखों की रससिद्धि प्रतिभा के संयोग से पूर्णत: खिले कमल की भांति खरे उतरते हैं। भाषा बड़ी प्रांजल है। सरल एवं मर्मस्पर्शिनी शैली का निर्वाह करना ये खूब जानते हैं। इन्होंने जिस विषय पर संपादकीय लिखे हैं, उन्हें ऐसी सुंदर पद्धति से प्रस्तुत की है कि उस विषय को हृदयंगम करना सुलभ तथा सुगम हो जाता है। इससे यह पता चलता है कि ये लिखते समय बहुत ही आत्मसंयम से काम लेते हैं।

'समकालीन संपादकीय' में संकलित संपादकीयों को पढ़ने से ऐसा लगता है कि इसके विद्वान लेखक, संपादक, विचारक सिद्धेश्वर ने अपनी प्रतिभा के बल-बूते 'विचार-दृष्टि' की जो गरिमा बढ़ाई है और 1999 में कल्पित भावी स्वरूप को साकार करके इसे दसवें वर्ष तक पहुँचाया है, उसके लिए इसके संपादक तो प्रशंसा के पात्र हैं ही, संपादक परिवार और उससे जुड़े सभी कर्मचारी-अधिकारी भी बधाई के हकदार हैं। अपने संपादकीयों का ऐसा सुंदर और आकर्षक संकलन प्रकाशित कर सिद्धेश्वर जी ने बहुत अच्छा काम किया है जिसे देख-पढ़ कर आँखों को तृप्ति तो मिलती ही है मन को भी शांति और संतोष मिलता है। लेखक को हार्दिक बधाई तथा दीर्घायु होने की मंगलकामना। विश्वास है पत्रकारिता जगत में इस संकलन का भरपूर स्वागत होगा।

प्रवास
न्यूयार्क, अमेरिका
14-07-2007

बालशौरि रेड्डी
अध्यक्ष, तमिलनाडु हिंदी अकादमी
27, वडिवेलिपुरम, वेस्ट माम्बलम, चेन्नई-600033

समकालीन संपादकीय-लेखन में बौद्धिक परिचय

समकालीन संपादकीय लेखन में प्रस्तुत पुस्तक 'समकालीन संपादकीय' के लेखक सिद्धेश्वर ने अपनी बौद्धिक क्षमता का परिचय दिया है। मात्र दो-ढाई दशक के अपने पत्रकारिता-जीवन में इन्होंने अपने संपादकीय अग्रलेख के माध्यम से पत्रकारिता को एक दिशा दी है। आज के दौर में जिस प्रकार पत्रकारिता से जुड़े लोग दिग्भ्रमित हो रहे हैं, उससे पत्रकारिता-जगत के सामने अजीब तरह की रचनात्मक समस्या खड़ी हो रही है। ऐसे समय में सिद्धेश्वर जी अपनी बौद्धिक अनुभूतियों से गुजरते हुए इन्होंने अपने संपादकीय की एक अलग राह तलाशी। यही अपने समय के किसी सुलझे संपादक की सबसे बड़ी विशेषता होती है। इनका संपादकीय लेखन न केवल कथ्य के स्तर पर, बल्कि शिल्प और भाषा के स्तर पर भी सभी परंपरागत ढाँचे को तोड़कर एक नए रूप में दिखता है, क्योंकि विचारधारा के साथ-साथ ये मानवीयता के पक्ष पर भी जोर देते हैं।

सिद्धेश्वर अपनी 'विचार दृष्टि' पत्रिका में समाज, राष्ट्र के साथ-साथ आम आदमी और नारी विमर्श का मुद्दा जिस प्रकार उठाते रहे हैं उस पर देश के सभी क्षेत्रों में तरह-तरह की चर्चा हो रही है और पत्रिका के विविध आयामों एवं पहलुओं की प्रशंसा प्रबुद्धजनों के बीच की जा रही है। इससे इनकी बौद्धिक क्षमता का अंदाजा लगाया जा सकता है। मात्र दो दशक के दौरान ही इन्होंने पत्रकारिता की गुणवत्ता को बौद्धिकता के स्तर पर उन्नीस नहीं होने दिया। इनके अब तक के संपूर्ण संपादकीयों का संकलन दिल्ली के सरदार पटेल साहित्य प्रकाशन ने 'समकालीन संपादकीय' में संकलित किया है जिसकी भूमिका में कहा गया है कि सत्ता के करीब रहते हुए भी सत्ता की सेवा का आनंद न उठाकर अपनी पत्रिका 'विचार दृष्टि' के जरिए सामाजिक एवं राष्ट्रीय चिंतन को इन्होंने महत्त्व दिया है और व्यक्ति व समाज के तमाम-प्रश्नों के उत्तर देने की कोशिश की है, ताकि इंसान समाज के उन सभी रहस्यों को समझ सके जिसको या तो वह खोता जा रहा है या फिर उसके बारे में बहुत कम जानता है।

इसी प्रकार सिद्धेश्वर जी से जुड़े इनके अंतरंग मित्रों व संपादकों ने इनके संपादकीय लेखन के कई पहलुओं को अपने अभिमत, शुभाशंसा तथा भूमिका में उजागर किया है। दरअसल इनके सपांदकीय अग्रलेख संस्मरणात्मक निबंध व अन्य रचनाओं को पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि इन्होंने साहित्य व संपादकीय

लेखन को ही अपनी रचनात्मकता का माध्यम बनाया है। इनके संपादकीयों के मुख्य स्वर व्यवस्था विरोध, भारतीय परंपरा के अंतर्विरोध, आम आदमी के दु:ख-दर्द, पीड़ा, वेदना, समाज व राष्ट्र के ज्वलंत मुद्दे तथा स्त्री पुरुष संबंधों के विविध रूप हैं। इन सबके साथ सबसे बड़ी इनकी चिंता समाज के हाशिए पर खड़े शोषित, पीड़ित जनता की मानसिकता को लेकर है जिसमें वह अमानवीय स्थितियों में जीने को विवश है, लेकिन चुप्पी साधे है। जनता में व्यवस्था विरोध तो दूर सारी चीजों के प्रति मात्र तमाशबीन बनी हुई है। आम आदमी की लाचारगी से क्षुब्ध होने की परिणति उन्हें आत्महंता प्रवृत्ति की ओर ले जा रही है। व्यवस्था विरोध के साथ परंपराओं में जकड़े समाज पर इनका तीखा व्यंग्य इनके संपादकीयों में देखने को मिलता है। दरअसल इनके संपादकीयों में सामाजिक यथार्थ का भयावह व वीभत्स चेहरा दिखाई देता है।

संपादक सिद्धेश्वर की यह पुस्तक नई तरह के सामाजिक, राजनीतिक, बौद्धिक और वैयक्तिक सवालों को बड़े निर्वैयक्तिक ढंग से प्रस्तुत करती है। इसके प्राय: प्रत्येक खण्ड में लेखक की सृजनात्मकता और इनके जीवन दर्शन व्याख्यायित हैं और लेखन होने से सरोकारों को नए रंग में यह पुस्तक पुनर्भाषित करती है। पाठक इनके विचार और रचना प्रक्रिया से गुजरता चला जाता है। लेखक को इतनी अच्छी कृति के लिए मेरी हार्दिक बधाई और स्वस्थ-प्रसन्न रहने की कामना है।

लेखक को साधुवाद।

अध्यक्ष, केरल हिंदी अकादमी
'श्रीनिकेतन', लक्ष्मीनगर
पट्टम पालस पोस्ट
तिरुवनंतपुरम-695004 (केरल)

डॉ. एन. चंद्रशेखरन नायर
संपादक, केरल हिंदी अकादमी
शोध पत्रिका
तिरुवनंतपुरम (केरल)

मानवीय संघर्षों के प्रति अटूट विश्वास से भरे संपादकीय

यशस्वी पत्रकार और चिंतक सिद्धेश्वर की यह किताब मूलतः लगभग दो दशक पूर्व से अब तक की अपनी 'विचार दृष्टि' पत्रिका सहित कई अन्य पत्रिकाओं तथा विभिन्न अवसरों पर प्रकाशित पुस्तकों एवं स्मारिकाओं में छपे इनके संपादकीयों का संकलन है। इसके पूर्व भी विभिन्न विधाओं की इनकी एक दर्जन पुस्तकें आ चुकी हैं जिनमें जापानी हाइकु विधा की 'पतझड़ की सांझ' तथा सेनेर्‌यू की 'सुर नहीं सुरीले' तथा 'जागरण के स्वर' विशेष रूप से सराही गईं। इनकी विषय व्यापकता और तथ्य प्रवाह समय-समय पर हिंदी साहित्य व पत्रकारिता जगत को विद्वान लेखक का सराहनीय परिचय देते रहे हैं।

प्रस्तुत पुस्तक 'समकालीन संपादकीय' के अवलोकन से यह स्पष्ट होता है कि इसके लेखक व संपादक अपने सार्थक लेखन के मामले में जन पक्षधर हैं। पटना तथा दिल्ली जैसे शहर में रहने के बावजूद गाँव और गाँव के लोगों तथा उनकी समस्याओं से सहज तादात्मय इन्होंने बना रखा है। बिहार के नालंदा जिलांतर्गत बसनियावाँ जैसे निठाह देहाती गाँव में जन्मे सिद्धेश्वर जी की कलम वहाँ की दीन-हीन ग्रामीणों का शोषण करने वालों पर काफी चली है। इनके संपादकीय-अग्रलेख का मुख्य स्वर मानवीय संघर्षों के प्रति अटूट विश्वास का मुख्य-स्वर है। पत्रकारिता के क्रम में इन्होंने न केवल एक निडर व निष्पक्ष संपादक के रूप में अपना परिचय दिया है, बल्कि ये एक शुद्ध, विश्वस्त एवं प्रतिबद्ध लेखक के रूप में भी अपने विचार व्यक्त किए हैं।

इन संपादकीयों के माध्यम से सिद्धेश्वर जी निरंतर सकारात्मक बदलाव में लगे हैं और जनतांत्रिक अधिकार में वृहत्तर सहभागिता के उत्प्रेरक भी हो चले हैं। इस मुकाम के पीछे इनके वह संकल्प ही हैं, जो इन्हें सक्रिय और अनवरत रूप से आगे बढ़ने की प्रेरणा देते हैं। इनकी 'विचार दृष्टि' पत्रिका पाठकों की पहचान बनकर अब तो यथास्थिति में हस्तक्षेप की भी पहचान बन चुकी है और इसके संपादकीय बहुभाषियों के इस देश में अंतरित आस्था होकर राष्ट्रीय चेतना की वैचारिक सामग्रियाँ। आखिर तभी तो यह पत्रिका दक्षिण के चारों राज्यों में पढ़ी और मुक्त कंठ से सराही जाती है।

देश व समाज के लिए सतत सक्रियता ही इनकी साधना और अराधना

है। सफलता की सीमाएँ नहीं होतीं, हमें तो बढ़ते जाना है – यही इनके संपादकीयों के लिए भी एक जुनून का रूप ले चुका है। कहना नहीं होगा कि पत्रकारिता के नए आयामों के ये झंडाबरदार हैं जिनमें कुछ कर गुजरने का जज़्बा है। तभी तो सामाजिक सरोकारों को ये विशेष तरजीह देते हैं और सजग प्रहरी बन समाज की अंतिम पायदान पर बैठे व्यक्ति की आकांक्षाओं व उसकी पूर्ति का संवाहक बने हैं। इन्होंने परंपरागत पत्रकारीय धारणा को किनारा कर 'आदमी कुत्ते को काटे' को न्यूज बनाया है। इनके संपादकीय सामाजिक सरोकारों को प्रतिबिंबित करने के साथ-साथ व्यक्ति व समाज के अंतस् को झंकझोर उसकी संवेदना को स्पंदित करते हैं। यही नहीं, पाठकों से जीवंत संवाद स्थापित करने में भी इनके संपादकीयों ने कामयाबी हासिल की ह।

प्रस्तुत पुस्तक में संकलित संपादकीयों में साहित्य, समाज, संस्कृति तथा राजनीति आदि से जुड़े सवालों पर इनकी धारदार कलम चली है, जो विचारोत्तेजक तो हैं ही, प्रभावोत्पादक भी। इसी तरह राष्ट्रीय चेतना पर आधारित विषयों पर अपने विचार व्यक्त कर लोगों में राष्ट्रीयता की भावना भरने का इन्होंने सतत प्रयास किया है। राजनीतिक विचारधारा के बारे में ये स्वीकार करते हैं कि समाजवादी जनतंत्र में इनकी आस्था है। इनके संपादकीयों से गुजरने के बाद आगामी काल में पत्रकारिता के प्रति जो स्थिति होगी, उसका पता चलता है। ये मानते हैं कि आगामी काल के हिंदी पत्रकार को सबसे पहले अपने सामान्य पाठकों के प्रति प्रतिबद्ध होना पड़ेगा, क्योंकि उनकी अभिरुचि चौंकाने वाले अथवा राजनेताओं व सत्तासीनों से अधिक मानवीय संवेदनावाले समाचारों में होगी। वे ही पत्रकार टिकाऊ होंगे, जो दिन-ब-दिन के राजनीतिक उठापटक से परे मानवीय संबंधों की बात करेंगे; उन्हीं के लिए कलम उठाएँगे, क्योंकि आगामी काल की चुनौतियाँ केवल राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक ही नहीं होंगी, बल्कि नैतिक व चारित्रिक भी होंगी। इस प्रकार देखा जाए तो देश की सर्वांगीण प्रगति के साथ-साथ हिंदी पत्रकारिता आगामी काल में अनंत संभावनाओं से भरी है।

सिद्धेश्वर जी का संपादकीय-लेखन समकालीन हिंदी पत्रकारिता के परिदृश्य में इसलिए काफी वजनदार साबित होता है कि यह देश-काल के सार तत्त्व के कारण प्राय: अलग से पहचाना जा रहा है और इनमें सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक देशज ध्वनियाँ सुनी और महसूस की जा सकती हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि लोक जीवन तक पहुँचने में

इनकी लेखनी कामयाब है। ये संपादकीय समकालीन हिंदी पत्रकारिता में लुप्तप्राय हो चले संपादकीय-लेखन की प्रभावशाली प्रस्तुति हैं, क्योंकि इसमें संपादक के रूप में इनकी आसक्ति पाठकों के प्रति दिखाई देती है।

अपने संपादकीय के जरिए विभिन्न मुद्दों पर विचार व्यक्त करने के क्रम में सिद्धेश्वर ने अपने विचारों का एक बड़ा हिस्सा, धर्मांध लोगों और धर्म के नाम पर राजनीतिक करने वालों को रेखांकित किया है। ये हिंदू-मुस्लिम कट्टरपंथियों में कोई अंतर नहीं देखते। दोनों का चेहरा एक है और दोनों ही धर्मों की धर्मांधता और सांप्रदायिकता को खतरनाक मानते हैं। इनकी चिंता यह है कि आज व्यक्तित्व व समाज धर्म, जाति और रूढ़ियों एवं अँधविश्वास की दुहाई देता हुआ, पहले से कहीं ज्यादा संवेदनशून्य और उसकी समस्याएँ ज्यादा घनीभूत हो गई हैं।

इनके संपादकीय को पढ़ने से ऐसा लगता है कि सिद्धेश्वर जी लकीर के फकीर नहीं हैं, बल्कि ये हमेशा एक नई लकीर स्वयं बनाते हैं। ये लकोर पीटते नहीं। इनके संपादकीय में एक पत्रकार व रचनाकार की सच्ची जिद के दर्शन होते हैं। इनमें विद्रोहीपन तो नजर आता ही है, कई जगह आक्रमणकारी पुट भी है। इनकी लेखनी आज भी राजनीतिक-साहित्यिक तथा समाज के बदलते परिदृश्य पर सीधा कटाक्ष भी है।

सिद्धेश्वर जी के इन संपादकीयों में समाज, व्यवस्था व प्रतिष्ठा के स्तर पर पसरता हुआ अनैतिकता का भस्मासुर, चारों ओर फैलती कर्त्तव्यहीनता, नीति-नियमों की अराजकता, नारी की करुण दशा आदि के प्रति एक सहज आक्रोश है। भाषा की सहजता ने इन संपादकीयों को और भी सशक्त बना दिया है। सिद्धेश्वर जी अपने संपादकीयों एवं संस्मरणों की संवेदनात्मकता और सरसता के लिए लोकप्रिय हैं। 'विचार दृष्टि' के पाठकों, लेखकों तथा आलोचकों द्वारा इनके संपादकीयों का भरपूर रसास्वादन किया जा रहा है। इसमें कतई संदेह नहीं कि सिद्धेश्वर जी के संपादकीय अग्रलेख ज्ञानवर्द्धक, शिक्षाप्रद और कथ्य-शिल्प की दृष्टि से सशक्त हैं। इनके संपादकीयों में चिंतन की सूक्ष्मता, कल्पना का लालित्य और भाषा-शिल्प का सौष्ठव स्तुत्य है। इसके अतिरिक्त विचारों की सहज और स्वाभाविक अभिव्यक्ति भी सिद्धेश्वर जी के संपादकीयों का मूलाधार है।

आज जब हिंदी में किसी पत्रिका के लिए अपनी पहचान बनाना मुश्किल हो रहा है, सिद्धेश्वर जी की पत्रिका 'विचार दृष्टि' अपनी एक अलग दृष्टि और

विचार लेकर प्रस्तुत है। कथ्य की नवीनता की वजह से यह अत्यंत पठनीय है। रूढ़ि से हटकर इसमें युवा संभावनाओं की पड़ताल की कोशिश की गई है और साथ ही यह बहुस्तरीय यथार्थ को बेलाग बयां करती हैं।

कुल मिलाकर देखा जाए, तो सिद्धेश्वर जी के लिए पत्रकारिता सर्वाधिक सुखद एवं सर्जनात्मक अनुभव है, इन्होंने अपनी क्षमता और सामाजिक तरलता से पत्रकारिता को अभिनव आयाम दिया है। संपादकीय और इनकी अन्य रचनाएँ जो 'विचार दृष्टि' में प्रकाशित होती रहती हैं, उसे देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि संपादन कला के मर्मज्ञ तो ये हैं हीं, एक अच्छे लेखक एवं साहित्यकार के गुण भी इनमें विद्यमान हैं। बतौर संपादक ये देश भर के रचनाकारों, चाहे वे बड़े हों या उदीयमान, बड़ी निष्पक्षता के साथ उन्हें महत्त्व दे रहे हैं। अँधकारनाशक और निर्भीक विचार क्रांति रूपी जिस दीये को इन्होंने प्रज्ज्वलित किया है, हमारे जैसे पत्रकारिता से जुड़े लोगों का यह दायित्व बनता है कि हम उसे प्रज्ज्वलित रखने में इनके कंधे से कंधा मिलाकर इन्हें सहयोग प्रदान करें। पत्रकारिता जगत इस पुस्तक का हृदय से स्वागत करेगा, ऐसा मेरा विश्वास है। मेरी शुभकामनाएँ इनके साथ हैं और हमारी मंगलकामना है कि अक्षरपुरुष सिद्धेश्वर जी दीर्घजीवी होकर सामाजिक, साहित्यिक, पत्रकारिता और राष्ट्रीय मूल्यों के प्रहरी बने रहें और अपनी सक्रियता एवं लेखन से हिंदी सर्जनात्मकता को समृद्ध करते रहें।

किदवईपुरी | **शैलेन्द्र दीक्षित**
पटना – 800 001 | स्थानीय संपादक,
दैनिक जागरण, पटना

तलस्पर्शी एवं पारदर्शी संपादकीयों का हृदयग्राही संकलन

दिल्ली से पिछले दस वर्षों से नियमित रूप से प्रकाशित राष्ट्रीय चेतना की वैचारिक पत्रिका 'विचार दृष्टि' के संपादक हैं इस पुस्तक के लेखक सिद्धेश्वर जी। छप्पन पृष्ठों की यह त्रैमासिको प्रकाशन की नियमितता और स्तरीयता के कारण समस्त हिंदी प्रदेशों के साथ-साथ दक्षिणात्य प्रदेशों के सैकड़ों सुधी पाठकों, विचारकों, साहित्य-प्रेमियों तथा समीक्षकों के गले का यह कंठहार बन चुकी है। सारे भारत के विचारवान लेखकों की रचनाओं को इसमें स्थान देकर संपादक जी ने उत्तर और दक्षिण भारत के बीच वस्तुत: मिलन-सेतु निर्मित करने का श्लाघ्य कार्य किया है।

राजनीतिज्ञों की गर्हित मंशा के कारण दक्षिण भारतीयों ने हिंदी में रचनाएँ देकर न केवल हिंदी के प्रति अपनी कटुता को निर्मल किया है, बल्कि इस 'विचार दृष्टि' पत्रिका को अपनाकर हिंदी के प्रति अपने प्रेम का भी परिचय दिया है। यहाँ यह कहना यथोचित होगा कि इस वरेण्य कार्य का सारा श्रेय जन चेतना के संवाहक, दूर दृष्टि-संपन्न मनीषी संपादक सिद्धेश्वर जी को जाता है, जिन्होंने दक्षिणात्य प्रदेशों की लगातार यात्रा कर हिंदी के प्रति विरोध को न केवल कम करने की दिशा में प्रयत्न किया, बल्कि वहाँ के बुद्धिजीवियों को हिंदी की ओर अग्रसर होने को प्रेरित-प्रोत्साहित किया।

जिस प्रकार प्रागैतिहासिक काल में कभी काशी प्रदेश से महात्मा अगस्तय ने पर्वतराज विंध्य के लोकविरोधी अहम् के शमन हेतु दक्षिणात्य प्रदेशों में बस जाना लोक कल्याण के लिए जरूरी समझा जाता था, ठीक उसी प्रकार दक्षिण के राज्यों में 'विचार दृष्टि' का प्रवेश और दक्षिण भारतीयों द्वारा इस पत्रिका को अपनाया जाना हिंदी हितैषीणी व राष्ट्रीय अखंडता एवं एकता की उद्घोषक, सर्व हितकारिणी युगांतरकारी घटना है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद राजनीतिज्ञों की टूच्ची राजनीति के चलते राष्ट्र की एकता और अखंडता पर मंडराते खतरों से तमाम भारतीयों को सावधान करने का जो कर्म 'विचार दृष्टि' के जरिए पिछले अनेक वर्षों से संपन्न हो रहा है, वह निश्चित रूप से सराहनीय है, कारण कि वोट की भेदमूलक राजनीति के चलते समाज जाति-संप्रदाय में बँटकर बिखरने की जिस स्थिति में आ गया है, उसमें वैचारिक चेतना को उद्‌बुद्ध करने की महती आवश्यकता है जिसे यह पत्रिका बखूबी कर रही है।

विश्रुत पत्रिका के प्रत्येक अंक में साहित्यकार संपादक की सामयिक और सार्थक टिप्पणियों ने पाठकों का दिल जीत लिया है। विगत दस वर्षों से प्रकाशित इसके बहुमूल्य, वैश्विक और वैचारिक संपादकीयों को पुस्तक का रूप देकर सिद्धेश्वर जी ने जन-आकांक्षा से एक बार पुन: समग्रता में रू-ब-रू होने का मौका प्रदान कर उन्होंने अपने सामाजिक और राष्ट्रीय दायित्व का निर्वहन किया है। जनता की याददाश्त क्षीण और कमजोर होती है, पुस्तक के रूप में उनके संपादकीयों को पाकर पाठकों को निश्चय ही अपार खुशी होगी। पुस्तक में संकलित संपादकीयों की सार्थकता आज भी उतनी ही अक्षुण्ण है जितनी की कालजयी रचनाओं के प्रति आकर्षण कभी कम नहीं होता, क्योंकि जिन समस्याओं, जिन सवालों को इस पत्रिका ने कभी उठाया था, वे आज भी कमोवेश यथावत हैं।

हालांकि यह निराधार नहीं है कि आज के दौर में समाचार-माध्यमों पर वर्ग, जाति या संप्रदाय विशेष, दल विशेष का पिछलग्गू बनने का आरोप लगाया जा रहा है, मगर 'विचार दृष्टि' के संपादक सिद्धेश्वर जी पर यह आरोप लगाने की कल्पना भी नहीं की जा सकती, क्योंकि इनकी दो टूक, लोक-सापेक्ष, सत्ता की बखिया उधड़ने वाली सार्थक टिप्पणियों के साथ इनके संपादकीयों को पढ़कर ऐसा महसूस होता है कि सिद्धेश्वर जी सत्ता के पक्षधर नहीं, बल्कि अपनी हानि से बेपरवाह लोक-पक्षधर हैं और इनकी यह लोकपक्षधरता इन्हें संपादक के रूप में एक अलग और विशिष्ट पहचान प्रदान करती है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि बड़े-बड़े नामी-गिरामी पत्रकार व संपादक निहित स्वार्थ की पूर्त्ति हेतु राजसत्ता और प्रबंधन की तरफदारी करने से बाज नहीं आ पा रहे हैं, मगर बिकाऊ और पीत पत्रकारिता के इस कलुषित दौर में सिद्धेश्वर जी की सत्ता के विरूद्ध बेबाक टिप्पणियाँ प्रस्तुत करने और सरकार की कमजोरियों का पर्दाफाश कर इन्होंने अनूठा और विरल उदाहरण प्रस्तुत किया है। हाँ, सच को सच कहने से भी इन्हें कभी कोई परहेज नहीं रहा। राजनीति में रहते हुए भी इन्होंने समाज और राष्ट्र सेवा को अपनी पत्रकारिता का साध्य बनाया। राजनीति को इन्होंने साध्य बनाया होता तो ये भी मंत्री-विधायक कब के हो गए होते। इस संदर्भ में इस पुस्तक के प्राक्कथन में इनके विचार कितने सटीक दिखते हैं - "हमने अपनी वय के अनुरूप वाक् को सिद्ध करने में कोई कोताही नहीं की है और सामान्य जीवन-शैली में व्याप्त मिथकीय प्रसंगों को अपने संपादकीयों का विषय बनाया है, क्योंकि न तो मुझे साहित्य या पत्रकारिता में रातों-रात चर्चित होने की लालसा है और ना ही कोई तगमा झटकने की होड़।"

वैसे भी निर्भीक और स्वच्छ पत्रकारिता ही लोकतंत्र का प्रहरी और प्रजातंत्र का चौथा स्तंभ बनने-कहलाने की अधिकारिणी है। सिद्धेश्वर जी जैसे स्वच्छ छविवाले पत्रकार सचमुच प्रजातंत्र के मेरूदंड हैं। "साँच को आँच नहीं", सच तो यह है कि आज भी सच्चाई को उजागर करने वाले सिद्धेश्वर जी से आँख मिलाने का साहस अच्छे-अच्छे नेताओं को नहीं होता, क्योंकि एक ओर जहाँ य शक्ति के केंद्र राजसत्ता की गलत नीतियों-रीतियों का खुलकर विरोध करते हैं, तो वहीं दूसरी ओर तथाकथित महिमामंडित एवं प्रभुत्व-संपन्न व्यक्ति की गलत करतूतों का भी पर्दाफाश करने से बाज नहीं आते। फिर भी इनके संपादकीय-लेखन की शैली इतनी चित्ताकर्षक और मनमोहक है कि य आज तक 'अजात शत्रु' बने हुए हैं। दरअसल इनका अपना एक स्वतंत्र अस्तित्व है। सादगी, कथनी-करनी की समानता और निरभिमानता जीवन के ये तीनों गुण इनके जीवन के ृंगार हैं। इन्हें अपने पुरुषार्थ पर भरोसा है और ये उसे प्रयोग करना जानते हैं। यही कारण है कि इन्होंने अपने जीवन को अर्थवान बनाया है। इनके लिए जीवन में धन, दौलत, मकान आदि भौतिक सुख-सुविधाओं की कीमत नहीं, बल्कि ये धन, वैभव, सत्ता और अधिकार की भूल-भूलैया में गुमराह न होकर सात्विकता और सच्चरित्रता के पथ पर अग्रसर हैं। ये सदैव मर्यादित जीवन जीने में विश्वास रखते हैं। यही वजह है कि ये अपने जीवन में हमेशा उज्ज्वल आचरण, सात्विक वृत्ति और प्रति क्षण आनंद का अनुभव करते हैं और लक्ष्य की उदात्तता, मानवीय संवेदना और सामाजिकता को ये पूर्ण रूप से अर्थपूर्ण और प्रासंगिक मानते हैं। इनकी समझ है कि आज की भयावह स्थिति भौतिक संकट की वजह से कम, नैतिक और चारित्रिक संकट की वजह से अधिक है।

प्रस्तुत पुस्तक में कुल चौसठ संपादकीय अग्रलेख संकलित हैं जो विभिन्न पत्रिकाओं, जिसके वे संपादक रहे, के आधार पर छह खंडों में विभक्त हैं - खंड एक में पत्रिका परिवार के चित्र, खंड-दो में राष्ट्रीय विचार पत्रिका, खंड-तीन में विचार दृष्टि, खंड - चार में प्रहरी, खंड - पाँच में यादें और मयुरा तथा खंड-छह में स्मारिकाएँ। प्रस्तुति की तलस्पर्शिता, पारदर्शिता के कारण इसके संपादकीय अग्रलेखों की उपादेयता आज भी उतनी ही है जितनी की प्रकाशन काल में थी। संपादक व लेखक सिद्धेश्वर जी द्वारा इन अग्रलेखों में व्यक्त विचार सर्वग्राही हैं। उनकी समन्वयवादी दृष्टि, विचार-विश्लेषण की क्षमता इन्हें सुलझा हुआ विचारक संपादक सिद्ध करती हैं। प्रस्तुत पुस्तक इनके विचारक रूप का स्पृहनीय दस्तावेज है। यह पुस्तक पत्रकार जगत को अनुपम उपहार है। ऐसी

स्वच्छ पत्रकारिता ही जनता को शिक्षित कर, सरकार के गठन का मार्ग प्रशस्त करती है, सरकार की नीतियों, रीतियों व कार्यशैली को प्रभावित करती है। सरकार तटस्थ पत्र-पत्रिका के दर्पण में जनता की भाव-भंगिमा के साथ अपनी स्वच्छ या धूमिल छवि देख-परख कार्य की दिशा तय करती है। कहना नहीं होगा कि इन संपादकीय अग्रलेखों के द्वारा संपादक ने पत्रकारिता का एक उज्ज्वल मानदंड स्थापति किया है। जन-आकांक्षा की कसौटी पर इनकी टिप्पणियाँ खरी उतरी हैं, जिसका साक्ष्य पाठकों की प्रतिक्रिया के रूप में हमें पत्रिका के विभिन्न अंकों में मिलता रहा है। डॉ॰ लक्ष्मीकांत पाण्डेय ने पत्र-पत्रिका के स्वरूप निर्धारित जिन तत्त्वों यथा सामाजिक चेतना का दर्पण, नीर-क्षीर विवेक, परिवेश की संपृक्ति, मूल्यों की नियामिका, संप्रेषण का माध्यम आदि का उल्लेख किया है, सिद्धेश्वर जी की यह पत्रिका उसपर खरी उतरती है, कारण कि संपादक के रूप में ये अपना काम पूरी जिम्मेदारी और दिलचस्पी के साथ करते हैं। वैसे भी जब कोई व्यक्ति अपना काम सौ प्रतिशत समर्पण भाव से करता है तभी उसमें कमाल पैदा होता है। जात-पात, छुआछूत तथा मजहब की दीवारें इनके पवित्र उद्देश्यों को लाँघ नहीं पातीं। जिस गहराई से ये सामाजिक उत्तरदायित्व की फिक्र करते हैं, वह काबिलेतारीफ है। लेखन और सक्रियता से जुडे इनके सरोकार इसी लक्ष्य को समर्पित हैं। दूसरी बात यह है कि सिद्धेश्वर जी ने पत्रकारिता को अपना पेशा नहीं बनाया है।

भारतीय लेखा एवं लेखा परीक्षा विभाग के एक वरिष्ठ अधिकारी के पद से स्वैच्छिक सेवा निवृत्ति लेकर हिंदी पत्रकारिता तथा साहित्य-सेवा के माध्यम से इन्होंने अपना शेष जीवन व्यापक एवं वृहतर हित में बिताने का संकल्प लिया है और उस संकल्प को पूरा करने के लिए ये कटिबद्ध हैं। आखिर तभी तो वर्ष 2004 से 2008 तक अपने जीवन का पुस्तक वर्ष के रूप मनाने के क्रम में इनकी लगभग आधे दर्जन पुस्तकें प्रकाशनाधीन हैं। यह पुस्तक 'समकालीन संपादकीय' उसी की एक बेहतरीन कड़ी है, जिसके लिए मेरी ढेर सारी बधाइयाँ और इनकी धारदार कलम अनवरत रूप से चलती रहे इसके लिए हमारी मंगलकामनाएँ। विश्वास है इस पुस्तक का पत्रकार-जगत सहित पाठकों के बीच स्वागत किया जा सकेगा।

युगल किशोर प्रसाद
कवि व साहित्कार

न्यू विग्रहपुर, बिहारी पथ,
पटना -800 001
दूरभाष - 0612-3298021

सत्य को खोजने की प्रवृत्ति से आप्लावित कृति

पत्रकारिता का महत्त्व रोज-व-रोज बढ़ता जा रहा है, वस्तुतः पत्रकारिता बहुत ही रुचिकर, आकर्षक एवं पठनीय विषय है। आखिर तभी तो प्रातः उठते ही प्रायः प्रत्येक जन, चाहे वह सजग नागरिक हो या प्राध्यापक, अधिवक्ता या फिर हो अधिकारी या कर्मचारी, यहाँ तक कि सब्जी बेचने वाले से ढेला चलाने वालों का भी मन करता है कि अखबार की कम-से-कम मुख्य खबर को एक बार अवश्य पढ़ लें, ताकि देश-दुनिया की घटनाओं की अद्यतन जानकारी हो सके। इसके मद्देनजर पत्रकारों की भूमिका खासकर भारत जैसे लोकतांत्रिक देश के लिए महत्त्वपूर्ण हो जाती है, क्योंकि लोकतंत्र की शक्ति जनता के हाथों में होती है। अतएव समाज व शासन की कुरीतियों को उजागर करना, जनता को ईमानदार एवं सुयोग्य प्रतिनिधि चुनने के लिए प्रेरित करना तथा सरकार को सही दिशा में जाने के लिए मार्गदर्शन करना पत्रकारों का दायित्व होता है। पत्रकारिता के माध्यम से ही देश के हर आदमी के विचारों का आदान-प्रदान होता है। पत्रकारिता में वह शक्ति है, जो किसी भी तंत्र को झकझोर कर रख देती है। इसलिए पत्रकारिता के मूल्यों को बचाए रखना पत्रकारों के लिए आज सबसे बड़ी चुनौती है।

बिहार की राजधानी पटना से प्रारंभ होकर इनके संपादकत्व में 'विचार दृष्टि' पत्रिका पिछले दस वर्षों से आज राष्ट्रीय राजधानी दिल्ली से नियमित रूप से प्रकाशित हो रही है और सिद्धेश्वर जी विचारोत्तेजक व प्रभावोत्पादक संपादकीय लिखते रहे हैं। अब तो पूरे देश की पत्र-पत्रिकाओं में इसकी सराहना होने लगी है। साहित्यकारों द्वारा इसकी शैली, स्वरूप, संपादकीय, विविधता और स्तर की प्रशंसा की जा रही है। साथ ही एक सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय जागरण में 'विचार दृष्टि' का एक बहुत बड़ा योगदान हो रहा है, कारण कि इसके संपादक सिद्धेश्वर जी ने इसे अब तक प्रलोभन के पतन से बचाए रखा है, हालांकि इसके ग्राहकों और विज्ञापनों की प्राप्ति के लिए कोई खास प्रयास नहीं किया जा रहा है। सिद्धेश्वर जी अपने ही बल पर इसे चला रहे हैं और यह पत्रिका राष्ट्रीय विचार मंच की राष्ट्रीय चेतना का वैचारिक मुख-पत्र बनकर आज भी जीवित है, यह पटना, दिल्ली के साथ-साथ दक्षिण भारत के चारों राज्यों के साहित्यकारों एवं प्रबुद्धजनों के सुख-संतोष का विषय है। दरअसल, बौद्धिक होने

के साथ-साथ यह पत्रिका संपादक के श्रमसाध्य की प्रतीक बन गई है। एक व्यक्ति अनेक स्तरों पर सक्रिय रहकर पत्रिका के लिए इतने सारे काम एक साथ कर सकता है, सिद्धेश्वर जी इसके प्रमाण हैं।

पस्तुत पुस्तक 'समकालीन संपादकीय' के लेखक सिद्धेश्वर जी ने पत्रकारिता के इसी महत्त्व और दायित्व को समझते हुए न केवल केंद्र सरकार के अपने सेवा काल में विभागीय पत्रिका 'प्रहरी' का सफल संपादन किया, बल्कि सेवावधि में ही पटना से शुरुआत की गई राष्ट्रीय चेतना की वैचारिक पत्रिका 'विचार दृष्टि' के संपादन का दायित्व संभाला और अपनी सूझबूझ तथा परिश्रम से नियमित रूप से प्रकाशित करते हुए इसे राष्ट्रीय राजधानी नई दिल्ली तक पहुँचाया। पिछले दस वर्षों से 'विचार दृष्टि' दिल्ली से प्रकाशित हो रही है और देश के प्राय: प्रत्येक राज्य के सुधि पाठकों को एक अच्छी-खासी स्वस्थ मानसिक खुराक प्रदान कर देशवासियों में राष्ट्रीय चेतना जागृत करने का सफल प्रयास कर रही है जिसका मुख्य श्रेय सिद्धेश्वर जी को जाता है। इसके उप-संपादक डॉ. शाहिद जमील तथा सहायक संपादक उदय कुमार 'राज़' का सहयोग सराहनीय है। प्रस्तुत पुस्तक प्रहरी तथा 'विचार दृष्टि' के संपादकीय अग्रलेखों का संकलन है जिसे पढ़कर पाठक किसी नन्हें बच्चे की तरह फुसफुसाहट एक दूसरे की कान में कुछ अवश्य कहेंगे तथा अपने कमरे में बैठकर इसे निहारना मन को शांति प्रदान करने जैसा लगेगा। मगर हाँ, इसमें पैठ लगानी होगी।

'समकालीन संपादकीय' पुस्तक को आद्योपांत पढ़ने के पश्चात् मैं इस नतीजे पर पहुँचती हूँ कि मूल रूप से सामाजिक कार्यकर्ता होने की वजह से सिद्धेश्वर जी के व्यक्तित्व का प्रभाव इनके संपादकीयों में भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। सामाजिक विकास में पत्र-पत्रिकाओं की भूमिका को ये तहेदिल से स्वीकारते हैं और सामाजिक विकास की सबसे महत्त्वपूर्ण कड़ी के रूप में पत्र-पत्रिकाओं को ही मानते हैं। इसके माध्यम से ही सामाजिक परिवर्तन की परिभाषा लिखी जा सकती है। इस पुस्तक के लेखक की स्पष्ट धारणा है कि समाज में ऊँच-नीच की भावना को मिटाने, सामाजिक व्यवहार में आपसी भाई-चारा विकसित करने और समता के आधार पर सबको सम्मान देने जैसे कार्य पत्रकारिता बखूबी कर सकती है बशर्ते कि इस दिशा में इससे जुड़े पत्रकार व संपादक ईमानदारी से प्रयासरत रहें। इसमें तनिक संदेह नहीं कि पत्रकारिता के माध्यम से सामाजिक क्रांति लाई जा सकती है। मगर दुखद स्थिति यह है कि आज के पत्रकार पत्रकारिता के मूल आदर्श को नहीं समझ पा रहे हैं। यही कारण है कि पत्रकारिता में आज गिरावट देखने को मिल रही है। प्राचीन समय

में पत्रकारिता एक मिशन थी जो आज एक व्यवसाय बनकर रह गई है। व्यवसाय तो लाभ-हानि का खेल है। आज की पत्रकारिता में चटपटापन और प्रचार घुस गया है और अवसरवादिता ने अपनी जड़ें जमा ली हैं। सुप्रसिद्ध वरिष्ठ पत्रकार राजकिशोर का भी मानना है कि मौजूदा दौर के समाचार-पत्रों की दिलचस्पी बुराई का विस्तृत से विस्तृत वर्णन करने में इसीलिए होता है कि पाठकों का दिल बहलता रहे। यहाँ तक कि इलेक्ट्रॉनिक मीडिया भी बुराई पर ही पलता है, किंतु राजकिशोर जी का मानना है कि जो बुरा, गंदा या अश्लील है, वही वास्तविकता नहीं है। वह वास्तविकता का एक हिस्सा मात्र हो सकती है। अच्छाई वास्तविकता का दूसरा और बड़ा हिस्सा है। बुराई दिखाने का समर्थन इस तर्क से किया जाता है कि जनता जो देखना चाहती है, वही हम दिखाते हैं। किंतु यह व्यवसाय का तर्क है, कला या पत्रकारिता का नहीं। बेशक बुराई में मजा है और सनसनी है, मगर अच्छाई में भी मजा है और सनसनी भी कम नहीं है। मुश्किल यह है कि अच्छाई को उद्योग नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि यह उसकी सिफत में नहीं है। किंतु ऐसी विषम परिस्थिति में भी सिद्धेश्वर जी की दृष्टि समग्र दृष्टि है और पत्रकारिता में रहकर इनमें सत्य को खोजने की प्रवृत्ति है। अपनी पत्रिका 'विचार दृष्टि' को व्यावसायिक होने से इन्होंने बचाया है, क्योंकि इनका मूल स्वर मानवता की खोज है। इसलिए ये हर प्रकार के शोषण से मुक्ति के लिए प्रयासरत हैं। आखिर तभी तो ये न किसी वाद के चक्कर में हैं और ना ही किसी विवाद में पड़ते हैं। निरंतर तटस्थ होकर लिखना और पत्रकारिता करना ही इनका काम है।

सामाजिक तथा आर्थिक समानता के पक्षधर सिद्धेश्वर जी की रचनाओं में सदैव संघर्ष की चर्चा दिखाई देती है, कारण कि संघर्ष को ही ये जीवन मानते हैं। वैदिक-ऋषि ने भी कहा था कि जो चलता रहता है उसकी जंघाओं में फूल खिलते हैं। आज भी तो वह उतना ही सत्य है। इसलिए 'चेरैवेति, चेरैवेति'। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी तो कहा कि यदि तुम्हारी पुकार सुनकर कोई नहीं आता तो अकेला ही चल। 'जोदि तोर डाक सुने केऊ न आशे, तबे एकला चलो रे, एकला चलो रे'। इस पुस्तक के लेखक भी इसी राह के राहगीर हैं जो, अपने धुन के पक्के हैं। दूसरी बात यह है कि सिद्धेश्वर जी वक्त की रफ्तार और उसके बदलावों के साथ कदम-ताल करते चलते हैं। इसलिए इन्हें परेशानी नहीं होती और यदि परेशानी सामने आती भी है तो ये उसे महसूस नहीं करते। वक्त की रफ्तार के साथ वह परेशानी भी आप से आप दूर हो जाती है। लेखक को इतनी अच्छी कृति के लिए साधुवाद।

डॉ. मधु धवन
हिंदी विभागाध्यक्ष, स्टेला मारिस कॉलेज, चेन्नई
के-3, अन्नानगर (ईस्ट)
चेन्नई-600102

युग सापेक्ष संपादकीय

इस पुस्तक के माध्यम से हम पाते हैं कि आधुनिक पत्रकारिता और हिंदी साहित्य को अपने संपादन और अग्रलेखों व संस्मरणों से सर्वथा नयी समृद्धि देने वाले पत्रकारों एवं साहित्यकारों की कतार में सिद्धेश्वर जी अपनी एक अलग पहचान बनाते हुए लक्षित होते हैं। आप वैचारिक व्यायाम नहीं, बहुआयामी व्यक्तित्व के सामाजिक कार्यकर्ता हैं जिनमें प्राचीनता के साथ-साथ आधुनिकता भी है। जनोन्मुख पीड़ा की कभी अनदेखी न करने वाले इस प्रतिष्ठित साहित्यकार-पत्रकार का केंद्रीय अनुभूति-संसार समाजवादी व मानववादी है। इनकी दृष्टि में जो कुछ भी युगीन कालिमा है उसे उजाले में बदलना है, क्योंकि विकृत्ति स्थायी नहीं हो सकती। प्रकृति अपना प्रतिवाद करती है।

युगीन परंपरा और युगीन चेतना को समेटे 'समकालीन संपादकीय' से गुजरने के पश्चात् ऐसा प्रतीत होता है कि आम आदमी से जुड़े इसके लेखक आम जनता की चेतना का शंखनाद कर उन्हें अपनी गिरी हुई स्थिति से ऊपर उठने की प्रेरणा तो देते ही हैं साथ ही उनमें राष्ट्रीय चेतना जागृत करने की ललक भी है। संपादक के अधिकतर अग्रलेख व संपादकीय राष्ट्रीय एवं समाज स्वर प्रधान हैं और इनकी रचनाएँ युग सापेक्ष हैं। समकालीन समाज की धड़कन को स्वर प्रदान करना तथा देशवासियों में राष्ट्रीयता की भावना भरने की चेष्टा करना ही संपादक का अभीष्ट है। जमीन से जुड़े पत्रकार सिद्धेश्वर सोते-जागते सदा स्वभाषा, स्वदेश तथा राष्ट्रभाषा का गुण-गान करते हैं। इनकी निजी जीवन पद्धति, चरित्र, आदत, स्वभाव तथा कार्य पद्धति में भी प्रसिद्धि के तत्त्व मौजूद हैं। हर दिशा में उसका अपना एक महत्त्व है। इनका कार्य करने का अपना एक अलग ढंग है। इसी मौलिकता के बल पर ये कुछ ऐसे कार्य कर गुजरते हैं कि लोग चकित रह जाते हैं। पिछले दिनों मेरे द्वारा लिखी इनके जीवन पर आधारित पुस्तक 'सिद्धेश्वर : व्यक्तित्व और विचार' का लोकार्पण जब बिहार के मुख्यमंत्री श्री नीतीश कुमार ने बिहार विधान परिषद् के सभागार में किया, तो पुस्तक की साज-सज्जा, मुद्रण तथा उसमें सन्निहित सामग्रियों को देख-पढ़कर लोग हैरान रह गए। इतनी अच्छी पुस्तक के प्रकाशन के पीछे सिद्धेश्वर जी की जागृति, परिश्रम, कार्यपटुता और श्रेष्ठता ही काम कर रही थी और इनके फलों का निर्णय कर रहा था इनका विवेक और बुद्धि। दरअसल जिनमें विवेक जागृत

होता है, वह कठिनाइयों और विपरीत परिस्थितियों में भी कीचड़ में कमल की तरह उन्नति, समृद्धि, गौरव की राह चुन लेता है। जिसमें कुमति जागृत होती है, वह अच्छी परिस्थितियों में रहकर भी पतन की ओर अग्रसर हो जाता है तथा निरंतर नीचे गिरता चला जाता है। जो उन्नति की ओर चलता है, समाज की दृष्टि से आदर्श मान लिया जाता है, लोग उसी को याद रखते हैं, उसके माता-पिता, परिवार, प्रारंभिक स्थिति को याद नहीं रखते।

दरअसल प्रतिभा, प्रतिभा होती है। आमतौर पर लोग सोचते हैं कि प्रतिभा का विकास अनुकूल परिस्थितियों में ही हो पाता है, पर ऐसा हमेशा नहीं होता। विपरीत परिस्थितियों में भी जो व्यक्ति अपने को निर्मित कर सामाजिक प्रतिबद्धता और राष्ट्रव्यापी चेतना का आयाम बन जाता है, संभवत: अगर उसका रेखाचित्र बनाया जाए तो निश्चित रूप से वह रेखाचित्र इस पुस्तक के प्रणेता संपादक सिद्धेश्वर का बनेगा। कोई सोच भी नहीं सकता कि बिहार के नालंदा जिले के ग्रामीण परिवेश में पला-बढ़ा एक युवक एक सामाजिक कार्यकर्ता के रूप में अपना कैरियर प्रारंभ कर पत्रकारिता, साहित्य एवं संगठन के क्षेत्र में आज राष्ट्रीय स्तर तक वह अपनी पैठ बना चुका है। दूसरों की बात अगर छोड़ भी दी जाए, तो स्वयं सिद्धेश्वर भी मुड़कर अपने जीवन के अतीत के पृष्ठों की तरफ झाँकते होंगे, तो उन्हें भी आश्चर्य ही होता होगा। जिन सोपानों से चढ़कर वह अपने जीवन के लक्ष्य की ओर बढ़ रहे हैं वे सोपान कितने कठिन और जटिल हैं, इस सच्चाई से वे अपरिचित नहीं होंगे। वस्तुत: इनके जीवन में समाज, साहित्य और पत्रकारिता का अद्भुत समन्वय देखने को मिलता है।

प्रस्तुत पुस्तक इस बात का परिचायक है कि इसके लेखक सिद्धेश्वर अपनी गुणवत्ता पहचानते हैं, अपनी असीम शक्तियों को पहचानते हैं और उसी के अनुरूप दृढ़ निश्चय करते हैं महत्त्वपूर्ण कार्य करने के लिए। उन्हें यश-कीर्ति मिल रही है अपने कार्यों की वजह से, अपने परिश्रम और सही निर्णय की वजह से। इनका 'दृढ़ संकल्प' अपने आप में एक बड़ी शक्ति है, जिसकी वजह से इनमें इच्छाशक्ति पनपती है। वैसे भी कहा जाता है कि 'ईश्वर भी उन्हीं की सहायता करते हैं जो स्वयं अपनी सहायता करते हैं।' (God helps those who help themselves.) इसी प्रकार जो ईश्वर की अराधना के साथ-साथ पुरुषार्थ और परोपकार करते हैं, उनके दु:ख-दर्द दूर होते हैं, ऐश्वर्य बढ़ता है – 'अद्या नो देव सवित: प्रजावत् सवीसौभाग्यम्। परा दु:ष्वन्य सुव।'

प्रस्तुत पुस्तक में सम्मिलित संपादकीयों से गुजरने के बाद ऐसा लगता है

कि राष्ट्र और कर्म की एकता का दौर सिद्धेश्वर जी के जीवन का एक ऐसा मार्ग बना है, जिस पर चलते हुए इन्होंने अनवरत लिखे हुए को जीने में तब्दील करने का संकल्प ले रखा है और पिछले कम-से-कम एक दशक से ये सक्रिय विचारक और सुलझे संपादक की भूमिका निभा रहे हैं। एक संपादक के रूप में सिद्धेश्वर जी 'विचार दृष्टि' के माध्यम से अपनी चिंताओं को ठोस तर्कों के साथ संप्रेषित कर रहे हैं और समाज व राष्ट्र के साथ-साथ हिंदी साहित्य के धुंधलके को छांटने का हर संभव प्रयत्न भी। मैं इस मायने में अपने को सौभाग्यशाली मानता हूँ कि मैं कभी इनकी आत्मीयता से वंचित नहीं रहा। इनका प्रेम, शुभेच्छाएँ हमेशा मेरे साथ हैं। ऐसा बहुत कुछ है जो बाँटने को है, पर अभी इनके कृतित्व को देखने का वक्त है। साहित्य और पत्रकारिता जगत के बुद्धिजीवियों में शुमार किए जाने वाले सिद्धेश्वर जी के प्रति साहित्यकार और पत्रकार बड़े आदर और सम्मान का भाव रखते हैं। सिद्धेश्वर जी स्वस्थ-प्रसन्न रहकर सुदीर्घ काल तक अपनी अमूल्य सेवाएँ साहित्य व पत्रकारिता को प्रदान करते रहें, यही हमारी मंगलकामना है। वर्तमान एवं आने वाली पीढ़ियों का यह दायित्व होगा कि वे इस धरोहर का सदुपयोग करें। व्यक्तित्व और कृतित्व के ऐसे धनी अपने अनुज-तुल्य सिद्धेश्वर जी को इतने अच्छे संकलन के लिए हमारी हार्दिक बधाई और दीर्घायु होने के लिए मंगलकामना।

प्रो. राम बुझावन सिंह

आचार्य शिवपूजन सहाय मार्ग
सैदपुर गली, पटना-6

निदेशक, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्
एवं
निदेशक, हिंदी ग्रंथ अकादमी, बिहार

◈◈

अराजक माहौल में संयत और सर्जनात्मक हस्तक्षेप

प्रत्येक पत्रिका अपने संपादक के व्यक्तित्व और विचारों का दर्पण होती है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि दिल्ली से सिद्धेश्वर जी द्वारा प्रकाशित एवं संपादित राष्ट्रीय चेतना की वैचारिक पत्रिका 'विचार दृष्टि' इनके लिए सबसे बड़ा प्रमाण है। हालांकि यह भी सही है कि अपने सेवा काल में भी भारतीय लेखा एवं लेखा परीक्षा विभाग के महालेखाकार (लेखा परीक्षा) कार्यालय, बिहार से निकलने वाली विभागीय पत्रिका 'प्रहरी' के संपादन तथा उसमें सम्मिलित इनकी मर्मस्पर्शी टिप्पणियों में भी सिद्धेश्वर जी का विराट् व्यक्तित्व दृष्टिगोचर होता है। मगर इनकी सही पहचान इनकी विनम्रता और सहृदयता से बनती है। इसमें कोई संदेह नहीं कि इनकी 'विचार दृष्टि' पत्रिका अपनी मौलिकता, पठनीयता और नए आस्वाद की वजह से प्रबुद्ध पाठकों को बाँधती है, किंतु इसके संपादकीय इतने विचारोत्तेजक और बहुआयामी होते हैं मानो एक तीर से कई शिकार किए जा रहे हों। इन्हीं संपादकीयों का संकलन है यह पुस्तक 'समकालीन संपादकीय' जिसमें दैनंदिक जीवनी की किसी सामान्य-सी घटना, संवाद, सोच और विचार से प्रारंभ होकर नए जीवनानुभव को अभिव्यक्त करते हुए पाठकों को सामाजिक प्रतिबद्धता तथा राष्ट्रीय एकता के लिए प्रेरित करने का प्रयास किया गया है।

कहना नहीं होगा कि सिद्धेश्वर जी के संपादकीयों में जन-जीवन के प्राचीन से लेकर अर्वाचीन और चिरंतन से अधुनातन परिवेश कौंध उठता है और आजमाई हुई किसी जीवन दृष्टि का सिरा अँगुलियों में थमाकर अपना एक स्थाई असर छोड़ जाता है। सामाजिक विसंगतियों, जटिलताओं के ज्वलंत मुद्दों के अँधेरे बीहड़ में ये संपादकीय प्रज्ज्वलित दीप की तरह है। इसमें कहीं कोई चुप्पी नहीं है, क्योंकि समाज व देश की समस्याओं पर खरे-खरे और बिना कोई लाग-लपेट के विचार व्यक्त किए गए हैं जिनका आधार सिद्धेश्वर जी का विश्लेषण कौशल है। इससे परिचय प्राप्त पाठक को किसी चीज की व्याख्या का मानसिक व्यायाम नहीं करना पड़ता। इनमें आत्मीयता उपस्थित है, जो पाठक को पराई नहीं लगती।

यह अच्छी बात है कि इन संपादकीयों में विमर्श के भीतर से विमर्श उभारा गया है और समाज व देश के कई बहुत जरूरी पक्ष लेखक सिद्धेश्वर

ने अपने संपादकीय में रेखांकित किए हैं, फिर भी गंभीरता और शालीनता की माँग है कि कहीं-कहीं पर सपाटबयानी और खुरदार से इन्हें बचने और परहेज करना चाहिए। वैसे संपूर्ण संपादकीय से गुजरने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहँचते हैं कि इनमें समाज के साथ-साथ राष्ट्र के समग्र रूप को विशेष स्थान प्रदान किया गया है। भौगोलिक-आर्थिक जैविक तत्त्वों को महत्त्व देकर राष्ट्र मानस में नयी स्फूर्ति व प्रेरणा संचारित करने की कोशिश की गई है। इनमें उद्‌बोधनपरक स्वरों का बाहुल्य है। इन संपादकीयों में जहाँ एक ओर राष्ट्रोनुराग के भाव उजागर हुए हैं, वहीं दूसरी ओर कमजोर होते आत्म-सम्मान की भावना को हवा देकर राष्ट्रप्रेमाग्नि को प्रज्ज्वलित करने के साथ-साथ भारतीय संस्कृति को पुनर्जीवित करने का आह्‌वान किया गया है।

यों तो कई वर्षों तक बिहार की राजधानी पटना की साहित्यिक-सांस्कृतिक गतिविधियों से जुड़े रहने के चलते सिद्धेश्वर जी से मैं परिचित था, किंतु यह परिचय प्रगाढ़ तब हुआ जब य महाकवि आरसी साहित्य परिषद् से जुड़े, कारण कि मैं परिषद् का महासचिव था। फिर दिल्ली आने के बाद तो इन्होंने मुझे राष्ट्रीय विचार मंच से जोड़ा और तब से निरंतर मंच की बैठकों तथा इसके द्वारा आयोजित साहित्यिक-सांस्कृतिक सभा-संगोष्ठियों में इनसे मिलने का मुझे मौका मिलता रहा। जो भी हो, सिद्धेश्वर जी से मैं जब भी मिला हूँ, हर बार एक चीज बहुत तृप्तिकारक मिली है और वह है - 'अपनापन'। इक्कीसवीं सदी की इस अँधी और आपाधापीवाली दौड़ में भी छितवन की छाँववाले सिद्धेश्वर जी में गाँव की सहजता, सरलता और सहृदयता मिलती है। शहर में रहकर भी सिद्धेश्वर जी गाँव की ही संवेदनाओं में जीते हैं। इनके संपादकीय-लेखन में चकितकारी एवं मर्मस्पर्शी ताज़गी का अहसास होता है। सिद्धेश्वर जी साहित्य, पत्रकारिता और राजनीति तीनों में अपनी पकड़ समान रूप से बनाए चल रहे हैं। हिंदी साहित्य और पत्रकारिता की सिद्धेश्वर जी ने कठोर साधना की है और अब भी इनकी सेवा जारी है। सरस व्यक्तित्व के धनी सिद्धेश्वर जी ने ललित निबंध और संस्मरण की विधा में भी उच्च कोटि की रचनाएँ की हैं जो 'विचार दृष्टि' के अतिरिक्त कई अन्य पत्र-पत्रिकाओं में समय-समय पर प्रकाशित होती रही हैं, किंतु प्रस्तुत पुस्तक 'समकालीन संपादकीय' के संपादकीयों में इनको प्रगतिशील प्रतिभा का परिचय मिलता है। ऐसे साहित्यकार व पत्रकार का परिचय नई पीढ़ी के लिए प्रेरणादायक है।

इन्होंने 'विचार दृष्टि' में कई विशिष्ट व्यक्तियों पर संस्मरण लिखकर अपनी कलम से उन्हें चिरस्मरणीय बना दिया है, जिनका 'हमें अलविदा ना कहें' शीर्षक से एक संकलन शीघ्र ही प्रकाश्य है।

सिद्धेश्वर जी के संपादकीय और इनके रचना-कर्म को यदि विविध कोणों से जाँचा-परखा जाए और इनके वैविध्य के विभिन्न आयामों का तर्कपूर्ण विश्लेषण-विवेचन किया जाए, तो प्रस्तुत पुस्तक 'समकालीन संपादकीय' को न केवल पत्रकारिता का एक सार्थक और प्रामाणिक दस्तावेज कहा जाएगा, बल्कि इनके सृजन को आज के अराजक माहौल में संयत और सर्जनात्मक हस्तक्षेप कहना समुचित होगा। पत्रकारिता की विकास-यात्रा का यह ग्रंथ एक साफ-सुथरा आइना बन गया है। कहने की जरूरत नहीं कि यह संकलन लेखक के पत्रकारिता और साहित्य में उल्लेखनीय अवदान और मूल्यवान प्रदेय को सुव्यवस्थित और क्रमबद्ध ढंग से प्रस्तुत करता है, जो जिज्ञासुओं, पत्रकारों, शोधार्थियों और सुधी पाठकों की समझ में बहुत कुछ जोड़ सकेगा-ऐसा मेरा विश्वास है। संपादकीय अवश्य ही श्रम सराहना का हकदार है। आज इस प्रकार के संपादकीय द्वारा हम स्वस्थ समाज की स्थापना और सबल राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया को गहराई और तटस्थता से विश्लेषित कर सकते हैं। कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि लेखक की प्रवृत्ति सत्य की परिचायक है और इनके भीतर एक सही पत्रकार का गुण सबल और जाग्रत है। ऐसे कर्त्तव्य-निपुण, आत्मनिर्भर, निष्ठावान और सुविचारी को इतनी सार्थक एवं शोध परक पुस्तक के लिए हमारी हार्दिक बधाई। सांसारिक विषयों में न पड़कर साहित्य, समाज और पत्रकारिता में लिप्त रहने वाले लेखक सिद्धेश्वर जी स्वस्थ-प्रसन्न रहें, दीर्घायु हों, ऐसी मैं मंगलकामना करता हूँ। विश्वास है पत्रकारिता जगत में इस पुस्तक का समादर होगा और पाठकों के विचारों के आकाश झूले को यह ऊँचा झोका देगी।

नोएडा परिसर 'माध्यम'
डी-12ए., सेक्टर- 20,
नोएडा- 201301,
दूरभाष : 0120-4255271, 2535162
मोबाइल : 09818387111

अरुण कुमार भगत
रीडर
माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय
पत्रकारिता एवं संचार विश्वविद्यालय,
भोपाल

मानसिक प्रबुद्धता में संपादकीय सहायक

पत्रकारिता के क्षेत्र में कार्यरत रहे पत्रकारों के सामने सबसे बड़ी चुनौती यह खड़ी हो गई है कि व्यावसायिकता के दबावों का सामना करते हुए कैसे सामाजिक सरोकारों से जुड़ी पत्रिकारिता की जाए। खासतौर पर यह चुनौती तब और अहम हो जाती है जब कोई वैचारिक पत्रिका प्रकाशित कर रहा हो। आज मीडिया में जिस तरह के मुद्दे उठाए जा रहे हैं वे जन सरोकारों से कोसों दूर हैं, किंतु ऐसे वक्त भी जब हमारी नजर 'विचार दृष्टि' के संपादक सिद्धेश्वर जी पर जाती है, तो इनपर आश्चर्यचकित होना इसलिए स्वाभाविक है कि ये दिल्ली से लगातार पिछले नौ वर्षों से राष्ट्रीय चेतना की वैचारिक पत्रिका 'विचार दृष्टि' निकाल रहे हैं। ऐसे वक्त में जब सरकार सहित समाज के प्रायः प्रत्येक क्षेत्र में 'विचार' और 'दृष्टि' दोनों गायब होते जा रहे हैं, सिद्धेश्वर जी अपनी इस पत्रिका के माध्यम से लोगों में विचार और दृष्टि प्रदान करने के लिए प्रयासरत हैं। ऐसा नहीं है कि इनके समक्ष आर्थिक संकट नहीं है, किंतु इनके संकल्प के आगे वह भी बौना सिद्ध हो रहा है। दरअसल परिस्थितियों को अपने बस में करने का ग़ज़ब का हौसला इन्होंने अपने अंदर पाल रखा है। यही कारण है कि सामाजिक सरोकारों से जुड़े मुद्दे इनकी पत्रिका की सुर्खियों में बने रहते हैं।

जहाँ तक इनके संपादकीयों का सवाल है उनमें पहली पंक्ति से लेकर आखिरी पंक्ति तक जिजीविषा और संघर्ष की अनंत ऊर्जा की अभिव्यक्ति देखने को मिलती है। सकारात्मक सोच के संपादक सिद्धेश्वर जी के ऐसे ही संपादकीयों का संकलन है प्रस्तुत पुस्तक 'समकालीन संपादकीय'। इस संकलन में कुल 64 संपादकीय अग्रलेख इसके छह खंडों में विभक्त हैं। ये संपादकीय 'विचार दृष्टि' के अतिरिक्त राष्ट्रीय विचार पत्रिका, प्रहरी, बिहार जागरण, सूर्योपासना, संघमित्रा तथा कई स्मारिका में प्रकाशित हो चुके हैं।

सिद्धेश्वर जी के संपादकीयों को मनोयोग से पढ़ने और खंगालने के बाद मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचता हूँ कि ये तो हमारे लिए संघर्ष का इतिहास रचने की अपेक्षाएँ संजोए हैं। इनका पत्रकार मन अपनी किसी लालसा के लिए आकांक्षी नहीं है, किंतु कल की भोर के प्रति उसका विश्वास इतना पुष्ट है कि उसके धरातल पर उतरते ही अनेक सुखों की उपलब्धियों के प्रति वह आश्वस्त है। यह

इनके पत्रकार का आत्मविश्वास अन्यों को भी जीने की कला सिखाता है जिसके साथ संवेदना होती है। दरअसल संपादक सिद्धेश्वर पत्रकारिता के अपने कार्यों का संचालन अपनी दृढ़ इच्छाशक्ति के बल पर ही करते हैं। वैसे भी संसार में जितने भी महान कार्य हुए हैं वे मनुष्य की प्रबल इच्छाशक्ति का संयोग पाकर ही हुए। वही नव सृजन और नव निर्माण करने में समर्थ होते हैं। जब टिटहरी और गिलहरी जैसे प्राणी समुद्र को सुखा देने, पाट देने की योजना को सफल बनाने का प्रयत्न कर सकते हैं, तो मनुष्य को अपनी इच्छाशक्ति का प्रमाण-परिचय देने में भला किस बात का संकोच? यह बात ठीक है कि हमारे समाज की मानसिकता आज संकुचित होती जा रही है और इस मानसिकता से सिद्धेश्वर जी जैसे संपादक की तरह सोचने वाले संकट में हैं, किंतु जब इच्छाशक्ति मजबूत हो, तो मानसिक प्रबुद्धता में सहायता मिल सकती है। सिद्धेश्वर जी ने अपने इन संपादकीयों के जरिए यही मानसिक प्रबुद्धता में सहायता प्रदान करने का सफल प्रयास किया है। यही कारण है कि सामाजिक प्रतिष्ठा के साथ-साथ इन्होंने प्रबुद्धजनों के बीच साहित्यिक प्रतिष्ठा भी प्राप्त की है। दूसरी बात यह है कि इन्होंने जिंदगी को बहुत करीब से देखा है, इसलिए जीवन की छोटी-मोटी परेशानियों से कभी परेशान नहीं होते, बल्कि उसका डटकर मुकाबला करते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक के संपादकीयों में साहित्य एवं राजनीति विषयक अवधारणा तथा समाज व देश से संपृक्त जो विचार व्यक्त किए गए हैं, वे संपादक के गहरे जुड़ाव से जुड़े हैं। दरअसल प्रत्येक संपादक व रचनाकार का एक अंत:संसार होता है, जो उसके संस्कार, परिवेश और अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों से आकार ग्रहण करता है। इसी अंत:संसार के अनुसार रचयिता अपने भाव, कल्पना और विचारों को अभिव्यक्त करता है जिनमें 'आपबीती' तथा कुछ 'जगबीती' घटनाएँ रचना रूपों में परिणत होती रहती हैं और तदनुसार रचनाकार के अध्ययन की दिशाओं का भी बोध पाठक को होता रहता है। सिद्धेश्वर जी का अभ्यंतर जगत भी इसी तथ्य-परिज्ञान द्वारा कोई भी गंभीर अध्येता इनके संपादकीय अथवा साहित्य को पढ़कर देख-समझ सकता है। संपादक इन संपादकीयों में कभी युग-यथार्थ के युगपत ऐतिहासकि एवं दार्शनिक अनुभवों की तहों तक चला जाता है, तो कभी सृजनोन्मुख चिंतन की ओर। पत्रकारिता में सिद्धेश्वर के द्वारा किए जा रहे काम ही इनकी जिंदगी के सामने आइना लेकर खड़े कर देते हैं।

संपादक सिद्धेश्वर जी का अपना मत है कि यदि जीते जी किसी को यश मिलता है, तो उसी का अर्थ है, अन्यथा मरणोपरांत सभी यशोगान व्यर्थ है,

क्योंकि रचनाकार को तो उसकी सुखानुभूति हो नहीं पाती। यही कारण है कि इस पुस्तक के लेखक सिद्धेश्वर जीते जी कुछ कर लेना चाहते हैं और तभी तो साहित्य एवं पत्रकारिता के घाट पर अपने सृजन का चंदन घिस-घिसकर यशः सौरभ से साहित्य व पत्रकारिता-जगत को ये आप्लावित कर रहे हैं। विचारों को कर्म में बदलकर सिद्धेश्वर जी समाज को एक नई दिशा देने का निरंतर प्रयास कर रहे हैं। इस दृष्टि से यह पुस्तक सार्थक सिद्ध होगी। वर्तमान दौर की बोझिल एवं स्वार्थभरी समाज व्यवस्था में प्रस्तुत पुस्तक के जरिए लेखक ने स्वस्थ समाज के निर्माण हेतु स्वस्थ परंपराओं की शुरुआत करने की कोशिश की है। इनके संपादकीय भविष्य में अपने चिंतन को बदल पाने में समर्थ होंगे, ऐसा मेरा विश्वास है। सिद्धेश्वर जी अणुव्रत महासमिति के अहिंसा समवाय से जुड़कर नैतिक मूल्यों के प्रचार-प्रसार में भी अमूल्य योगदान दे रहे हैं। 'समकालीन संपादकीय' के लेखक के मन में स्वामी विवेकानंद का यह सूत्र घर कर गया है – 'देशवासियो! भविष्य में तुम लोग एक मात्र स्वर्गादपि गरीयसी, जननी जन्मभूमि की अराधना करो। तुम्हारा एकमात्र देवता है तुम्हारा राष्ट्र'। यही कारण है कि पत्रकारिता का यह संपादकीय काफिला राष्ट्रीयता की मशाल लेकर दिन-प्रतिदिन बढ़ रहा है और जीवन में आने वाले संघर्षों का सामना करके भी 'विचार दृष्टि' के प्रति अपनी गहरी निष्ठा की छाप छोड़ रहा है। कौन नहीं जानता है कि आज के व्यावसायिक वातावरण में इस पत्रिका को कितनी मुश्किलों से गुजरना पड़ रहा है, किंतु युग प्रचार का है और इन्हें युग की भावना में एक परिवर्तन लाना है। राष्ट्रीयता की भावना का संदेश देना है। 'विचार दृष्टि' का उद्‌भव इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया गया है। संपादकीय उसी दिशा में अग्रसर है।

किसी भी व्यक्ति का विकास किसी निष्ठा के सहारे होता है। निष्ठाशून्य व्यक्ति अधर में लटकता है। वह किसी निश्चित मार्ग से आगे नहीं बढ़ सकता। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि प्रस्तुत पुस्तक के लेखक की निष्ठा, समाज, साहित्य, संगठन और पत्रकारिता के प्रति है। आदर्श पत्रकारिता तथा सत्साहित्य के प्रति इनके मन में ममत्व का भाव है और विचारों की दृष्टि से ये प्रगतिशील। ऋजुता, भद्रता, विनम्रता, समर्पण भाव और शाश्वत मनोवृत्ति ये सब इनके व्यक्तित्व का दुर्लभ संयोग है जिसके चलते ही इनके प्रति मेरे मन में सम्मान का भाव है और इन्हें इनके कार्यों में सहयोग करना मैं अपना दायित्व समझता हूँ। वैसे भी ये दूसरों को अपना बनाना भी जानते हैं और अपने को दूसरों का बनना भी जानते हैं। इन्हें देखकर कोई कल्पना नहीं कर सकता कि ये इतने कर्मठ, सक्रिय और पुरुषार्थ

वाले व्यक्ति हैं।

'समकालीन संपादकीय' नाम्नी पुस्तक का संकलन पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर लेखक ने युग संपादक की भूमिका निभाई है। समाजवादी विचारों के पोषक सिद्धेश्वर जी का बड़े-बड़े राजनेताओं के साथ निकटतम संबंध होते हुए भी तथा उनकी सत्तापक्ष के राजनेताओं तक गहरी पैठ होते हुए भी उनसे लाभ लेने की बात इनके मन में कभी न आई, यह इनके आत्मसम्मानी होने का द्योतक है। इसी से हम अनुमान लगा सकते हैं कि सिद्धेश्वर जी का न केवल राजनीतिक, सामाजिक, बल्कि साहित्यिक जगत में भी अपने ढंग का एक अलग प्रभाव है जिसकी सुगंध सब ओर विकसित होती है। संपादन के क्षेत्र में भी आपने अपनी समीक्षात्मक दृष्टि से सर्वथा नवीन कीर्तिमान स्थापित किए। अपने सेवाकाल में 'प्रहरी' नामक पत्रिका का दीर्घकाल तक आपने संपादन का दायित्व संभाला और उसके संपादक के रूप में आपका योगदान ऐतिहासिक रहा जिसका मैं एक साक्षी इसलिए हूँ कि इनकी सेवावधि में मैं बिहार का महालेखाकार (लेखा परीक्षा) रहा हूँ। इसी प्रकार 'विचार दृष्टि' से जुड़े रहने के कारण मैं कह सकता हूँ कि इसका समयबद्ध एवं नयनाभिराम प्रकाशन आपके अथाह श्रम, दृढ़ मनोबल एवं कार्य के प्रति असीम निष्ठा की परिणति है और समाजवादी एवं राष्ट्रवादी विचारधारा को सही अर्थों में संप्रेषित करने वाली यह पत्रिका निरंतर वैचारिक उत्कृष्टता की ओर अग्रसर है। अपनी संघर्षमय यात्रा के इसने दस वर्ष पूरे कर लिए हैं यह हमारे लिए खुशी की बात है। इन वर्षों में यह पत्रिका अपनी अपूर्व भूमिका में रही और बोलती-गूँजती दस्तावेज बन गई। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय चेतना की वैचारिक संस्था राष्ट्रीय विचार मंच के राष्ट्रीय महासचिव का कार्यभार भी आप एक लंबे अरसे से बड़े उत्तरदायित्व के साथ निभा रहे हैं।

मैंने सिद्धेश्वर जी को जब से देखा, एक सृजक के रूप में देखा। अपने सेवाकाल के दौरान भी इन्होंने जापानी विधा की हाइकु में 'पतझर की सांझ' शीर्षक से एक काव्य संग्रह की रचना की जिसके लिए इन्हें विभाग की ओर से दस हजार रुपए की राशि तथा प्रशस्ति-पत्र प्रदान कर सम्मानित किया गया। ये साहित्य-सृजन के लिए किसी निर्जन स्थान जाकर नहीं बैठे, लेखन और चिंतन के लिए इन्हें किसी मूड की प्रतीक्षा भी नहीं करनी पड़ी। सहज भाव से समाज के बीच रहकर ही जो कुछ सोचते, बोलते हैं, उसे कागज़ के पन्नों पर उतार डालते हैं और वह मौलिक हो जाता है तथा कालक्रम में वही साहित्य-जगत को धरोहर बन जाता है। जो बात इन्हें अच्छी नहीं लगती, उस पर ये खुली चोट

करते हैं, किंतु खुलेपन में भी ये व्यक्तिगत वैमनस्य से दूर रहते हैं।

साहित्य मूलतः विचार विनिमय एवं भाव-संप्रेषण का जरिया है। जो साहित्य दुरूहता के कारण जन-सामान्य तक नहीं पहुँच पाता, वह व्यापक प्रचार-प्रसार में ही नहीं पिछड़ जाता, वरन् अपनी अर्थवत्ता भी खो बैठता है। सिद्धेश्वर जी इस तथ्य से परिचित हैं, अतः इन्होंने अपने संपादकीयों में उस सरल एवं सहज भाषा का प्रयोग किया है, जो अपनी सरलता के बावजूद तारल्य एवं भाव-गांभीर्य से भी युक्त हैं। प्रस्तुत पुस्तक के लेखक मानवीय संवेदना के पत्रकार हैं। अतः इनके हृदय में जनता के प्रति सच्चा प्यार है। ये दलितों, शोषितों, पिछड़ों तथा समाज के हाशिए पर खड़े असहाय एवं गरीब लोगों के हिमायती, सद्पक्ष के समर्थक, न्यायप्रिय तथा राष्ट्रीय शाश्वत मानव-मूल्यों के संपादक हैं। यही कारण है कि इनकी रचनाओं एवं संपादकीयों में मजदूरों, किसानों, कर्मचारियों, विवश स्त्रियों तथा दबे-कुचलों का करुण-क्रंदन सुनाई पड़ता है। इस प्रकार देखा जाए, तो लेखनी और वाणी दोनों स्तरों पर सिद्धेश्वर जी क्रियाशील हैं। साहित्यिक एवं सामाजिक जगत के इस जीवंत लेखक की इस अनुपम कृति के लिए हमारी हार्दिक बधाई तथा पहले से भी ज्यादा चुस्त-दुरुस्त रहकर एक नया ऐतिहासिक काम करने में जुटे रहें, इसके लिए मैं इनके स्वस्थ जीवन की कामना करता हूँ।

नंदलाल
सदस्य, वित्त
दिल्ली विकास प्राधिकरण
आई.एन.ए., विकास सदन,
नई दिल्ली

7/1, भगवान दास रोड,
नई दिल्ली- 110002

◈◈

सामाजिक एवं राष्ट्रीय प्रश्नों से जूझते संपादकीय

सच ही कहा गया है – 'जाति न पूछो साधु की पूछ लीजिए ज्ञान' यानी किसी व्यक्ति की जाति, कुल, धर्म आदि की जानकारी की अपेक्षा उनका ज्ञान ही सदा सर्वदा प्रमुख होता है और समाज में वे अपने कार्य की वजह से ही जाने-पहचाने जाते हैं। प्रस्तुत पुस्तक 'समकालीन संपादकीय' को पढ़ने से ऐसा लगता है कि यह कहावत इसके लेखक सिद्धेश्वर जी पर चरितार्थ होती है। ये 'विचार दृष्टि' के संपादक हैं और मैं उसका नियमित पाठक। इस दृष्टि से मैं इनके संपादकीय एवं इनकी प्रायः सभी रचनाओं को बड़े गौर से पढ़ता रहा हूँ और अब जब इस संकलन में संकलित उन सभी संपादकीयों से पुनः गुजर रहा हूँ, तो मैं पाता हूँ कि सिद्धेश्वर जी अपने सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक-सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक कार्यों सहित अपने लेखन से समाज में जागृति लाने का अनवरत प्रयास कर रहे हैं। दरअसल जिस सूझबूझ, श्रम और उद्यम से ये संगठन और पत्रकारिता में अपने सेवा काल से ही कार्य कर रहे हैं वही बुनियाद बना है इनके भविष्य की, जो हम जैसे अनेक उनके सहकर्मियों एवं शुभेच्छुओं के लिए दिशा निर्धारण का कार्य भी करता है और दूसरों के लिए उच्च मानक के मानदण्ड भी। बाद में तो उस पथ पर या निर्दिष्ट मार्ग पर लोगों का चलना भर होता है रुटीन प्रक्रिया के तौर पर। अपने शालीन, विनम्र, सरल, सहज और मिलनसार स्वभाव के कारण तथा अपने लेखन से सबको आकृष्ट करने की वजह से स्वाभाविक रूप से ये सबके प्रिय व्यक्तित्व दिखलाई पड़ते हैं। यहाँ तक कि इनसे वैचारिक मतभेद रखने वाले भी इनकी प्रवृत्ति के कायल होते हैं, कारण कि ये धुन के धनी हैं और इनके इरादे नेक हैं। सच तो यह है कि इनकी संगत में बैठना ही अपने आप में प्रेरक और उत्साहवर्द्धक है।

जीवन के अनेक उतार-चढ़ाव से जूझते हुए किंतु अजेय होते हुए न केवल इन्होंने पत्रिका का नियमित प्रकाशन किया है, बल्कि अपने लिए एवं अपने परिवार के लिए समाज में इन्होंने सम्मानजनक स्थान बनाया है। मैं ऐसे व्यक्ति से जुड़कर गौरवान्वित महसूस करता हूँ, जो जीवन के हर पल को जी रहे हैं और अपनी हर जिम्मेदारी को बखूबी निभा रहे हैं। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता है कि इन्होंने साहित्य और पत्रकारिता को ही जीवन का मुख्य ध्येय मान लिया है और अपनी साधना से साहित्य और पत्रकारिता के क्षेत्र में

योगदान कर रहे हैं। 'समकालीन संपादकीय' इनके योगदान का एक उत्कृष्ट नमूना है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इन्होंने 'विचार दृष्टि' को एक राष्ट्रीय पहचान दी है और अपनी योग्यता, विद्वत्ता, कर्मठता तथा कुशलता से संपादक पद की महिमा एवं गरिमा को बहुगुणित किया है। इस संदर्भ में मुझे याद आती है भर्तृहरि की निम्नांकित लोकोक्ति, जो सिद्धेश्वर जी पर अक्षरश: चरितार्थ होती है –

''पदमाकरं दिनकरो विकचीकरोति
चंद्रों विकासयति कैरव चक्रवालय।
नम्यार्थिति जलधरोऽपि जलं ददाति
संतः स्वयं परहितेषु कृताभि योगः॥''

अर्थात जैसे अनकहे ही दिनकर, अरविंद दलों को विकसित करता है, चंद्र कुमुदिनी को प्रफुल्लित करता है और बिन माँगे जलधर वृष्टि करता है उसी तरह सज्जन पुरुष स्वत: अपनी, वृत्ति से सबकी भलाई करते हैं। इसके लेखक भी अपने रचनाकर्म और पाठक से संवाद स्थापित करने की ईमानदार कोशिश कर बेहतर समाज और श्रेष्ठतर मनुष्य बनाने के लिए प्रयासरत हैं।

पुस्तक में संकलित प्रत्येक संपादकीय को पढ़ने से ऐसा महसूस होता है कि इसके संपादक ने जीवन जीने का रहस्य जान लिया है। इसलिए इन्हें क्या करना है उस ओर इनका कदम बढ़ जाता है। ये अपने जीवन को अपनी समझ के अनुसार समेटने या विस्तार करते हैं तथा सामाजिक सरोकारों पर विशेष बल देते हैं। इनके अधिकतर संपादकीय भी सामाजिक एवं राष्ट्रीय प्रश्नों से जूझते हैं, जो यथार्थपरक हैं, क्योंकि वे इनके सामाजिक अनुभव और निजी प्रेरणा से लिखे गए हैं। अपने प्राक्कथन-'संकलन का संदर्भ' में भी इन्होंने स्वयं कहा है कि ''श्रेष्ठ सृजन सदैव जन साधारण के जीवन-यथार्थ से तादात्म्य करके ही रचा जाता रहा है। सच तो यह है कि रचना दार्शनिक चिंतन से प्रभावित अवश्य होती है, लेकिन उसका मूल सृजनात्मक स्रोत सामाजिक अनुभव है।'' सामाजिक एवं राष्ट्रीय चेतना से आप्लावित तथा सहजज्ञान एवं चिंतन पर आधारित इस संकलन के संपादकीय स्वत: निर्झरिणी की भाँति प्रवाहमान बन पाठक को आनंद विभोर कर देते हैं और उन्हें कुछ सोचने को मजबूर भी। ये संपादकीय प्राणवान और नित्य नूतन भावों का संचरण करने में समर्थ हैं। ये संपादकीय हमें सहजता से जीना सिखाते हैं, क्योंकि वही उन्नति के पथ पर व्यक्ति के विवेक के प्रकाश से अग्रसर करता है। वैसे भी जीवन का कोई भी क्षेत्र हो उसमें आत्म-विवेक की सहजता और

संतुलन से विजय हासिल होती है।

इस पुस्तक में सम्मिलित संपादकीयों से जब हम गुजरते हैं तो इसकी पंक्तियों से एक सच्चे मिशनरी पत्रकार का बोध होता है, क्योंकि सिद्धेश्वर जी एक पत्रकार होने के नाते किसी प्रलोभन और दबावों के वशीभूत हो अपने सिद्धांतों से कभी समझौता नहीं करते। पत्रकारिता इनके लिए पद-प्रतिष्ठा प्राप्त करने का मात्र साधन नहीं, बल्कि आम देशवासियों में समाज व राष्ट्र के प्रति जागृति लाने तथा उन्हें सही दिशा प्रदान करने का एक माध्यम है। आखिर तभी तो अणुव्रत महासमिति के अहिंसा समवाय मंच के राष्ट्रीय संयोजक का दायित्व इनके सबल कंधों पर दिया गया तथा अणुव्रत महासमिति की राष्ट्रीय कार्यकारिणी में भी रखा गया है।

इस प्रकार कुल मिलाकर देखा जाए, तो 'समकालीन संपादकीय' के लेखक के सीने में जलन और आँखों में तूफां-सा मालूम पड़ता है जिसकी वजह से ही इन्हें अपनी जिंदगी बेहद खूबसूरत लगती है। कारण कि ये यह महसूस करते हैं कि कुछ लोगों के लिए ही सही इनका जिंदा रहना सार्थक सिद्ध हो रहा है और यही वह एक वहम है, जो उन्हें जीने की हसरत पैदा करता है। इसी हसरत से भरी हस्ती को इनकी इस कृति के लिए हमारी हार्दिक बधाई और दीर्घायु होने की मंगलकामना।

डॉ. महेन्द्र कर्णावट
संपादक, अणुव्रत (पाक्षिक)
अध्यक्ष, अ.भा. अणुव्रत महासमिति
अणुव्रत भवन
210, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग,
नई दिल्ली-110002

दूरदर्शी विचारों से अनुप्राणित

दूरदर्शी विचारों से अनुप्राणित इस संकलन के संपादकीय हिंदी पत्रकारिता के समक्ष उपस्थित समस्याओं के साथ-साथ आज जो दिशाभ्रम की स्थिति है उससे मुक्ति पाने का उपाय भी प्रस्तुत करते हैं। इसके जरिए जहाँ हिंदी पत्रकारिता को सही दिशा दी जा सकती है, वहीं पत्रकारिता के द्वारा हिंदी भाषा को समृद्ध बनाने की दिशा में महत्त्वपूर्ण भूमिका भी निभाई जा सकती है। हिंदी पत्रकारिता की नींव को मजबूत बनाने में भी यह संकलन मील का पत्थर साबित होगा, ऐसा मेरा विश्वास है। इसमें कतई संदेह नहीं कि संपादकीयों ने बड़े सम्मान और निष्ठा के साथ पत्रकारिता का जो आदर्श प्रस्तुत किया है वह पत्रकारों की नई पीढ़ी के लिए प्रेरक हैं, क्योंकि संपादक ने एक मिशन के रूप में पत्रकारिता की है। इनकी पत्रकारिता में हर शब्द नए अवतार में पाठक तक पहुँचता है। हिंदी के सामर्थ्य को बढ़ाने में अपनी महत्त्वूपर्ण भूमिका निभाते हुए सिद्धेश्वर जी की पत्रकारिता सामान्य और उच्च शिक्षित पाठक दोनों की समझ में आने वाली पत्रकारिता है और दोनों को समान रूप से आनंदित तथा उद्वेलित भी करती है। संपादक साहित्यिक पत्रकार के रूप में नए लेखकों का प्रोत्साहन करने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते हैं। साथ ही हिंदी पत्रकारिता को पहले जैसी ऊँचाई पर पहुँचाने के लिए नए और पुराने-दोनों वर्ग के पाठकों तक पहुँचने और उनके मन की बात को जानकर उसके अनुसार अपनी पत्रकारिता को सही दिशा देने का प्रयास करते हैं, ताकि संसाधनों की नई उपलब्धता का अधिक से अधिक सदुपयोग करके पाठकों को अधिक से अधिक लाभ पहुँचाया जा सके। संपादकीयों के माध्यम से यह बताने का भी प्रयास किया गया है कि पत्रकार लिखने के पहले प्रमाण और परिणाम पर अपनी दृष्टि केंद्रीत करें। संपादक सिद्धेश्वर का मानना है कि यदि पुख्ता प्रमाण है तो परिणाम की चिंता किए बिना तथ्यों को प्रकाशित किया जाना चाहिए। यही वजह है कि अपने इन संपादकीयों में ये अपनी परंपरा के अनुसार नए तेवर और नए चिंतन के साथ बिना कोई लाग-लपेट के सामग्रियाँ अपने पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। इनकी प्रस्तुति प्रभावशाली और संधान का स्तर ऊँचा है, क्योंकि ये तथ्यों को बारीकी से जाँचा-परखा करते हैं।

अपने सभी संपादकीयों को संकलित कर सिद्धेश्वर जी ने इन्हें एक पुस्तक का रूप दिया है, यह पाठकों के लिए एक वरदान स्वरूप है। जीवन सफर में अभी जीवन के ऐतिहासिक पृष्ठों पर इनके द्वारा बहुत कुछ लिखा जाना शेष है, जो नि:संदेह इनकी अनुभूति और मनोवेगों का भंडार होगा और वह समाज को दिशा प्रदान करेगा। सिद्धेश्वर जी की प्रस्तुत पुस्तक में हिंदी भाषा की एक

आत्मीय माधुर्य की झलक देखने को मिलती है। लोगों की जुबान पर यह आसानी से आ जाती है। ऐसा लगता है कि लेखक हिंदी भाषा में पाठकों के साथ संवाद कर रहा हो। यह ईश्वर की कृपा ही कही जाएगी कि 'विचार दृष्टि' के लिए सामग्री तैयार करनी हो या कोई भी साहित्य-लेखन अथवा उसका प्रकाशन लोग एक-एक कर निःस्वार्थ भाव से सहयोग देने के लिए आगे मिलते ही जाते हैं और इन्हें सामने के कंटीले एवं उबड़-खाबड़ रास्ते समतल करने में देर नहीं लगती। इनके बढ़ते कदमों को देखकर सहयोग करने में हमें गौरव महसूस होता है। लेखन के कार्य में इनके कदम रुकें नहीं और ये स्वस्थ रहें, जगन्नियंता से हमारी यही प्रार्थना है, ताकि हिंदी साहित्य के साथ-साथ हिंदी पत्रकारिता का भविष्य उज्ज्वल हो सके और पत्रकारिता के माध्यम से राष्ट्रभाषा तथा समकालीन साहित्य से वर्तमान पीढ़ी को स्वस्थ ढंग से परिचित करा सकें।

हिंदी पत्रकारिता में 'विचार दृष्टि' की भागीदारी को समृद्ध करने वाले 68 वर्षीय संपादक सिद्धेश्वर जी आज भी उतने ही सक्रिय और साधनारत हैं जितने तीन-चार दशक पूर्व थे। साहित्य, संस्कृति, राजनीति, समाज और पत्रकारिता के प्रति अपनी प्रतिबद्धता को महसूस करते हुए ये अपनी वैचारिक शक्ति का उपयोग करते रहते हैं। आखिर तभी तो न केवल पश्चिमी संस्कृति की अमर बेल के बढ़ते जाल को इन्होंने इन संपादकीयों में दर्शाया है, बल्कि अपनी जिंदगी के खट्टे-मीठे अनुभवों को भी इन्होंने अपने संपादकीयों के कैनवास पर उकेरा है। मानवीय संवेदनाओं के साथ-साथ समाज की विसंगतियों एवं विद्रूपताओं को भी अपने संपादकीयों में ढाला है। संकलन के संदर्भ में भी इन्होंने इस बात का उल्लेख किया है कि संकलन प्रस्तुत करने का इनका उद्देश्य संगठित, संस्कारी और संवेदनशील समाज का निर्माण करना है। आज जब मीडिया दबाव में काम कर रहा है और पत्रकारिता एक बहुत ही बुरे दौर से गुजर रही है, सिद्धेश्वर जी नकारात्मक पवृत्तियों से लड़ते हुए उसे सकारात्मक प्रवृत्तियों में बदलने की कोशिश कर रहे हैं और पाठक के समक्ष सच प्रस्तुत करने में लगे हैं, जो पाठक सुनना चाहते हैं। साथ ही समस्या उठाने के साथ ही उसके समाधान के लिए भी आगे आ रहे हैं। पत्रकारिता में अश्लीलता के सवाल को लेकर सदैव चिंतित सिद्धेश्वर जी ने कभी भी अपनी पत्रिका में अश्लीलता को तरजीह नहीं दी, क्योंकि ये मानते हैं कि अश्लील तस्वीरों से न केवल पुरुष का वर्चस्ववाद झलकता है, बल्कि उनसे स्त्री की बेइज्जती भी होती है और अश्लील तस्वीरों के द्वारा पुरुष स्त्री के प्रति बलात्कार को सही सिद्ध कर रहा होता है। इतनी अनुपम कृति के लिए साधुवाद।

भारत के नियंत्रक-महालेखा परीक्षक
का कार्यालय, नई दिल्ली- 2

मेहरबान सिंह नेगी
संपादक
'लेखा परीक्षा-प्रकाश'

सामाजिक एवं राष्ट्रीयबोध से अनुप्राणित

सिद्धेश्वर जी के संपादकीय अग्रलेखों की पहली विशेषता यह है कि ये सामाजिकबोध से अणुप्राणित हैं। इनके संपादकीयों में अपने आस-पास की जिंदगी को खुली आँखों से देखने की सामर्थ्य है। इनमें मानवीय रिश्तों के साथ समाज व राष्ट्र के विविध आयामों का निर्देशन हुआ है। इस पुस्तक में सम्मिलित 64 संपादकीय अग्रलेखों के अनेक संपादकीयों में मध्य वर्ग और निम्न वर्ग की वेदना और पीड़ा को वाणी मिली है। कुल मिलाकर देखा जाए, तो ये सामाजिक और राष्ट्रीय यथार्थ से परे नहीं हैं।

सिद्धेश्वर जी के इन संपादकीय अग्रलेखों को पढ़ने से यह स्पष्ट है कि इन्होंने सामाजिक और मानवीय पक्ष के अतिरिक्त राष्ट्रीय पक्ष को पत्रकारिता का आधार बनाया है। जन सामान्य की समस्याओं को इसमें चित्रित करने के कारण भी इनकी प्रसिद्धि बढ़ी है। इनके संपादकीयों में स्थानीय प्रकरण और सामाजिक-राजनीतिक सवाल भी उठाए गए हैं। मन में उठे भाव की अभिव्यक्ति और यथार्थ की सीमाएँ आपस में स्पर्श करती हैं। आरक्षण के सवाल पर लेखक का स्पष्ट मत है कि जातिवाद का ढोंग रचते राजनेताओं की वजह से ही समाज में किस तरह की फूट पड़ जाती है और वोट के लाभ के लिए समाज को तोड़ने का नुकसान क्या होता है, यह आज जातियों के बीच हो रहे घमासान और उससे देश की संपत्ति के नुकसान से स्पष्ट है। इनका मानना है कि आर्थिक विकास के लिए समाज के सभी वर्ग के लोगों को एकजुट होकर काम करना होगा तथा सारी राजनीतिक पार्टियों को मिलकर एक रास्ता निकालना होगा, ताकि आरक्षण को लेकर समाज के अंदर तनाव का माहौल उत्पन्न न हो सके। समाज में बढ़ती आर्थिक असमानता को लेकर चिंता स्वाभाविक है। यह सच है कि मसला सभी वंचितों के लिए परोपकार और सामाजिक कार्यों का है। हाँ, अभी कुछ जातियों के लिए आरक्षण की व्यवस्था इस दिशा में एक बड़ा कदम हो सकता है। दरअसल, सच कहा जाए तो आरक्षण से काफी हद तक समाज का चेहरा बदल सकता है, बशर्ते कि सरकार और राजनीतिक दलों की ईमानदार सोच और संकल्प हो। यहाँ तो केवल वोट के लिए तुष्टीकरण की नीति अपनाई जा रही है और टुच्ची राजनीति की जा रही है। राजनेता लोगों की लाशों पर राजनीति की रोटियाँ सेक रहे हैं। ऐसी भयावह स्थिति में लेखक सिद्धेश्वर जी द्वारा अभिव्यक्त विचारों के मद्देनजर एक निरंकुश और पाश्विक रूप से हिंसक हुकूमत का मनोबल हिंसा से नहीं, बल्कि अहिंसा के नैतिक बल से हो सकता है और सत्य के लिए निर्णय आग्रह से ही हो सकता है।

इसी प्रकार प्रस्तुत पुस्तक 'समकालीन संपादकीय' के अग्रलेखों में उत्पीड़न, अत्याचार और शोषण जैसी सामाजिक बुराइयों के प्रति आक्रोश झलकता है। समाज के प्रति कटु अनुभवों को उजागर करते हुए ये संपादकीय घर-परिवार की स्थिति और व्यवस्था का चित्रण भी बड़े मार्मिक ढंग से करते हैं। साथ ही राजनीतिक विद्रूपता और सामाजिक यथार्थ का वास्तविक चेहरा भी उजागर हुआ है। लोकतंत्र की उर्वरा भूमि में अवसरवादी राजनेता मज़हब और जाति की चुनावी विषवेल बो रहे हैं। मतलबपरस्ती की हद वहाँ हो जाती है जब आदमी गधे को भी बाप कहने से नहीं हिचकता। संसदीय लोकतंत्र की दल-बदलू राजनीति में किस प्रकार गधापन हावी हो रहा है, लेखक व संपादक की दृष्टि में वह सामने आया है। लेखक सिद्धेश्वर जी की यह दृष्टि अहसास दिलाती है कि समाज के अच्छे भविष्य की उम्मीद की जा सकती है, क्योंकि इनके संपादकीय अग्रलेख ऐसे हैं जिनमें देश के आम नागरिक अपने लिए अच्छा मार्ग चुन सकते हैं।

इन संपादकीय अग्रलेखों में गिरते जीवन मूल्यों के प्रति संवेदनाएँ भी देखने को मिलती हैं। कहना नहीं होगा कि संपादक प्रभावशाली वाक्चातुर्य से परिपूर्ण व्यंग्य के तीखे बाण अंदर तक घाव करने में सक्षम हैं। समाज व राष्ट्र में जो कुछ भी गलत हो रहा है उसे सामने लाने में संपादक कभी हिचकिचाते नहीं, क्योंकि ये जागरूक हैं इसलिए खुली आँखों से सपने देखने में यकीन करते हैं।

संपादक ने तथाकथित सभ्य समाज के विचारों, जिसके जीवन की कोई कीमत नहीं होती, को भी संपादकीय में चित्रित किया है। इस पुस्तक में सम्मिलित संपादकीयों की एक बड़ी विशेषता यह भी है कि लेखक ने जहाँ एक ओर समाज में आई विसंगतियों पर बड़ी गंभीरता से चुटकी ली है, वहीं सहज ढंग से समाज को आइना दिखाने का भी प्रयास किया है। इसलिए समय का तकाजा है कि पाठक अपनी रचनात्मक भागीदारी से लेखक की इच्छा और सोच का सम्मान करे। यह उनके तथा समाज के हित में होगा। बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी इस पुस्तक के लेखक सिद्धेश्वर जी संपादक व लेखक के अलावा एक सामाजिक कार्यकर्ता भी हैं, मानवीय मूल्यों के पोषक और प्रचारक भी। इनका जीवन-दर्शन इस पुस्तक में अभिव्यक्त हुआ है। निःस्वार्थ भाव से किसी प्रत्यक्ष की अपेक्षा किए बगैर ये अपना कर्त्तव्य निभा रहे हैं। लेखक को साधुवाद और समाज के हित के लिए ये कुछ करते रहें, मैं ऐसी कामना करता हूँ।

डॉ. रमाशंकर श्रीवास्तव
संपादक श्रीप्रभा, नई दिल्ली
पूर्व हिंदी प्राध्यापक, राजधानी कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय

आर-7, वाणी विहार
उत्तम नगर, नई दिल्ली-59
दूरभाष : 25634719

निर्भीक कृति और छटपटाते मुद्दे

दिल्ली से प्रकाशित 'विचार दृष्टि' के यशस्वी संपादक सिद्धेश्वर जी की 384 पृष्ठोंवाली नई कृति 'समकालीन संपादकीय' में कुल छह खण्ड हैं :—(1) पत्रिका परिवार (2) राष्ट्रीय विचार पत्रिका (3) विचार दृष्टि (4) प्रहरी (5) पुस्तकों का संपादन और (6) स्मारिका। इन छह खण्डों में प्रकाशित अद्वितीय विचार लेखों का एक अत्यंत उपयोगी संग्रह हमें इस पुस्तक में प्राप्त होता है। ये अग्रलेख अलग-अलग विषयों पर हैं, पर इनकी उपयोगिता काफी लंबे अरसे तक रहेगी। इन लेखों से हमें अपने आपको सही मार्ग पर चलने में काफी सहायता मिल सकती है। पुस्तक का खण्ड दो सबसे लंबा और खण्ड तीन सबसे छोटा है। तीसरे खण्ड के कुछ प्रमुख अग्रलेख हैं :— (1) भारतीय राजनीति भ्रष्टाचार के भंवर में (2) आतंकवाद : नयी सदी का नया आयाम (3) सवाल आज बचपन बचाने का (4) सार्वजनिक जीवन में खोटे सिक्कों का चलन (5) भाषायी गुलामी से कब होगा मुक्त हमारा राष्ट्र (6) स्वतंत्रता संग्राम के सेनानियों का सपना और आज का भारत। इसी प्रकार खंड चार के महत्त्वपूर्ण अग्रलेख हैं :— (1) किसी से दान में नहीं चाहती हिंदी अपना भविष्य (2) भारतीय समाज एवं संस्कृति का बदलता परिदृश्य। अंतिम खंड छह में नौ अग्रलेख हैं। मैं समझता हूँ, इन सभी अग्रलेखों पर लंबी सार्थक चर्चा हो और हम सब भारत को समृद्धिशाली एवं सुसंस्कृत देश बनाने में सफल हों।

कत्लखानों से संबंधित कोई विशद अग्रलेख मुझे इस पुस्तक में नहीं देखने को मिला। मैं चाहूँगा कि इस महत्त्वपूर्ण विषय पर भी सिद्धेश्वर जी भविष्य में लिखें। इनकी कलम में जादू है और भाषा पर इनकी जबरदस्त पकड़ है। इनके जैसा सफल संपादक ही शराब और मांसाहार के बढ़ते कदमों को रोक सकता है और त्रस्त मानवता को पुनः अहिंसा के मार्ग पर ला सकता है। वैसे अ.भा. अणुव्रत महासमिति के अहिंसा समवाय के संयोजक होने के नाते सिद्धेश्वर जी की धारदार लेखनी से अहिंसक प्रवृत्तियों को बढ़ावा देने वाले अग्रलेखों की अपेक्षा की जाती है। प्रस्तुत पुस्तक के प्राक्कथन 'संकलन का संदर्भ' के पृष्ठ चौदह पर सिद्धेश्वर जी ने जो चिंता व्यक्त की है, वह प्रायः सभी पाठकों व लेखकों के मन को झकझोरने का काम करेगी। वह लिखते हैं कि हमारी सबसे बड़ी चिंता यह है कि आज व्यक्ति व समाज मज़हब,

जाति और रूढ़ियों एवं अँधविश्वास की दुहाई देता हुआ पहले से कहीं ज्यादा संवेदनशून्य और उसकी समस्याएँ ज्यादा घनीभूत हो गयी हैं। सिद्धेश्वर जी की मान्यता है कि सत्ताश्रित, संस्थाश्रित और धनाश्रित शक्तियों ने भारतीय लोकतंत्र को अंदर से खोखला कर दिया है। मैं समझता हूँ कि यह कटू सत्य है। हमें इसके विरुद्ध कदम उठाने होंगे। राजनीति ने विज्ञान की दुनिया को भी तबाह कर दिया है। हम केवल पाश्चात्य तरीके से शिक्षा प्रदान कर रहे हैं। हमारी न्यायपालिका को सत्य को सत्य कहने में हिचकिचाहट होती है। आलोचना को सुनने की हममें क्षमता नहीं है। यदि दूसरे पक्ष में सत्य एवं अधिक कल्याण छिपा हो, तो हमें प्रतिष्ठा का प्रश्न न बनाकर उसको भी मुखरित होने देना चाहिए। भारत का उच्चत्तम न्यायालय भली प्रकार से जानता है कि अहिंसा मर रही है और हिंसा का तांड़व नृत्य चमड़े और मांस के जरिए निरंतर जारी है, इसके बावजूद सशक्त वकीलों और सरकारी दबाव के कारण भारत के चप्पे-चप्पे पर जीव-हत्या हो रही है। इसीलिए सिद्धेश्वर जी की ये पंक्तियाँ सशक्त महत्त्व की हैं :– 'यदि समाज और देश का हित सोचना है और मानव-कल्याण करना है, तो अहिंसा और सत्य के मार्ग को अपनाना होगा।'

सिद्धेश्वर जी की मान्यता है कि उचित मार्ग पर चलकर हम सामाजिक परिवर्तन की दिशा में अग्रसर हो सकते हैं और देश की समस्याओं का निदान भी निकाल सकते हैं। इनकी ये पंक्तियाँ आने वाले हजारों-लाखों पीढ़ियों को प्रेरित करती रहेंगी। मेरी हार्दिक इच्छा है कि हम सब लोग इनके विचारों को मात्र पढ़ें ही नहीं, बल्कि उन्हें वास्तविक जीवन में उतारें भी। प्रस्तुत पुस्तक चर्चा और चिंतन का मंच तैयार कर रही है और मुझे खुशी है कि इनके विचार अब अधिक अवधि तक और पाठकों के एक बड़े वर्ग को प्रभावित करने में समर्थ हो पाएँगे। प्रस्तुत पुस्तक का देश-विदेश की प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण भाषाओं में अनुवाद प्रकाशित होना चाहिए। पुस्तक के प्रमुख सुझाव एक स्थान पर एकत्र कर हमें इन पर क्रियान्वयन के महत्त्वपूर्ण कदम उठाने होंगे। पुस्तक में बहुत सारे विचार हैं पर उनमें से कुछ थोड़े से विचार-मोती जो कार्यान्वयन में काम आ सकते हैं उन्हें मैं पाठकों के समक्ष सारांश में प्रस्तुत कर रहा हूँ :– (1) बुरे लोगों को महिमा मंडित मत कीजिए (2) बिना श्रम, बिना त्याग और बिना पुरुषार्थ के धन अर्जित मत कीजिए (3) अमानवीयता का विरोध कीजिए। (4) मीडिया अब आदमी के सरोकारों को खुद से जोड़े। (5) पत्र-पत्रिकाएँ संवाद का मंच बनें। (6) अनुशासन सभी स्तरों पर आवश्यक है।

(7) शांति, अहिंसा और सत्याग्रह का मार्ग अपनाकर चुनौतियों का सामना करना चाहिए।

प्रस्तुत निष्कर्ष बहुत महत्त्वपूर्ण है। हमें 'सत्याग्रह' के सही अर्थ को भी समझना होगा और शायद नए संदर्भों में उसमें वीरत्व भी देखना होगा। समाज व्यवस्था के संदर्भ में लेखक ने कुछ ऐसे सवालों को अपने अग्रलेखों में उठाया है, जिसने मुझे वैचारिक रूप से मथ डाला। इन सारे सवालों के उत्तर इन्होंने दिए हैं जिससे मैं सहमत हूँ। सच मानिए तो प्रस्तुत पुस्तक को मैं एक आधारभूत टैक्स्ट (Text) के रूप में विद्यार्थियों को पढ़ाना चाहूँगा। जिन विषयों पर अग्रलेख हैं, वे सभी वर्गों को अपने और सभी प्रकार के विषयों को छूते हैं, इसलिए इन पर काफी चर्चा होनी चाहिए। लेखक के प्रति सबसे बड़ा न्याय और सम्मान तो यह होगा कि हम इनके विचारों को मानवीय विकास की प्रक्रिया से जोड़ दें। किसी के विचारों को अनुउपेक्षित करना, उनका क्रियान्वयन न करना हमारी प्रगति का बहुत बड़ा रोड़ा होगा। मेरी हार्दिक इच्छा है कि इस पुस्तक पर काफी चर्चा हो और हम लोग सोचें कि कैसे हम अपनी कमियाँ दूर कर सकते हैं। ऐसी पुस्तकों में मुझे मानवीय सभ्यता की नयी रोशनी नज़र आती है और इस रोशनी से अपने-अपने क्षेत्रों में हमें परिवर्तन करने चाहिए। यदि आपने इस पुस्तक की एक भी पंक्ति के विचार को अपने जीवन में उतारा, तो उससे सिद्धेश्वर जी के इस प्रयास की सार्थकता सिद्ध होगी। आइए, हम सब मिलकर ऐसे प्रखर चिंतकों का, मार्गदशकों का अभिनंदन सही तरीके से करें, क्योंकि लेखक ने इसे देश के प्रायः सभी क्षेत्रों में पहुँचाने का प्रयास किया है। आशा है पाठक इसे पढ़कर अपने सत्य, अहिंसा और वात्सल्य के संगम को सूखने नहीं देंगे। इतनी सशक्त लेखनी को और उससे निकले विचारों को नमन करते हुए मैं लेखक को इस नयी कृति के लिए हार्दिक साधुवाद देता हूँ और कामना करता हूँ कि इनकी कलम अनवरत रूप से चलती रहे।

प्रो. (डॉ.) मदन मोहन बजाज
कुलपति
अंतरराष्ट्रीय कामधेनु अहिंसा विश्वविद्यालय

अध्यक्ष
इंटरनेशनल साइंटिफिक
रिसर्च एंड वेलफेयर आर्गनाइजेशन और
इंटरनेशनल एकेदमी ऑफ बायोसांईसेज
ए-122, विकास पुरी, नई दिल्ली-110018
फोन : 25595533, 25573341
मो. : 09818293910

संपादकीय गलत को स्वाहा करने में सक्षम

सुप्रसिद्ध पत्रकार एवं स्तंभकार राज किशोर का मानना है कि लेखक एवं पत्रकार में इतनी आग होती है कि वह जो गलत है उसे स्वाहा कर सके और इतना जले कि हर जलने को शांत कर सके। लेकिन अगर लेखक धुँआ फैला रहा हो, तो उसके साथ-साथ घूमने से कुछ कालिख ही हाथ लगेगी। प्रस्तुत पुस्तक 'समकालीन संपादकीय' के लेखक सिद्धेश्वर जी के संपादकीय-लेखन पर जब गौर करते हैं, तो पाते हैं कि इसमें इतनी आग है जो गलत को स्वाहा करने में सक्षम है कारण कि ये स्वयं लेखक की जिंदगी बिताते हं जिससे इनके लेखन का चरित्र प्रभावित होता है।

सिद्धेश्वर जी के संपादकीय अग्रलेख पाठकों को समाजोन्मुख तो बनाते ही हैं, साथ ही उनमें राष्ट्रीय चेतना भी भरते हैं। सच तो यह है कि पाठकों को समाजोन्मुख बनाने और उनमें राष्ट्रीय चेतना जाग्रत करने की वजह से ही इनके संपादकीय की सार्थकता सिद्ध होती है। निःसंदेह आने वाले समय में यह 'समकालीन संपादकीय' ऐतिहासिक संदर्भों के परिपेक्ष्य में महत्त्वपूर्ण दस्तावेज साबित होगा और लोग चाव से पढ़ेंगे, क्योंकि समाज और राष्ट्र दोनों क्षेत्रों के उपयोगी तत्त्वों को लेकर ही सही मानवीय गुणों के निर्माण के साथ-साथ स्वस्थ समाज और सबल राष्ट्र का निर्माण हो सकता है। 'समकालीन संपादकीय' का यह लेखक साहित्य एवं पत्रकारिता को लोक जीवन से संपृक्त कर रहा है, इसमें तनीक संदेह नहीं। प्रस्तुत पुस्तक से पत्रकारिता जगत के साथ-साथ साहित्य संसार में अपार लोकप्रियता मिलेगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

सिद्धेश्वर जी के साहित्य हों या पत्रकारिता उसका मूल्याँकन अभी शेष है। इनकी पत्रकारिता किसी विचार, किसी घटना, किसी हादसे अथवा किसी त्रासदी को उकेरती है और उनकी गहराईयों तक जाकर डूब-डूबकर कुछ चुन लाती है। संपादकीय अग्रलेखों के माध्यम से यह सामाजिक एवं राष्ट्रीय महत्वपूर्ण को रेखांकित करते हैं, क्योंकि इनका मानना है कि ऐसा करके ही बाजारवादी, उपभोक्तावादी तथा प्रदूषणकारी सांस्कृतिक ताकतों से मुकाबला कर पाना संभव हो सकता है। जनता के सवाल पर शासन की उपेक्षापूर्ण नीतियों के विरुद्ध आवाज उठाने में ये कोई कसर नहीं उठा रखते हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि मौजूदा दौर में जब बाजारवाद

से सभी त्रस्त हैं और मुनाफेखोरी की वजह से सांस्कृतिक मूल्य ध्वस्त हो रहे हैं संपादक सिद्धेश्वर जी अपनी नैतिक जिम्मेदारी से पूरी तरह वाकिफ हैं। यह इनके संपादकीय से स्पष्ट है। इनके संपादकीय जीवटता का प्रमाण है, साथ ही भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों की वे सुरक्षा भी कर रहे हैं।

सिद्धेश्वर जी के लिए पत्रिका निकालना एक जुनून है, जो समाज व राष्ट्रहित के लिए आवश्यक है। हालांकि यह जुनून नितांत वैयक्तिक होता है, इसके सुख-दुःख भी व्यक्तिगत होते हैं, किंतु अपेक्षा अवश्य की जाती है कि समाज और सरकारें साथ दें, न दें तो भी कोई बात नहीं। सिद्धेश्वर जी यही मानकर चलते हैं। आखिर तभी तो अपने पेंशन के पैसे पत्रिका के प्रकाशन में लगाकर 'विचार दृष्टि' को नियमित किए हुए हैं और अब यह दसवें वर्ष को पूर्ण कर रही है। इस एक दशक की अवधि में इन्होंने साहित्य के मठाधीशों की तानाशाही सहित साहित्यिक पुरस्कारों संबंधी धांधलियों को भी इन्होंने आड़े हाथों लिया है। संपादकीय अग्रलेखों तथा अपने आलेखों के माध्यम से इन्होंने यह भी बताने की चेष्टा की है कि पूँजीवादी व्यवस्था पत्रकारिता और साहित्य दोनों को नष्ट कर रही है। जहाँ उपभोक्ता संस्कृति ने अभी पांव नहीं पसारे हैं, वहाँ साहित्य और साहित्यिक पत्रिकाओं का महत्त्व बना हुआ है। इस दृष्टि से इनका स्पष्ट मत है कि यदि आदर्श जीवन मूल्य-मर्यादाओं का संरक्षण करना है तो साहित्य और पत्रिकाओं को जैसे भी हो जीवित रखना होगा। वैसे भी समाज व देश हित के लिए साहित्यिक पत्रकारिता एक ऐसा वरदान है जो हमारे जीवन मूल्यों की सुरक्षा करने की क्षमता रखती है। इस दृष्टि से यदि सिद्धेश्वर जी के संपादकत्व में दिल्ली से प्रकाशित पत्रिका 'विचार दृष्टि' और उसके संपादकीयों से जब हम गुजरते हैं, तो पाते हैं कि इन्होंने अच्छी परंपरा को सदैव जीवित रखने का प्रयास किया है। इनके संपादकीयों से यह स्पष्ट है कि यदि कुछ लोग बिकने के लिए तैयार हैं, तो अनेक लोग कुर्बानी देने को भी तत्पर हैं और पत्रिकाओं के समक्ष खड़ी अनेक चुनौतियों का मुकाबला करने को तैयार हैं।

सिद्धेश्वर जी अपने संपादकीयों में भारत में तेजी से बढ़ती अपसंस्कृति पर अपनी चिंता व्यक्त करते हुए कहते हैं कि विश्व के लिए प्रेरणा बनी यह धरती, जो हिंदू, जैन, बौद्ध तथा सिख धर्म की जन्मस्थली है, जिसकी सभ्यता और संस्कृति ने कभी पूरे विश्व को दिशा दी है और जहाँ के रग-रग में मानवीयता का पुट रहा, उसी धरती पर आज अपसंस्कृति का पनपना और सहिष्णुता का लोप होते जाना सचमुच चिंता का विषय है। ऐसे समय में संपादक सिद्धेश्वर जी ने क्रांतिकारी जनचेतनात्मक अभियान की जरूरत को महसूस किया है और यह काम समाज के

सजग नागरिकों की निष्ठा, लगन एवं समर्पण भाव से ही संभव है। मगर दुःखद स्थिति यह है कि हम आज एक ऐसी स्वार्थयमयी मानसिकता में जी रहे हैं जहाँ केवल वर्तमान उपयोगिता तक ही हमारी नजर रहती है सद्‌वृत्ति के अधिकाधिक अभाव के कारण देश की उस संस्कृति का ह्रास होता है जिसमें सद्‌गुणग्राहिता एवं तत्संस्तवना का अत्यंत महत्त्व रहा है। सिद्धेश्वर जी के संपादकीय से यह साफ झलकता है कि ये अतीत की गरिमा के मूल्याँकन में समुत्साहित हैं, समर्थ हैं। आखिर तभी तो ये आज संकल्पबद्ध होकर नैतिक विकास के संदर्भ में कार्यशील हैं और 'विचार दृष्टि' के जरिए इन्होंने एक अभियान छेड़ रखा है जिसके लिए इन्होंने अनक सुयोग्य, रचनात्मक एवं प्रतिभावान कार्यकर्ताओं एवं रचनाकारों को मंच तथा 'विचार दृष्टि' के साथ जोड़ रखा है। आशा ही नहीं मुझे पूर्ण विश्वास है कि पत्रकारिता के क्षेत्र में वर्तमान दौर के उर्जस्वी पत्रकारगण और लघु पत्र-पत्रिकाओं के संपादक इस पुस्तक से अभिनव प्रेरणा ग्रहण करेंगे और उसी में इसके लेखक का श्रम-सार्थक फलित होगा। इतने अच्छे संकलन के लिए लेखक को मैं हार्दिक साधुवाद देता हूँ और दीर्घायु होने की कामना करता हूँ।

सी-6, पथ सं0-5, डा. शाहिद जमील
आर ब्लाक, पटना 800001. उप संपादक, 'विचार दृष्टि'
मोबाइल : 09430559161

शुभाशंसा

संवेदना-संपन्न दृष्टि से चित्रित संपादकीय

सिद्धेश्वर जी द्वारा संपादित 'विचार दृष्टि' पत्रिका का जब भी नया अंक पाठकों के समक्ष आता है तो सच्चे अर्थों में ये अपने संपादकीय दायित्व का निर्वाह बड़ी ईमानदारी से करते पाए जाते हैं और इनकी संतुलित-नियोजित संपादन-दृष्टि की वजह से किंचित अलग तरह से यह पत्रिका आकर्षित करती है। इस पत्रिका का प्रत्येक संपादकीय लेख स्वयं में विमर्श के कई प्रश्न बिंदु समेटे हुए रहते हैं और इसके प्राय: प्रत्येक अंक में समकालीन सृजन समीक्षा भी देखने को मिलती है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह भी है कि इसमें अपना महिमामंडन नहीं होता और लेखकों के साथ संपादक की आत्मीयता का प्रसंग काफी रोचक रहता है। इसी प्रकार संपादक की कलम से इसमें किसी व्यक्ति अथवा लेखक के प्रति कुत्सा का प्रकाशन नहीं किया जाता है। ऐसे संपादक के संपादकीयों का संकलन - 'समकालीन संपादकीय' का प्रकाशन पत्रकारिता जगत के लिए एक शुभ संकेत है। सिद्धेश्वर जी की पहचान अब तक मूल रूप से एक सामाजिक कार्यकर्ता एवं सुलझे चिंतक की रही है, किंतु 'समकालीन संपादकीय' का प्रकाशन उनके पाठकों के लिए एक नए आस्वाद की तरह है, क्योंकि इस पुस्तक में संपादक के रूप में उनके अनुभवों का एक विस्तृत दायरा मौजूद है, जहाँ पत्रकारिता का एक अतीत है और वर्तमान एवं भविष्य भी। इन्होंने सांझा संस्कृति को भी अपने लेखन का विषय बनाया है। धार्मिक कट्टरवाद के इस दौर में सिद्धेश्वर के चिंतन और लेखन की जानकारी सांझा संस्कृति की मजबूती और उसके विकास के लिए आवश्यक है।

प्रस्तुत पुस्तक में मानवीय संबंधों, सामाजिक लगावों तथा राष्ट्रीय मुद्दों से संबंधित विभिन्न विषयों का जैसा और जितना चित्रण-विश्लेषण लेखक सिद्धेश्वर ने किया है वह उनकी कल्पना समृद्धि के साथ-साथ उनकी अनुभवजन्य संपदा का भी प्रमाण है। पुस्तक में सम्मिलित सभी संपादकीयों की सबसे बड़ी विशेषता है संपादक की निर्भीकता और खरी-खोटी कहने की क्षमता। 'समकालीन संपादकीय' अपनी व्यंजक, प्रांजल, प्रवाहमयी भाषा के लिए पढ़ी जानी चाहिए। इन संपादकीयों में व्यक्त विचार समाजवादी व गाँधीवादी

विचारक के साथ-साथ सामाजिक संस्कृति के प्रवक्ता के विचार हैं। पंथनिरपेक्षता संपादक की बहुत बड़ी वैचारिक संपत्ति है, जिसका निदर्शन पुस्तक में यत्र-तत्र सर्वत्र होता है।

राष्ट्रीय व सामाजिक चेतना 'समकालीन संपादकीय' की धुरी है। प्राय: सभी संपादकीयों के सारे कथ्य और तथ्य उसी के आस-पास घूमते हैं। संपादक ने उसे एक मनस्विनी, विवेकशील एवं संवेदना-संपन्न दृष्टि से चित्रित किया है।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि बुद्ध और महावीर की करुणा से लेकर 'बापू' की अहिंसा तक मानवीय संवेदना की जो कल्याणी धारा देश में प्रवाहित होती रही है, संपादक सिद्धेश्वर उससे आपादमस्तक आप्लावित हैं। उनकी संवेदना कहीं समता-समानता का रूप धारण करती है, तो कहीं सौहार्द और सांप्रदायिक सद्‌भाव के रंग बिखेरती है।

बहुमुखी प्रतिभा के धनी, भारतीय संस्कृति, मानवीय जीवन मूल्य और राष्ट्रीयता के रंग में डूबे सिद्धेश्वर भले इंसानों एवं सजग नागरिकों के लिए प्रेरणादायक हैं। देश के उत्तरी तथा दक्षिणी भागों को हिंदी साहित्य के धागों से बाँधने के प्रयास में लगे सिद्धेश्वर अथक प्रयास, अनवरत श्रम तथा कठोर साधना करते हुए एक निर्भीक तथा साहसी सैनिक की तरह गंतव्य की ओर अग्रसर हैं। इसी क्रम में इनका लेखन भी जारी है, पत्रकारिता का काम भी कर रहे हैं और संगठन के कार्यों का समन्वय भी बखूबी निभा रहे हैं।

'विचार दृष्टि' तथा 'प्रहरी' आदि पत्र-पत्रिकाओं में इन्होंने जो संपादकीय लिखे उसका संकलन कर 'समकालीन संपादकीय' का प्रकाशन एक सराहनीय कार्य है। इससे गुजरने के बाद सिद्धेश्वर जी को समाजवादी जीवन दर्शन के साथ एक प्रतिबद्ध उत्कृष्ट सामयिक विचारक की संज्ञा प्रदान करना न्यायोचित होगा। प्रस्तुत पुस्तक में सिद्धेश्वर की रचना-दृष्टि, वैचारिक प्रतिबद्धता, सांस्कृतिक गरिमा के प्रति लगाव, भारतीयता के प्रति निष्ठा और अतीत एवं आधुनिक चिंतनों में सामंजस्य स्पष्ट नजर आता है। सिद्धेश्वर के इन संपादकीयों को पढ़ने से ऐसा लगता है कि ये दु:खों को संभालते और समस्याओं को सुलझाने की कोशिश भी करते हैं। सुलझाने के इस कार्य को मस्तिष्क से कम हृदय से अधिक करते हैं। विविधता से सजे इनके अधिकतर संपादकीय रास्ते में न होकर जीवन की दृष्टि से एक निश्चित उपलब्धि पर पहुँचे हुए हैं। इसके जरिए पाठक सिद्धेश्वर के जीवन को, विचारों को, भावों को, विषय चयन को, अभिव्यक्ति को, राष्ट्रबोध को

और युग बोध को बखूबी जान सकते हैं। संकलन की भावात्मक तथा राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से बहुत बड़ी सार्थकता है। इस संकलन में सिद्धेश्वर ने अपने विषय के सभी पहलुओं का गंभीर एवं व्यापक अध्ययन किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक अपने विषय का अनेक वर्षों से अध्ययन करता आया है। वस्तुतः यह ग्रंथ समस्त भारतीय साहित्य एवं पत्रकारिता जगत के लिए एक विशिष्ट देन है। मैं मनीषी संपादक व लेखक को हार्दिक बधाई देता हूँ। भविष्य में पत्रकारिता पर शोध करने वालों के लिए सामग्री-संकलन की दृष्टि से इस ग्रंथ के सभी खंड महत्त्वपूर्ण हैं। निश्चय ही यह संकलन भारतीय शोध-कार्य का महत्त्वपूर्ण अध्याय माना जाएगा और इसके लिए 'विचार दृष्टि' के संपादक सिद्धेश्वर प्रशंसा के पात्र हैं। इन्होंने अपनी साहित्यिक कृतियों से न केवल अपनी मातृभाषा हिंदी साहित्य की स्तुत्य सेवा की है, प्रत्युत हिंदी में इस ग्रंथ की रचना करके राष्ट्रभाषा हिंदी साहित्य को समृद्ध करने में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। भाषा, जाति, वर्ण, संप्रदाय और क्षेत्र की सीमाओं से ऊपर उठकर इस संकलन के लेखक भारतीयता, इंसानियत और वसुधैव कुटुम्बकम् की मनोभूमि में विचरण करते हैं। पत्रकारिता इनके लिए शौक नहीं, वरन् वैचारिक अवधारणा की अभिव्यक्ति का साधन है। संपादक के लिए शाश्वत सत्य किसी अव्यक्त सत्ता का संधान नहीं, अपितु व्यक्त मानव का हित-संपादन है। आखिर तभी तो इस संकलन के संपादकीयों में लोकतंत्र के उदात्त-मूल्य और जनहित का भाव उभरकर सामने आता है और ये संपादकीय न केवल तथाकथित धर्म के ठीकदारों तथा मठाधीशों पर प्रहार करते हैं, बल्कि उनकी यौन-विकृतियों पर भी प्रहार करके उदात्त-मूल्यों के परिपालन की आवशकता पर बल देते हैं।

कथन और कर्म का सामंजस्य भारतीय संस्कृति का उज्ज्वल पहलू है। कथन और कर्म में जब अंतर होता है, तो कथन की गरिमा विघटित तथा प्रभावहीन हो जाती है। इसी चिंतन का प्रभाव इस संकलन के लेखक की पृष्ठभूमि बना है। इनके हृदय में इसी चेतना-भूमि से कथनी और करनी का सामंजस्य प्रस्फुटित हुआ। इसी ने इनकी संस्कृति की आधारशिला रखी और इसी संस्कृति के चलते इनमें देश तथा समाज के प्रति प्रतिबद्धता बढ़ी तथा राष्ट्रीयता की भावना इनमें आई। यथार्थ में राष्ट्रीयता के निर्वाहक उच्च सामाजिक स्तर के व्यक्ति ही होते हैं। भारत सदैव ऐसे व्यक्तियों की कर्मस्थली रहा है। सिद्धेश्वर ने अपने प्रत्येक संपादकीय में भारतीय संस्कृति के श्रेष्ठतम आदर्शों को मुखरित किया है। इस आधार पर यह भली प्रकार कहा जा सकता है कि रचनाकार

सिद्धेश्वर प्रति क्षण राष्ट्रीयता की भावना से ओत-प्रोत हैं और उसी का श्वास लेते हैं तथा रचना के विभिन्न क्षेत्रों में उसी के रूपायन का प्रयास करते हैं।

इस पुस्तक के लेखक सिद्धेश्वर पत्रकार के साथ-साथ एक साहित्यकार भी हैं और एक समाज सेवी भी। इसलिए इनके समक्ष जब कभी समाज का कुत्सित और उत्तेजना फैलाने वाला संदर्भ आता है, तो ये कुशल शिल्पी की तरह अपनी कलम की धार से उसे इस तरह प्रकट करते हैं कि जिससे साँप भी मर जाए और लाठी भी न टूटे। इनकी दृष्टि भारतीय सामाजिक तथा सांस्कृतिक आदर्शों पर ठीक उसी प्रकार केंद्रीत रहती है, जिस प्रकार एक किसान की नजर अपनी फसल पर। सिद्धेश्वर जी ने जहाँ समाज रूपी भूमि में उदित एवं विकसित असामाजिक तत्त्वों को देखते हैं, तो अपनी प्रखर लेखनी से उनका उपचार कर डालते हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर देखा जाए तो यह संकलन न केवल पाठकों के लिए अनूठा बन पड़ा है, बल्कि पत्रकारिता जगत के लिए एक अनुपम देन है जिसका समादर हृदय से लोग करेंगे, यही शुभाशंसा भी है मेरी। लेखक को मैं अपनी हार्दिक शुभकामना देता हूँ।

डॉ. देवेन्द्र आर्य
संपादक, इन्द्रप्रस्थ साहित्य भारती
नई दिल्ली

अध्यक्ष, अ.भा. साहित्य परिषद
दिल्ली प्रदेश
बी-98, सूर्यनगर,
ग़ाज़ियाबाद-201301
मो.-09810277622

जनमत को प्रभावित करने वाले संपादकीय

समकालीन संपादकीय के अग्रलेखों में व्यक्त लेखक के चिंतन और विचारों का देश व समाज के विकास पर गहरा असर पड़ता है, क्योंकि इनका मन समाज और जीवन की गंभीर समस्याओं से उलझा रहता है। इन संपादकीयों के माध्यम से ये जनमानस को उतारने और उनके विचारों को नई दिशा देने का प्रयास करते हैं। यही नहीं बल्कि जनता के चरित्र में इन्होंने निष्काम कर्म के आदर्श को मूर्त रूप देने की कोशिश की है। कारण कि सिद्धेश्वर जी स्वयं भी केंद्र सरकार की सेवा से स्वैच्छिक निवृत्ति के बाद व्यापक और वृहतर राष्ट्रहित में निष्काम सेवा में जुट गए और आज भी अनवरत रूप से संगठन, साहित्य और पत्रकारिता के क्षेत्र में कार्यरत हैं।

आज जब सब जगह नंदीग्राम और सिंगूर जैसी स्थिति है और राष्ट्र बेरोजगारी, आतंकवाद, भ्रष्टाचार व आत्महत्याओं की समस्या से जूझ रहा है, सिद्धेश्वर जी का संपादकीय लेखन इन सवालों से टकरा रहा है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि आज के युग में जनसंचार का बहुत महत्व है, क्योंकि इसने हमारी संस्कृति को प्रभावित किया है। जन संचार के मुख्य माध्यमों से प्रिंट मीडिया भी एक प्रमुख माध्यम है जिसके जरिए इस पुस्तक के लेखक अपने विचारों को जनता तक पहुँचाना चाहते हैं, ताकि उनके विचारों, में परिवर्तन आ सके और उन्हें नई दिशा मिल सके। इस प्रकार देखा जाए तो इनके संपादकीय जनमत को प्रभावित करने में बहुत हद तक सफल हुए दिखते हैं।

सिद्धेश्वर जी के संपादकीयों से गुजरने के बाद यह स्पष्ट है कि लेखक को हिंसक प्रवृत्तियों पर काबू पाने की चिंता है जिसके लिए सामाजिक विषमता एक प्रमुख कारण है। आज वैश्वीकरण के दौर में जिस प्रकार तेजी से सामाजिक विषमता में वृद्धि हो रही है, उसमें आम आदमी निश्चित रूप से खुद को असहाय महसूस करता है। यह असहायपन ही विभिन्न स्तरों पर हिंसक प्रवृत्तियों को बढ़ावा देती है। इसके समाधान में सिद्धेश्वर जी समानधर्मी संस्थाओं तथा एक मन के लोगों के साझा प्रयास की आवश्यकता पर जोर देते हैं। साझा कार्य संस्कृति को विकसित कर ही हिंसक प्रवृत्तियों पर काबू पाया जा सकता है।

पुस्तक के संपादकीय अग्रलेखों में भाषाई गुलामी और राष्ट्रभाषा हिंदी के माथे की बिंदी न हो पाने पर चिंता प्रकट की गई है। वास्तव में अँग्रेजियत हम पर इस

कदर हावी है कि सरकारी विज्ञप्तियों से लेकर न्यायालयों के निर्णय, वेशभूषा और खाना पूर्ति में अँग्रेजियत, राजनीति तथा शिक्षण संस्थानों तथा आपसी बोलचाल आदि सभी में अँग्रेजी का बोलबाला है। ऐसी स्थिति में आखिर जब हम सभी जगह अँग्रेजी के गुलाम हैं, तो स्वतंत्रता की सांस कहाँ से ले सकते हैं। इस दृष्टि से संपादक की चिंता स्वाभाविक है और यदि हमें अपनी आजादी का एहसास जनता को कराना है, तो अँग्रेजी के मार्ग से मुक्त होना होगा और हिंदी को माथे की बिंदी बनानी होगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि सिद्धेश्वर जी राष्ट्र-भाषा और राज-भाषा हिंदी के आंदोलन में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। हिंदी की अनेक संस्थाओं से जुड़कर तथा रेलवे हिंदी सलाहकार समिति के सदस्य के पद पर रहकर इन्होंने हिंदी के व्यापक और उचित प्रचार-प्रसार के लिए प्रयास किया। इनका मानना है कि किसी राष्ट्र की कल्पना राष्ट्र-भाषा के बिना संभव नहीं है।

पुस्तक के संपादकीय अग्रलेखों को पढ़ने से यह स्पष्ट होता है कि इसके लेखक को पुरुषार्थ में विश्वास है और ये जानते हैं कि 'कल' कुछ भी नहीं। हमारे आज और आज का जोड़ ही कल होगा, जैसे हमारे विगत कालों का जोड़ आज है। ऐसे ही आज और आज के जोड़ का नाम कल है। इसलिए सिद्धेश्वर जी अपने हाथों अपना भविष्य गढ़ने का प्रयास करते हैं और लगन, निष्ठा, अध्यवसाय और ईमानदारी से पत्रकारिता के साथ समाज व साहित्य की सेवा करते हैं। इनके संपादकीय अग्रलेखों का यह संकलन इस बात का प्रमाण है कि एक पत्रिका में सत्य को निर्भीकता के साथ रखने के लिए जिस साहस की आवश्यकता होती है वह संपादक सिद्धेश्वर जी में प्रतिबिंबित है। ये इस उम्र में जिस लगन, निष्ठा , प्रतिबद्धता और परिश्रम से 'विचार दृष्टि' को सींच रहे हैं वह आज की पीढ़ी के लिए अनुकरणीय है तथा पत्रकारिता एवं हिंदी जगत दोनों के लिए गर्व का विषय है। मैं कामना करता हूँ कि इस पुस्तक के लेखक अजस्र रूप से सहस्र वर्षों तक स्वस्थ्य रहते हुए कुशलतापूर्वक 'विचार दृष्टि' के संपादन तथा हिंदी साहित्य की सेवा से लोक को निरंतर आलोकित करते रहें।

डॉ. श्याम सिंह 'शशि'
पद्मश्री से सम्मानित
वरिष्ठ साहित्यकार एवं
नृ-वैज्ञानिक

'अनुसंधान'
बी-4/245, सफदरजंग
इन्क्लेव, नई दिल्ली-29
दूरभाष : 011-26173051

सजग दृष्टि व सरल संवेदना के मेल से मर्मस्पर्शी संपादकीय

एक संस्थान के रूप में पत्रकारिता जनतंत्र का चौथा प्रहरी कही जाती है जिसकी अपनी एक अलग अहमियत है वशर्ते कि संपादक तथा पत्रकारों में नैतिकता के प्रति जिम्मेदारी की भावना हो, उनमें समाज व देश के मुद्दों के प्रति चिंतन हो। मगर मौजूदा दौर की पत्रकारिता में वह सब कुछ गौण नजर आता है, क्योंकि अब तो कॉरपोरेट के हाथों हर चीज बेची जाती है। खबर बेची जाती है। संपादकीय की जगह तक बेची जाती है। अब पत्रकारिता बची कहाँ? अब तो प्रेस क्लब में भी सत्ता के आसपास कौन कितना है, इसकी चर्चा होती है और किस तरह क्या हासिल हो सकता है? इस पर चिंतन चलता है। अब तो वहाँ सामाजिक चिंतन की जगह स्वहित चिंतन की बात होती है। इस प्रकार संस्थान के रूप में पत्रकारिता का स्वरूप धुमिल होता दिखाई दे रहा है और विचार का अकाल होता जा रहा है, क्योंकि आज पत्रकार महज नौकरी पेशा कर्मचारी बनता जा रहा है और मिशनरि भावना कम होती जा रही है।

ऐसे वक्त भी प्रस्तुत पुस्तक 'समकालीन संपादकीय' के लेखक सिद्धेश्वर की यह कोशिश रही है कि सत्ता के करीब रहते हुए भी सत्ता की सेवा का आनंद न उठाकर अपनी पत्रिका 'विचार दृष्टि' के जरिए सामाजिक एवं राष्ट्रीय चिंतन को महत्त्व दिया जाए, व्यक्ति व समाज के तमाम प्रश्नों पर विचार किए जाएँ ताकि इंसान समाज के उन सभी रहस्यों को समझ सके जिसको या तो वह खोता जा रहा है या फिर उसके बारे में बहुत कम जानता है।

'समकालीन संपादकीय' नाम्नी यह पुस्तक मुख्य रूप से सिद्धेश्वर जी द्वारा संपादित राष्ट्रीय चेतना की वैचारिक पत्रिका 'विचार दृष्टि' के लिए लिखे गये संपादकीय अग्रलेखों का संकलन है। संपादकीय पृष्ठ किसी भी पत्र-पत्रिका का वैचारिक ध्वजवाहक होता है। अपने संपादकीय दायित्व का निर्वाह करते हुए लेखक सिद्धेश्वर ने अपनी सजग दृष्टि व सरल, संवेदना के मेल से मर्मस्पर्शी गद्य की रचना की है। इन्होंने सूचना और इतिवृत से निकालकर उसे रचना का घर दिया, जहाँ अंतवृत्ति चेतना, संवेद, सरोकार, संदर्भ, चिंतन-मनन, भाषा, विश्लेषण, शिल्प और रंग छटाओं से उसे पोषण और शायद लावण्य भी मिला। इन संपादकीयों में जहाँ सदियों से संजोकर रखी परंपराओं और संस्कृतियों की चमक दिखाई देती है, वहीं आज के बदलते परिवेश और बदलती पीढ़ियों के अनूठे एवं नए अंदाज के नए रंग-रूप मिलते हैं और साथ ही मिलती है आवाम की सोच बदलने की ताकत।

इस बात से हम सब अवगत हैं कि भारत में अँधविश्वासों, रूढ़ियों और कुप्रथाओं की भी अपनी परंपरा रही है। यह वही देश है जहाँ मृतक पति के साथ पत्नी को जीवित जलाया जाता है और कुछ वर्गों द्वारा उसे उचित माना जाता रहा है । हमें

खुशी इस बात की है कि सिद्धेश्वर जी ने इस पुस्तक में इस जड़ सोच पर कड़ा प्रहार किया है। लेखक ने तमाम तरह के ऐसे विषयों पर अपने विचार व्यक्त करते वक्त आम आदमी को याद रखा है, जो उसके लिए कसौटी की तरह है, क्योंकि इन्होंने बराबर अपने लिए नहीं, दूसरों के लिए सोचने की बात की है, ताकि पीड़ितों के जीवन में रोशनी दी जा सके। किसी जरूरतमंद के लिए हमारा मामूली सहयोग भी बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकता है। इसी दृष्टि से लेखक ने कम से कम एक दीया दूसरों के लिए जलाने की बात की है। आज इस देश व समाज में जिस प्रकार शराब, हिंसा, अपराध, अनाचार, फूट-टकराव तथा लड़ाई-झगड़ों की आग में लोग जल रहे हैं, आरक्षण, चुनाव आदि को लेकर जिस प्रकार जातीय द्वेष बढ़ रहे हैं, ऐसे में लेखक ने जातियों का कालीन पर एक साथ बैठने, संगठित होने, आपसी विवादों को मिल बैठकर सुलझाने तथा मिली-जुली कार्य संस्कृति को विकसित करने की जो बात की है वह स्वागत योग्य है। इनकी समझ, कथ्य और कथनी-करनी में सामंजस्य काबिलेतारीफ है। आखिर तभी तो इनके विचारों का प्रभाव दूसरों पर काफी पड़ता है। वैसे भी सिद्धेश्वर जी सत्य के अनुशीलन को मानते हैं।

'समकालीन संपादकीय' सिद्धेश्वर जी की ऐसी कृति है जिसको पढ़ना सिर्फ एक वैचारिक संपादकीय दस्तावेज से गुजरना नहीं, बल्कि एक अनुभव-समृद्ध विवेकशील संपादक के साथ उनके रचना-संसार के अनेक कोनों और गलियारों से गुजरना है। इस कृति से नए पाठकों को जहाँ एक सुलझे संपादक से परिचित होने का सुख मिलेगा, वहीं पुरानों के अभिज्ञान का एक विलक्षण आनंद। इस पुस्तक के लेखक सिद्धेश्वर की पहली विशेषता तो यही है कि ये पेशेवर अर्थ में संपादक नहीं हैं। वस्तुत: ये प्रकृति से विचारक हैं, कर्म से अनुभवसिद्ध सामाजिक कार्यकर्ता और रुचि से एक सधे रचनाकार। इसीलिए पूरी पुस्तक की भाषा और व्याख्या-विश्लेषण में एक सहज अनौपचारिकता की गँध मिलेगी, जो इसे इस प्रकार के अन्य लेखन से भिन्न और विशिष्ट बनाती है। दरअसल यह पुस्तक सिद्धेश्वर के संपादन-संसार की ओर खुलने वाली एक खिड़की है जिससे आती हुई रोशनी पर भरोसा किया जा सकता है। यह रोशनी पत्रकारों-पाठकों तक पहुँचेगी - ऐसा मेरा विश्वास है। पत्रकारिता व साहित्य जगत में इस पुस्तक का निश्चित रूप से स्वागत होगा और पत्रकारिता पर शोध करने वाले शोधार्थियों के लिए एक अनूठा दस्तावेज, जो तथ्यों और सामग्रियों का संग्रह ही नहीं, बल्कि मूल्यांकन का विश्वसनीय मानदण्ड भी है। इतनी अच्छी पुस्तक के लिए इसके लेखक को मेरी हार्दिक बधाई और उनके दीर्घ आयु के लिए मंगल कामना।

डॉ. धर्मेन्द्र नाथ 'अमन'
पूर्व प्राध्यापक,
राजधानी कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय

बी.-139, पॉकेट-बी,
मयूर विहार, फेज-2
दिल्ली-110091

◈◈

समकालीन कशमकश को बारीकी से उजागर करते संपादकीय

व्यक्ति समाज और राष्ट्र के किस रूप में काम आ सकता है इस सवाल का जवाब और उसका समाधान इस पुस्तक में लेखक ने बखूबी प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। मानव जीवन का उद्देश्य और उसकी सार्थकता का आभास यह पुस्तक हमें कराती है। यही नहीं, इस देश में नौकर से लेकर नौकरशाही, संतरी से लेकर मंत्री तक भ्रष्टाचार की गिरफ्त में आए लोगों से निपटने के लिए हमें खुद को और अपनी सोच को बदलने एवं संघर्ष करने की आवश्यकता पर बल दिया गया है, यह लेखक की मानसिकता का द्योतक है।

समकालीन कशमकश को सिद्धेश्वर ने अपने संपादकीयों में जिस बारीकी और सच्चाई से जाहिर किया है वह उनकी विश्लेषणात्मक समझ को उजागर करती है। पूरी पुस्तक में वर्तमान दौर की वैचारिकी और सैद्धांतिकी को व्यक्त करती ऐसी टिप्पणियाँ हैं, जो एक बेहतर संपादक की भूमिका को दर्शाती हं। वे अमूर्त कथ्यरूपात्मक संपादकीय और कुछ समय बाद अर्थहीन हो जाने वाली रपटें नहीं हैं। अपने समय और संवाद को समझकर संपादक-लेखक ने तात्कालिक महत्त्व की सामग्री को स्थायी स्वाद देने वाली रचना बना दिया है। कारण कि पत्रकारिता के सिद्धांत से इन्होंने कभी समझौता नहीं किया। आखिर तभी तो 'विचार दृष्टि' के प्रवेशांक (अक्टूबर-दिसंबर 1999) के संपादकीय में ही पत्रिका के उद्देश्यों पर प्रकाश डालते हुए संपादक ने लिखा है- ''अवधारणा यह है कि यह पत्रिका जीते-जागते जन की गरीबी, गैर-बराबरी, शोषण और संघर्ष, दु:ख-दर्द और दमन के खिलाफ आम आदमी को वाणी दे, आर्थिक रूप से कमजोर वर्ग के सामूहिक नरसंहार, औरतों पर अत्याचार आदि इसके लेखक की पीड़ा बने। आजादी की आधी शताब्दी से अधिक बीत जाने के बाद भी जिनकी झोपड़ियों में विकास की किरणें अभी तक नहीं जा पाई हैं उनमें चेतना जागृत करने तथा आम जन-मानस को वैचारिक धरातल पर झकझोरने का प्रयास यह पत्रिका करेगी।'' कहना नहीं होगा कि संपादक अपनी इस वचनबद्धता पर आज भी कायम हैं।

हिंदी पत्रकारिता आज जिस प्रकार घनघोर रूप से व्यावसायिक हो चुकी है, ऐसे में शुद्ध रूप से वैचारिक पत्रकारिता करने वालों का दायित्व और भी बढ़ जाता है। सिद्धेश्वर जी इस तथ्य से अपरिचित नहीं हैं। इस ख्याल से अधकचरे पाठकों को भरमाने वाली अनर्गल और निरर्थक वृतांत का समावेश करके ये कुत्सित नहीं होते और न अधिकाधिक ग्राहकों तक पहुँचने की कोशिश में हर पत्रिका की तरह साधारण, घटिया, अपरिष्कृत और अश्लील सामग्रियाँ पाठकों के

समक्ष प्रस्तुत करते, बल्कि सच तो यह है कि संतुलन साधकर गिरावट लाए बगैर बेहतर और लोकप्रिय सामग्री इनकी 'विचार दृष्टि' पत्रिका में प्रस्तुत की जाती रही है। दरअसल फूहड़ता इनके दिमाग में कभी आई ही नहीं, क्योंकि पत्रिका की बिक्री और मुनाफे की बात इनके दिमाग में कभी नहीं आई। इन्होंने हमेशा राष्ट्रीय व सामाजिक चेतना के वैचारिक पहलुओं तथा कल्पनाशील सृजन पर अधिक बल दिया। इससे इनकी बौद्धिक श्रेष्ठता का बोध होता है।

वस्तुत: सिद्धेश्वर के हर संपादकीय में अपने कल के दहाड़ते-ललकारते सच हैं और इस दौर में पत्रकारिता से जुड़े सिद्धेश्वर का रचनाकार बड़े भारी तनावों-संघर्षों से गुजरा है जिसमें समय, समाज, राजनीति और संस्कृति के अनुभव-सत्य बड़ी जीवंतता के साथ धड़के हैं। कठिन से कठिन आर्थिक संकट की घड़ी में भी इन्होंने अभाव, अपमान, पीड़ा और विवशता के सामने कभी घुटने नहीं टेके। अपने वर्तमान और भविष्य को सिद्धेश्वर जी ने स्वयं अपने कठोर कर्म से गढ़ने-संवारने का काम किया। इस अवधि में हर असंभव को संभव बनाने के लिए जैसे वे कृत-संकल्पित रहे। चाहे ग्रामीण क्षेत्रों के संघर्ष हों या नगरों-महानगरों की पीड़ाओं, विसंगतियों, विद्रूपताओं-अभावों से उत्पन्न जीवनानूभूतियाँ हों, सभी ने इन संपादकीयों में एक ऐसा रसायन पनपाया है कि जीवनानुभूतियों की विविधता, विपुलता और संपन्नता ने स्थान पाया है। देश-प्रेम, देश-भक्ति, राष्ट्रीयता की अर्चना-वंदना, अराधना-उपासना को चित्रित करने में इनकी धारदार कलम चली है। इसी प्रकार श्रद्धा और संस्कृति के मूल आधार को भी इन्होंने नहीं छोड़ा है। पश्चिमवाद के चक्रवात से ढेर हो चुकी भारतीय संस्कृति को भी ये भूलते नहीं। भारतीयता की यह वही जिद है जिसे जीवन के अँतिम पड़ाव पर अज्ञेय और निर्मल वर्मा गहे रहे थे।

सच तो यह है कि संपादकीय का काम है देश और काल में निरंतर बदलते मनुष्य को परिभाषित करना। सिद्धेश्वर जी इसी मानष-भाव के सच की संभावना को तलाशते रहे हैं और यही तलाश इनके तमाम संपादकीयों की संवेदना में है। यही संवेदना इन संपादकीयों का यथार्थ है। इन संपादकीयों का सच पाठक के मानस को झंकृत कर आंदोलित करने को विवश करता है। सिद्धेश्वर जी का मन स्थिति-परिस्थिति की रगड़ से सच की आग उगलती है, जो पाठक को भीतर से पकड़कर बेचैन करती है। दरअसल इन्होंने सदैव अपनी क्षमता का सम्यक प्रयोग किया है और अपनी संकल्पशक्ति के बल पर अपने समक्ष आई चुनौतियों का डटकर सामना किया है जिसकी वजह से चाहे 'विचार दृष्टि' का प्रकाशन हो या फिर राष्ट्रीय विचार मंच के संचालन का, सभी को साथ लेकर चलने में इन्होंने सफलता पाई है। इस संकलन के लिए हार्दिक साधुवाद।

आलोक मेहता
संपादक, 'आउटलुक'
अध्यक्ष, एडिटर्स गिल्ड ऑफ इंडिया
ए. बी. 6, सफदरजंग एन्क्लेव, नई दिल्ली-29

भूमिका

सामयिकता के साथ-साथ तात्कालिकता को भी साधने की कोशिश

सिद्धेश्वर जी से रेलवे हिंदी सलाहकार समिति की बैठकों के दौरान मिलना होता था। लेकिन उनके लिखे को पढ़ने का और उनके द्वारा संपादित पत्रिकाओं को देखने का मौका दुर्भाग्य से नहीं मिला। फिर एक दिन वे एक पांडुलिपि लेकर आए और कहा कि इसकी भूमिका आपको लिखनी है। उन्हीं के सौजन्य से 'राष्ट्रचेता' और 'विचार दृष्टि' पत्रिकाओं के भी कुछ अंक मिले जिनका वे संपादन करते हैं।

निरंतर यात्राओं और अन्यथा व्यस्त रहने के कारण उनकी दी गई डेड लाइन साध नहीं पाया। 'समकालीन संपादकीय' का प्रकाशन टलता गया और मुझ पर एक अपराध बोध बढ़ता गया कि मेरी वजह से सिद्धेश्वर जी की पुस्तक का प्रकाशन रुका हुआ है। फिर भी पांडुलिपि के कुछ पन्ने पढ़ पाता कि कोई न कोई यात्रा या कोई और जरूरी काम आ जाता और लिखने के लिए जैसा पढ़ना मेरे लिए जरूरी है वह हो ही नहीं पाया। बीच बीच में देह धरे का दंड भी झेलना पड़ा। कोशिश करके भी पांडुलिपि पूरी नहीं पढ़ पाया।

आज भी लिखने बैठा हूँ, तो कुछ ही संपादकीय पढ़ पाया हूँ। 'समकालीन संपादकीय' में सिद्धेश्वर जी के 'प्रहरी', 'संघ मित्रा', 'राष्ट्रीय विचार पत्रिका', 'विचार दृष्टि', 'यादें', 'मयूरा' आदि पत्रिकाओं और स्मारिकाओं में कोई बीस साल में लिखे गए संपादकीय संकलित किए गए हैं। कोई चौंसठ संपादकीयों का यह वृहत संकलन उन्होंने छह खण्डों में विभाजित किया है। शायद इसलिए कि अलग-अलग पत्रिकाओं और अवसरों पर लिखे गए संपादकीय अलग-अलग खंडों में आ जाएँ। पाठक को इससे सुविधा होगी।

ध्यान रखना चाहिए कि ये संपादकीय किसी दैनिक या साप्ताहिक के लिए नहीं लिखे गए थे। फिर भी सिद्धेश्वर जी ने इनमें सामयिकता ही नहीं तात्कालिकता को भी साधने की कोशिश की है। इसलिए इनमें गुजरते समय और घटती घटनाओं का संदर्भ तो है, लेकिन बात ऐसी कही गई है कि जो तात्कालिकता और राजनीति की उठापटक से पार जाती है। निजी और सामूहिक जीवन के ऐसे कालजयी मूल्यों को पकड़ने का प्रयास किया गया है, जो दैनंदिन जीवन की आपाधापी में खो जाते

हैं। सिद्धेश्वर जी की लगातार कोशिश है कि वर्तमान में जीते हुए और अपने आसपास की घटनाओं पर लिखते हुए शाश्वत को हमेशा सामने रखा जाए।

सिद्धेश्वर जी की उद्यमशीलता प्रभावित करती है। वे जिसके पीछे पड़ जाते हैं उसे साधे बिना नहीं रहते। प्रयत्न की यह निरंतरता लक्ष्य की साफ समझ और उसे पाने की दृढ़ इच्छाशक्ति के बिना आती नहीं। लेख जैसा रूक्ष क्षेत्र से शुरु करके सिद्धेश्वर जी ने समाज कार्य और साहित्यिक क्षेत्र में लगातार काम किया। राष्ट्रीय विचार मंच की स्थापना की। पत्र-पत्रिकाएँ निकालीं। राष्ट्रीय जीवन को समृद्ध करने के सारस्वत प्रयोजन में लगे रहे हैं। मैं उनके भगीरथ प्रयत्नों और इस संकलन की सार्थकता की कामना करता हूँ।

बी-408, निर्माण विहार
दिल्ली-110092

(प्रभाष जोशी)
शलाका सम्मान से सम्मानित
वरिष्ठ पत्रकार एवं
जनसत्ता के पूर्व संस्थापक-संपादक

प्रकाशकीय

हमारे पिताश्री सिद्धेश्वर जी प्रस्तुत पुस्तक 'समकलीन संपादकीय' के रचनाकार हैं। यह किताब मूलत: लगभग दो दशक पूर्व से अब तक 'प्रहरी', 'राष्ट्रीय विचार पत्रिका', 'विचार दृष्टि' साझी कृति 'यादें' एवं 'मयुरा' तथा विभिन्न अवसरों पर प्रकाशित स्मारिकाओं में छपे इनके संपादकीयों का संकलन है। दरअसल इन संपादकीयों का संकलन प्रकाशित करने की बात इसलिए उठी कि पत्रिकाओं में पाठकों की प्रतिक्रिया विशेष तौर पर संपादकीयों पर प्राप्त होती रही है और जब कभी संपादक व प्रकाशक से किसी पाठक की मुलाकात हुई, उसने संपादकीय की सराहना मुक्त कंठ से करते हुए इसे किताब का रूप देने की सलाह अवश्य दी, कारण कि पत्रिकाएँ तो सहेजकर रखी नहीं जातीं और पुस्तकें तो पुस्तकालय अथवा पाठक के पास सुरक्षित रखी जाती हैं जिन्हें कई पीढ़ी को पढ़ने का अवसर मिलता है।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि ये ऐसे संपादकीय हैं, जो पहली ही नजर में लेखक व संपादक की प्रतिबद्ध और शोधपरक दृष्टि को मुखर करते हैं। पिताश्री की निगाह अक्सर दुनिया में चीजों को अपने ढंग से देखने की रही है और उन चीजों को देखने की यही निरंतरता इन्हें अपने समय का अन्यतम संपादक बनाती है। सच तो यह है कि पत्रकारिता में काफी अनुभव के बावजूद वक्त के थपेड़ों को इन्हें झेलना पड़ा, मगर ये तनिक भी विचलित नहीं हुए, क्योंकि स्वभाव से काफी विनम्र इनके बारे में कहा जाता है कि इन्होंने जो भी दायित्व संभाला उसे सफलतापूर्वक संपन्न किया और इधर राष्ट्रीय चेतना की वैचारिक संस्था–'राष्ट्रीय विचार मंच' के राष्ट्रीय महासचिव तथा उसके मुख–पत्र 'विचार दृष्टि' के संपादक होने के नाते इन्होंने अपने दम–खम और अपनी इच्छाशक्ति के सहारे इसे नियमित रूप से वर्षों से ये प्रकाशित करते आ रहे हैं जिसके परिणामस्वरूप इनकी लोकप्रियता का ग्राफ काफी बढ़ा है। दूसरी बात यह है कि ये स्वयं भी एक गंभीर पाठक हैं, इसलिए किसी विषय का सपांदन करने में इन्हें महारत हासिल है, ऐसा कहना है इनकी पत्रिका 'विचार दृष्टि' के पाठकों का भी।

इसमें कतई संदेह नहीं कि आज का दौर वैचारिक रिक्तता का एहसास करा रहा है। विचारहीनता और 'विचाररिक्तता' के इस दौर में इसकी भरपाई

विचारों से ही संभव है। मुझे लगता है कि पत्रिका के साथ-साथ इनके संपादकीय से इसकी बहुत कुछ भरपाई हो पा रही है तथा बौद्धिक वातावरण के निर्माण में भी बहुत ही सहायक सिद्ध हो रही है, खासकर तब जब मीडिया आज के दौर में पूँजीवादी व उपभोक्तावादी विचारधारा का प्रवक्ता बनती जा रही है।

हम लोग इस बात से अवगत हैं कि किसी भी कार्य की सफलता हासिल करने के लिए समय के महत्त्व को पहचानना जरूरी है। पिताजी अक्सर कहा करते हैं कि 'पैसा बहुत कुछ हो सकता है, लेकिन सब कुछ नहीं। वह तो आता-जाता रहता है, किंतु गया वक्त कभी लौटकर नहीं आता।' 'इस दृष्टि से जब हम इन्हें देखते हैं तो पाते हैं कि ये न केवल समय की पाबंदी करते हैं, बल्कि समय का बखूबी उपयोग करते हैं। यही वजह है कि कार्य करने की इनकी क्षमता बढ़ती है और साथ ही विश्वसनीयता भी।

इनके संपादकीय कर्त्तव्यबोध कराते हैं। कार्यकर्त्ताओं को इसलिए ये संघर्ष करने का आह्वान करते हैं, क्योंकि ये स्वयं भी करने की आदी हैं। इनकी संघर्षशीलता के भाव से प्रेरित होकर ही सरदार पटेल साहित्य प्रकाशन ने इनके संपादकीयों का एक संकलन प्रकाशित करने की योजना बनाई। प्रकाशन की यह भी योजना है कि इनके द्वारा आज तक जितने भी संस्मरण लिखे गए हैं अथवा विभिन्न विषयों पर जितनी भी रचनाएँ आई हैं, उन्हें पुस्तक का रूप दिया जाए। इनके संपादकीयों के इस संकलन के बाद यह प्रयास होगा कि 'हमें अलविदा ना कहें' शीर्षक एक किताब में इनके संस्मरणात्मक निबंधों को संकलित किया जाए जिसके लिए देशभर में फैले इनके पाठकों से बराबर पत्र प्राप्त हो रहे हैं। इनके द्वारा प्रस्तुत संस्मरण को लोग बड़े चाव से पढ़ते हैं ठीक वैसे ही जैसे इनके संपादकीयों को।

प्रस्तुत पुस्तक का प्रकाशन इस बात को ध्यान में रखते हुए किया गया है कि इसमें सम्मिलित संपादकीयों के माध्यम से पाठकों की मानसिकता में बदलाव आ जाए इसलिए इनके आदर्शों व विचारों को इंगित किया गया है। ये विचार इनके मन को परेशान करते हैं। इसीलिए इन्होंने अपने विचारों को संपादकीय के रूप में लिखा, क्योंकि इन्हें ये लोगों तक पहुँचाना चाहते हैं। साहित्य पढ़ना इन्हें अच्छा लगता है और पढ़ते-पढ़ते तो अब अपनी बात कहने का इनमें अंदाज भी आ गया है, जो कि व्यक्तित्व की एक बड़ी-विशेषता है।

आलेख हो या संपादकीय, इन्होंने लालित्यपूर्ण लिखने का प्रयास किया है। सामाजिक कार्यकर्ता के रुप में कार्य करने की वजह से इनके लेखन-काय सृजन के साथ न्याय कर पाते हैं। इनके संपादकीय की लोकप्रियता इसलिए है कि पाठक संपादक के मूल विचारों से सदैव अवगत होना चाहते हैं। इनके संपादकीयों में एक और बात देखने को मिलती है और वह यह है कि इनमें निरंतर नयापन झलकता है और निरंतर नया रचा जाना ही जीवंतता का प्रमाण है। पिताजी बदलाव के इस इतिहास की समय-समय पर लीक से हटकर परख करते हैं ताकि, हम सब इतिहास में मौजूद यथार्थ का पूरा विस्तार देख सकें और अपने अतीत का अपने वर्तमान से एक जीवंत रिश्ता जोड़ सकें।

पुस्तक, पत्रिका और रचनाओं से इतर इनका जीवन अपने मन के जीवन को हाथ बढ़ाकर प्राप्त कर लेने की अनुपम मिसाल है, समाज में धीरे-धीरे व्याप्त होती जा रही वस्तुवादी मानसिकता ने हमारे समाज के सभी वर्गों को प्रभावित किया है जिसके परिणामस्वरूप आम आदमी को भी अपने अस्तित्व की पहचान हुई है और इसी पहचान से उसे अपने अधिकारों का एहसास कराने में ये संपादकीय काफी हद तक सहायता करते हैं। जब तक उनके भीतर अपने अस्तित्व का एहसास नहीं था,. उनका मान-सम्मान नहीं था, वे बेचारे बने हुए थे, किंतु उन्हें समता और स्वतंत्रता दिलाने के साथ-साथ यदि उन्हें विवेकशील और विचारवान बनाने में इनके संपादकीय सहयोगी साबित होते हैं, तो प्रकाशक को भी इसमें अपनी सार्थकता का एहसास होगा।

विश्वास है यह पुस्तक सामाजिक सरोकारों का प्रकाश स्तंभ बन यथार्थ ठोस सवालों, समस्याओं, विडंबनाओं, परिस्थितियों और सामंतवादी विचारधारा को पाठक वर्ग के समक्ष खोलने में सक्षम होगी।

एस.पी. इन्फोटेक — **सुधीर रंजन**

डी-55, लक्ष्मीनगर — प्रकाशक

दिल्ली-110092 — सरदार पटेल साहित्य प्रकाशन

आभार

साहित्य अथवा पत्रकारिता के लिए लिखते हुए मुझे लगभग तीन दशक से अधिक हो चुके हैं, पर किस क्षण मुझे पुस्तक व पत्रिका के प्रकाशन के लिए अनोखा सहयोग रूपी हाथ मुझे मिल जाएगा इसका पता मुझे भी कभी नहीं रहता है। अभी-अभी पिछले दिनों हमारे मार्गदर्शक प्रो. राम बुझावन सिंह ने जब हमारे जीवन पर आधारित पुस्तक 'सिद्धेश्वर : व्यक्तित्व और विचार' लिखी, उस वक्त भी यह मेरे लिए एक चुनौती थी कि इस पुस्तक के साथ मेरे द्वारा विरचित कृति 'समकालीन यथार्थबोध' अपने आकर्षक और नयनाभिराम साज-सज्जा के रूप में पाठकों के समक्ष कैसे पहुँचे। किंतु प्रो. एम.पी. सिन्हा सरीखे कुछ आत्मीय शुभेच्छुओं के साथ मुद्रक, कांशी इंटरप्राइजेज, शाहदरा के पुत्रतुल्य आशीष अग्रवाल ने पुस्तक की लागत को किस्त में भुगतान करने की सहमति जताकर जैसे उसने मेरे कंधों का दायित्व अपने ऊपर ले लिया, जिसके लिए मैं तहेदिल से उनका आभारी हूँ।

पुनः जब हमारे संपादकीय अग्रलेखों का पुस्तक के रूप में 'समकालीन संपादकीय' के प्रकाशन का प्रश्न खड़ा हुआ, तो सर्वप्रथम प्रो. एम.पी. सिन्हा तथा श्री अरुण कुमार सिंह ने ही सहयोग का आश्वासन देकर मुझे आगे बढ़ने की प्रेरणा दी और जब मैं पांडुलिपि के साथ दिल्ली आया, तो भाई अरविन्द कुमार, सतेन्द्र सिंह तथा सत्यनारायण प्रसाद ने सहयोग प्रदान कर अपने सामाजिक दायित्व का परिचय दिया, जिसके लिए मैं इन सभी आत्मीय शुभेच्छुओं के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ।

आभार और सहयोग के संदर्भ में जैसा कि चिंतक व अर्थशास्त्री ऐंड्रू कारनेगी ने कहा है कि 'अमीर होकर मरना कलंक के साथ मरना है। इस लिहाज से देखा जाए तो इस कलंक से बचने का एक ही सरल उपाय है कि वे परोपकार और सामाजिक कृत्यों में धन खर्च करने की आदत विकसित करें और इसके साथ ही गंदी आदतों से मुक्त होने की आदत डालें। ऐसा करने से न केवल उन्हें आत्मिक संतोष का आभास होगा, बल्कि सामाजिक दायित्वों के प्रति उनमें सचमुच चेतना जाग्रत होगी और वे सम्मान के हकदार होंगे। इसके निहितार्थ क्या उनका कोई दायित्व नहीं? जाहिर है इसी प्रश्न का सकारात्मक उत्तर इन शुभेच्छुओं ने दिया है और समाज के प्रति अपनी चेतनशीलता का परिचय दिया है जिसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं। अगर वे चाहें, तो काफी हद तक अपनी सहृदयता, उदारता और सदाशयता से समाज का चेहरा बदल सकते हैं, लेकिन ऐसा करने के लिए

जरूरी है ईमानदार सोच और सही संकल्प की।

मेरे कई मित्रों ने प्रस्तुत पुस्तक पर अपने विचार अपने ढंग से अभिमत एवं शुभाशंसा के रूप में व्यक्त किए हैं, जिससे निश्चित रूप से मुझे प्रोत्साहन मिला है और मैं इससे उत्साहित होकर पाठकों को यह भरोसा तो अवश्य दिला सकता हूँ कि उनकी आकांक्षाओं के अनुरूप और इनकी कसौटी पर खरा उतरने का मैं प्रयास करता रहूँगा।

पत्रकारिता जगत के सशक्त हस्ताक्षर श्री प्रभाष जोशी ने जिस सहजता से पुस्तक की भूमिका लिखकर हमारा मनोबल बढ़ाया है मैं बड़े विनम्र भाव से उनके प्रति कृतज्ञ हूँ। वरिष्ठ पत्रकार एवं एडिटर्स गिल्ट ऑफ इंडिया, नई दिल्ली के अध्यक्ष श्री आलोक मेहता, दैनिक जागरण, पटना के स्थानीय संपादक श्री शैलेन्द्र दीक्षित, दिल्ली विकास प्राधिकरण के सदस्य (वित्त) श्री नंदलाल तथा डॉ. देवेन्द्र आर्य आदि ने अपने विचारों से मुझे प्रेरित किया है हम आभारी हैं उनके। जिस एक व्यक्ति के सहयोग के बिना तो हम कुछ भी नहीं कर पाते वह हैं हमारी धर्मपत्नी श्रीमती बच्ची प्रसाद। सच मानिए घर-परिवार की सभी जिम्मेदारियों से मुझे मुक्त रखकर ये जो सुखद अवसर प्रदान कर रही हैं, इनके प्रति आभार व्यक्त करने के लिए मेरे पास शब्द नहीं हैं। मैं सौभाग्यशाली हूँ इस मायने में कि अपनी पत्नी का सहयोग मुझे अनवरत रूप से मिल रहा है। मैं तहेदिल से उनके प्रति शुक्रिया अदा करता हूँ।

शब्द संयोजन में डी.टी.पी प्वायंट, पटना की सुनयना का सराहनीय योगदान रहा तथा इसकी सेटिंग व साज-सज्जा में सिद्धार्थ प्रिंटोग्राफिक्स, दिल्ली के संजय कुमार तथा सुमन ठाकुर ने अपनी अभूतपूर्व क्षमता का परिचय दिया है। मैं कृतज्ञ हूँ आप तीनों के।

सरदार पटेल साहित्य प्रकाशन के सुधीर रंजन तथा पुत्रवधु सुनीता रंजन धन्यवाद के पात्र हैं जिनके सहयोग से इतनी आकर्षक पुस्तक का प्रकाशन संभव हो सका। अंत में मैं अपने सहयोगी डॉ. शाहिद जमील तथा उदय कुमार 'राज़' के साथ मुद्रक आशीष अग्रवाल को साधुवाद देना चाहूँगा जिनके अथक प्रयास से यह पुस्तक प्रकाशित हो पाई है।

लेखक

अनुक्रम

समर्पण 03
संकलन का संदर्भ 05
अभिमत 19
शुभाशंसा 65
भूमिका 75
प्रकाशकीय 77
आभार 80

खंड- एक
पत्रिका परिवार

पत्रिका परिवार के चित्र 85

खंड - दो
राष्ट्रीय विचार पत्रिका

पत्रिका अँधकार में प्रकाश की हल्की-सी किरण 97
पत्रिका के बाजार में विचारों की पत्रिका 99
स्वस्थ्य समाज से ही समृद्ध राष्ट्र का निर्माण 102
देश के मान-सम्मान व सुख-समृद्धि के लिए निष्ठा और ईमानदारी........ 107
भारतीय लोकतंत्र आज अराजक स्थिति में 110
पाकिस्तान की कथनी और करनी में कोई सामंजस्य नहीं 114

खंड - तीन
विचार दृष्टि

विचार और दृष्टि की प्रासंगिकता आज सबसे अधिक 125
सुखद शताब्दी-सहस्राब्दि के लिए दुष्प्रवृत्तियों का शमन जरूरी 130
विधान सभायी चुनाव परिणामों के संकेत 133
जानी-मानी हस्तियों का देहावसान 135
महापुरुषों की जयंतियाँ मनाने का महत्त्व 138
संवैधानिक संस्थाओं का संकट 141

भारतीय राजनीति भ्रष्टाचार के भयंकर भँवर में 144
जयललिता ने लोकतंत्र को कलंकित किया 147
आतंकवाद: नयी सदी का नया आयाम 151
देश की संप्रभुता की रक्षा के लिए शत्रु को सबक 156
गाँधी की धरती पर हैवानियत की हद 159
हिंदी को दबाने का प्रयास आत्मघाती 162
आखिर कैसे लगेगा राजनीतिक अपराधीकरण पर अकुँश? 164
आजादी के बाद वैचारिक क्रांति के नए आयाम और हमारा दायित्व 167
बुरे लोगों को महिमामंडित करने की प्रवृत्ति पर अकुँश लगे 171
आजादी के छप्पन वर्ष और हमारा संसदीय लोकतंत्र 175
गाँधी और पटेल आज पहले से ज्यादा प्रासंगिक 182
सवाल आज बचपन बचाने का 187
मौजूदा चुनाव की चुनौतियाँ 192
नई सरकार की प्राथमिकताएँ 197
राष्ट्रीय स्वाभिमान के चरित्र की विडंबना 200
दहशत के साए में आगामी विधान सभा चुनाव 205
सार्वजनिक जीवन में खोटे सिक्कों का चलन 212
भारत-चीन संबंधों के नए दौर में सर्तकता जरूरी 218
राष्ट्रीय एकता के समक्ष चुनौतियाँ 226
बिहार में सत्ता-परिवर्तन 230
'लाभ के पद' के सवाल पर राष्ट्रीय राजनीति गरमायी 235
मौजूदा लोकतंत्र में नागरिकों का राष्ट्रीय दायित्व 239
आतंकवाद के साए में हमारी राष्ट्रीय चेतना 244
जनता में जागरूकता जगाने की जरूरत 249
भाषायी गुलामी से कब होगा मुक्त हमारा राष्ट्र 256
देश में बढ़ती धार्मिकता या आदमी की बीमार मनोवृत्ति 260
स्वतंत्रता संग्राम के सेनानियों का सपना और आज का भारत 265
अभिव्यक्ति की आजादी पर आँच 275
राष्ट्रीय एकता आज इस देश में क्यों आवश्यक ? 283
राजनीति के छल-छद्मों में उलझी राष्ट्रभाषा हिंदी 292
'विचार दृष्टि' के दस वर्ष 300

खंड - चार

प्रहरी

सजग प्रहरी की तरह 'प्रहरी' आपके सामने 313
राजभाषा के प्रति हमारी अटूट निष्ठा 317
आज का सामाजिक-सांस्कृतिक परिदृश्य 319
आजादी के 50 वें वर्ष में हिंदी 321
लेखा परीक्षा सामाजिक प्रतिबद्धता में संज्ञेय 324
अपने हिस्से की जबाबदेही 328
भारतीय जनता का सामूहिक विवेक 332
किसी से दान में नहीं चाहती हिंदी अपना भविष्य 335
भारतीय समाज एवं संस्कृति का बदलता परिदृश्य 339

खंड -पाँच

पुस्तकों का संपादन

'यादें' एवं 'मयुरा'

जीवन और रचना-संघर्ष के बीच कवि 'तोमर' 345
साहित्य-यात्रा का दीप-स्तंभ 349

खंड -छह

स्मारिका

सरदार पटेल की जयंती और हमारी जिम्मेदारियाँ 355
राष्ट्र-निर्माण का संकल्प और स्वरूप 359
क्या कोई रास्ता दिखलाओगे सरदार? 363
महापुरुषों की जयंतियाँ 365
जे. पी. के सपनों की तलाश 367
सरदार पटेल की प्रासंगिकता 369
सरदार के सपनों के भारत का आज खास्ताहाल 372
पर्व त्योहारों का कल्याणभाव ही भारतीय संस्कृति का मूलाधार 375
राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना जागृत करने का माध्यम है संगीत 378

■ ■ ■

खंड - एक पत्रिका परिवार

(परामर्शी)

श्री यू. सी. अग्रवाल

श्री श्याम सिंह शशि

न्यायमूर्ति श्री बी.एल. यादव

डॉ. बालशोरी रेड्डी

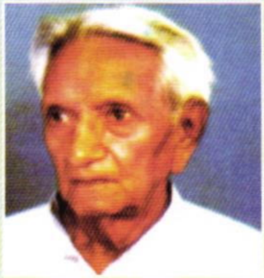

प्रो. राम बुझावन सिंह

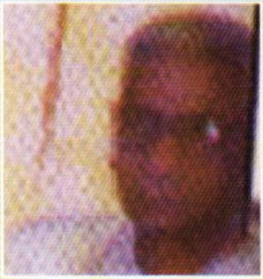

श्री गिरीश चंद्र श्रीवास्तव

श्री जिया लाल आर्य

डॉ. एल. एन. शर्मा

श्री गोपी वल्लभ सहाय

श्री जे. एन. पी. सिन्हा

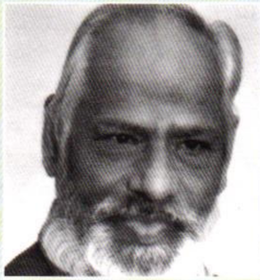

डॉ. महेन्द्र भटनागर

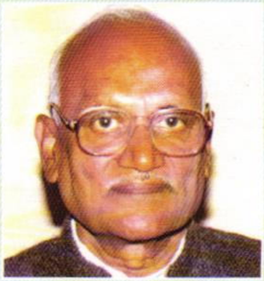

डॉ. धर्मेन्द्र नाथ अमन

पत्रिका परिवार
(मार्गदर्शक)

श्री प्रभाष जोशी

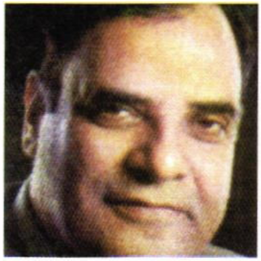
श्री आलोक मेहता

श्री नंदलाल

श्रीमती राज चतुर्वेदी

डॉ. मधु धवन

प्रो. साधु शरण

डॉ. महेन्द्र कर्णावट

डॉ. नरेन्द्र शर्मा 'कुसुम'

डॉ. महेश चन्द शर्मा

डॉ. मदन मोहन बजाज

डॉ. देवेन्द्र आर्य

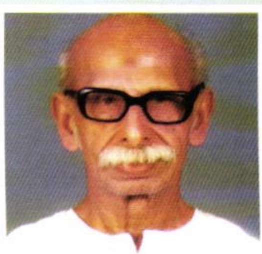
श्री पी. जे. बालकृष्ण पिल्लै

पत्रिका परिवार
(सहयोगी मित्रवर)

श्री रमेश चन्द्र बेलावत

श्री एस. एम. अग्रवाल

श्री सोमदत् शर्मा 'सोम'

डॉ. अनिल दत्त मिश्र

श्री चन्द्र मौलेश्वर प्रसाद

प्रो. रामभगवान सिंह

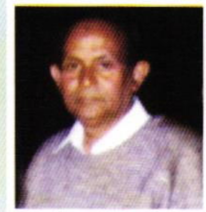
डॉ. एस. एफ. रब

डॉ. शिवनारायण

श्री सुधीर रंजन

डॉ. शाहिद जमील

श्री उदय कुमार 'राज़'

मोहम्मद सुलेमान

श्री पुरुषोत्तम शर्मा

श्री मनोज कुमार

श्रीमती अंजलि

श्रीमती बी. प्रसाद

श्री मिथिलेश कुमार सिन्हा

प्रो. पी. के. झा 'प्रेम'

प्रो. राजेन्द्र कु. प्रसाद

डॉ. निर्मला एस. मौर्या

श्री संजय कुमार

श्रीमती मिथिलेश कुमार

श्रीमती रेखा सिन्हा

श्रीमती कुसुम शर्मा

श्री कामेश्वर मानव

श्री हरिहर प्रसाद सिंह

श्री अरुण कुमार सिंह

श्री शिव कुमार सिंह

श्री सतेन्द्र सिंह

श्री बाबू लाल गोल्छा

श्री अरविन्द कुमार

कविवर सत्यनारायण

श्री अनिल कुमार

श्री ललन सिंह

श्री संजय सौम्य

श्रीमती सुनीता रंजन

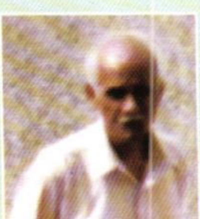

श्री उमेश प्रसाद सिन्हा

सुश्री पल्लवी सिंह चौहान

श्री अरुण कुमार भगत

श्री मुरारी प्रसाद सिंह

डॉ. सहदेव सिंह 'पाचर'

डॉ. राम निवास 'मानव'

प्रो. प्रेम मोहन लखोटिया

श्रीमती सविता लखोटिया

श्री जानकी नंदन प्रसाद

डॉ. महेश प्रसाद

श्री आदित्य प्रकाश सिंह

श्री बंसीलाल 'पारस'

श्री ज्योति शंकर चौबे

डॉ. राकेश कुमार सिंह

डॉ. मंजुला गुप्ता

श्री अजय कुमार सिन्हा

श्री कृष्णन जी

श्रीमती शुक्ला चौधरी

डॉ. शिववंश पांडे

श्री मधुर शास्त्री

श्री मगन भाई जैन

डॉ. राम देव प्रसाद

श्री कामेश्वर प्रसाद सिन्हा

श्री सच्चिदानन्द सिंह 'साथी'

कर्नल एस. एस राय

डॉ. रेखा सिंह

श्री बांके नंन्दन प्र. सिन्हा

प्रो.एन.के.पी.श्रीवास्तव

प्रो. मनोज कुमार

डॉ. कलानाथ मिश्र

श्री युगल किशोर प्रसाद

डॉ. आर एन. सिन्हा

श्री मुकेश कुमार

इं. जे. एन. सिंह

श्री रवि शंकर चौधरी

श्री दयानन्द सिंह

श्री जगदीश प्र. सिन्हा

डॉ. किशोर काबरा

श्री सतीश प्रसाद सिंह

डॉ. अवध बिहारी 'जिज्ञासु'

श्री राम नारायण सिंह

इं. विशेश्वर प्र. सिन्हा

डॉ. सत्येन्द्र ना. सिन्हा

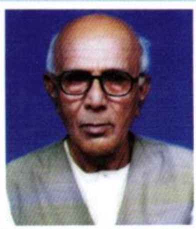
श्री जनार्दन प्र. द्विवेदी

श्री विनोद कुमार सिंह

इं. रामनाथ

श्री राम प्रताप सिंह

श्री रवि शंकर श्रोत्रिय

डॉ. राम करण पाल

श्री अविनाश

मे. जे. के. एन. सिंह

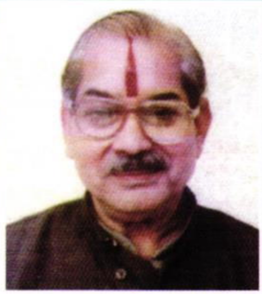
पं. ओमप्रकाश कौशिक

श्री चन्द्रसेन 'विराट'

डॉ. विजय ना. मणि त्रिपाठी

श्री आर. के. सिंह

श्री निरेन्द्र तारक

श्री संजीव कुमार

सुश्री सुमन ठाकुर

श्रीमती सावित्री सिन्हा

श्री चन्द्र देव सिंह

श्री रवि घोष

डॉ. कुमार इन्द्रदेव

श्री जी.एल. नाहर

श्री ओम प्रकाश मंजुल

श्री रंजीत कुमार

सुश्री लक्ष्मी निशाल

श्री सिद्धेश्वर सिंह

श्री हीरालाल पांडे

श्री विमल राजस्थानी

श्री सुशील श्रीवास्तव

'विचार दृष्टि' कार्यालय में कार्यरत संपादक सिद्धेश्वर

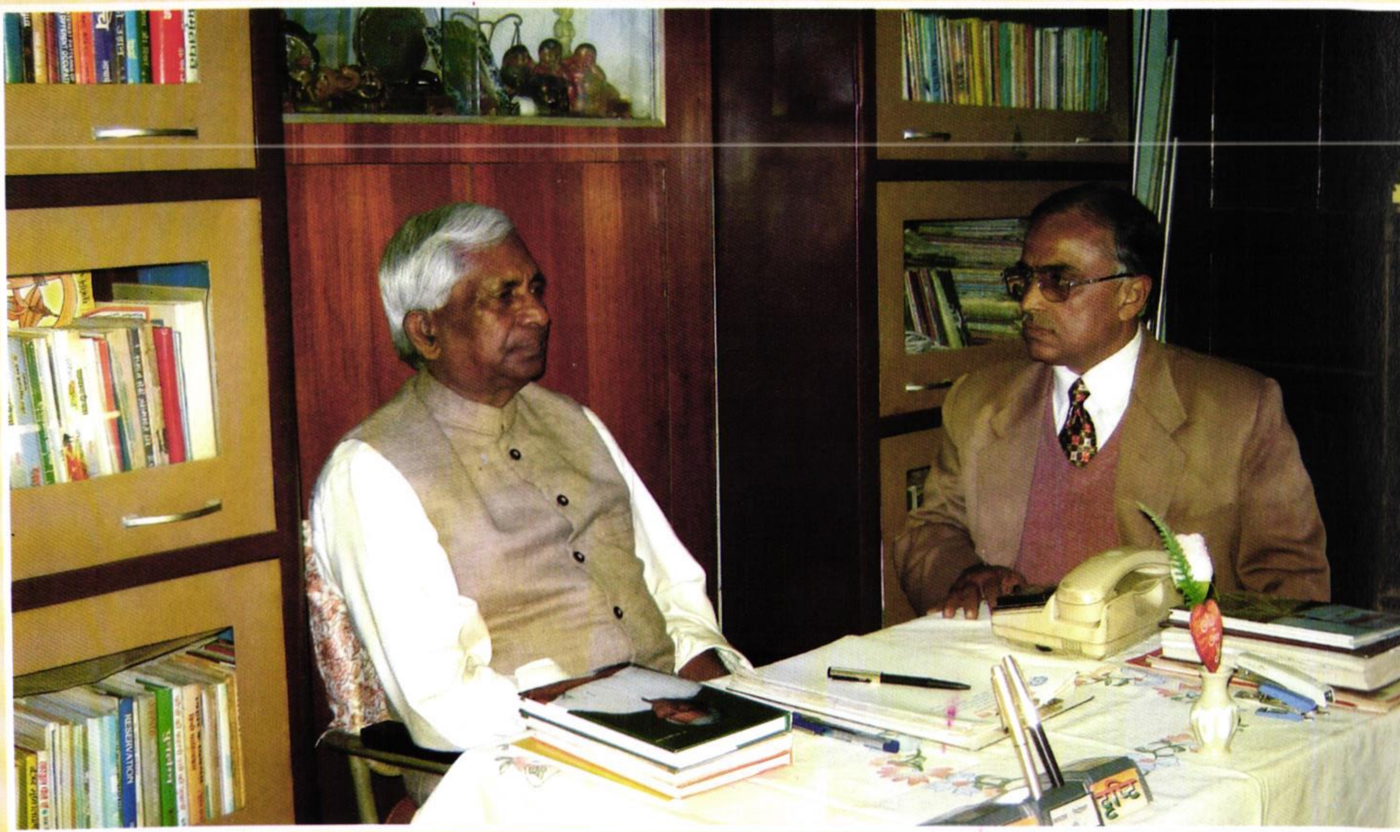

'विचार दृष्टि' कार्यालय में उप-संपादक डॉ. शाहिद जमील के साथ विचार-विमर्श करते हुए संपादक सिद्धेश्वर

खड- दो: राष्ट्रीय विचार पत्रिका

(अक्टूबर 1997 से सितंबर 1999)

प्रवेशांक

अंकः 2

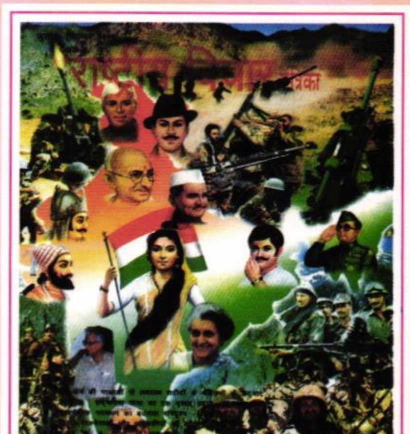

अंकः 3

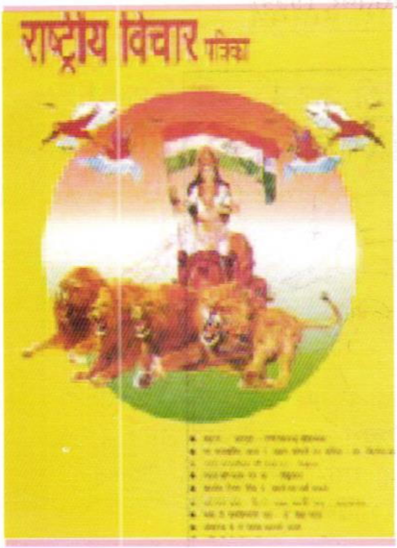

अंक : 4

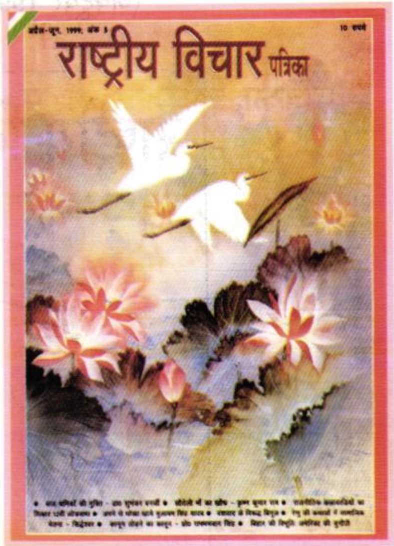

अंक : 5

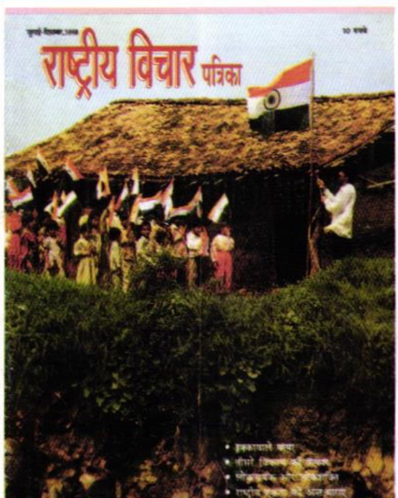

अंक : 6

राष्ट्रीय विचार पत्रिका

पत्रिका अंधकार में प्रकाश की हल्की-सी किरण

राष्ट्रीय विचार मंच का मुख्य पत्र 'राष्ट्रीय विचार पत्रिका' के प्रवेशांक आप सुजान पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें बेहद प्रसन्नता हो रही है। ऐसे दौर में जब एक-से-एक हिंदी पत्रिकाओं के प्रकाशन बंद होने पर लोग चिंतित हैं मंच ने इस पत्रिका का प्रकाशन कर अपने साहस का परिचय दिया है। स्पष्ट है कि इसने अपने सदस्यों एवं सुधि पाठकों के सहयोग के सहारे ही यह कदम बढ़ाया है।

पत्रिका ने साफ-साफ और निर्भीकता से कहने का संकल्प लिया है। देश और समाज के उत्थान के लिए खरी से खरी तथा सही बातें कहने में यह पत्रिका कोई कोताही नहीं करेगी, इस बात का भरोसा हम आपको दिलाते हैं, क्योंकि हमारा विश्वास है कि प्रजातंत्र का भविष्य तभी उज्ज्वल होगा जब पत्र-पत्रिकाएँ निष्पक्ष, निडर और मजबूत हों।

राष्ट्रीय मुख्य धारा से जो लोग अपने आपको अलग-थलग महसूस कर रहे हैं अथवा आजादी की आधी शताब्दी बीत जाने के बाद भी जिनकी झोपड़ियों में विकास की किरणें अभी तक नहीं जा पाई हैं उनमें चेतना जागृत करने तथा आम जन-मानस को उद्वेलित करने का हर संभव प्रयास पत्रिका करना चाहती है जिसके लिए पाठकों एवं रचनाकारों का सहयोग अपेक्षित है। समाज की रूढ़ियों एवं अँधविश्वासों पर हमला करने, राजनैतिक दलों एवं उनके नेताओं की पोले खोलने तथा समाज विरोधी तत्त्वों एवं देशद्रोही ताकतों के खिलाफ आवाज उठाने में यह पत्रिका कंजूसी नहीं करेगी, यह आश्वासन तो हम आपको दे ही सकते हैं।

मंच की ऐसी धारणा है कि यह पत्रिका जीते-जागते जन की गरीबी, गैर-बराबरी, शोषण और संघर्ष, दु:ख-दर्द और दमन के विरूद्ध आम आदमी को वाणी दे, आर्थिक रूप से कमजोर वर्ग के सामूहिक नरसंहार, औरतों की हत्या एवं बलात्कार आदि इसके लेखक की पीड़ा बने। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि असली भारत गाँवों-देहातों में बसा है अतएव वहाँ की जनता को जगाने के लिए अँधकार में प्रकाश की हल्की-सी किरण, इस पत्रिका के माध्यम से वहाँ जाय। इसमें भी सदस्यों की जिम्मेदारी सर्वोपरि है।

आप इस बात से सहमत होंगे कि आज हमारे सामने वैचारिक संकट अपने-असली रूप में सारे नकाब झाड़कर खड़ा है। वैचारिक संकट का सबसे दरिद्र और दयनीय प्रदर्शन संस्कृति और साहित्य के ताबेदारों द्वारा ही किया जाता

रहा है। मौलिक चिंतन की अनुपस्थिति और बड़े सामाजिक आंदोलन के न होने के पीछे संभवतः धर्म-प्राण संस्कृति है, जो भाग्य, भगवान, अवतारों में लौ लगाना सिखाती है। सभी वर्गों और वर्णों में इसके संस्कार समा गए हैं। फलस्वरूप सामाजिक गतिशीलता कुचल दी गयी है। प्रयास यह होगा कि वैचारिक धरातल पर झकझोरने और आंदोलन की मानसिकता तैयार करने में यह पत्रिका अहम भूमिका निभाएगी। देश के संचालकों में 'सूखे बाड़ में अग्नि की तरह सोयी' सुप्त चेतना को विचारों के माध्यम से जागृत करने और संघर्ष तथा रचना की दिशा में मोड़ने का कार्य यह पत्रिका कर सकती है, क्योंकि यह मंच एक समग्र साहित्यिक, सांस्कृतिक, सामाजिक एवं राजनीतिक मुद्दों पर आधारित है। इसलिए प्रबुद्धजनों को नकली बौद्धिक कुहासेवाले खोल से बाहर लाकर, उनके सोचने का अंदाज बदलकर यह पत्रिका वैचारिक क्रांति ला सकती है।

लौह पुरुष सरदार वल्लभभाई पटेल के 122 वें जयंती-समारोह के पुनीत अवसर पर प्रकाशित इस पत्रिका के प्रवेशांक को जब हम आपके सामने प्रस्तुत कर रहे हैं पूरा राष्ट्र अपनी आजादी की स्वर्ण जयंती मना रहा है, जो किसी भी राष्ट्र के लिए गौरव की बात है। इस संदर्भ को अपने इस अंक में हमने रेखांकित करने का प्रयास किया है। आजादी के इसी संदर्भ को और प्रतिनिधित्व देने के लिए काव्याँजलि एवं अन्य अलेखों के स्तंभ में कई रचनाकारों की राष्ट्रीय भावनाओं पर आधारित रचनाएँ शामिल की गई हैं।

उच्चतम न्यायालय के वरीय अधिवक्ता एवं मंच के संपोषक सदस्य तथा पत्रिका के संरक्षक माननीय न्यायाधीश श्री बनवारी लाल यादव की प्रेरणा से प्रकाशित इस पत्रिका को अमली जामा पहनाने में इस बार मेरी अस्वस्थ्ता भी बाधक रही है। बड़ी जल्दी में इन पत्रिका को हर सूरत में निकालने के लिए अपने पेट की पीत-थैली में पड़े अनगिनत पत्थरों का ऑपरेशन करवाकर बाहर निकालना भी आवश्यक था। इसके अतिरिक्त साधनों की कमी भी हमारी एक सीमा बन गयी। यह तो कहिए कि इस पहाड़ को उठाने के लिए पर्याप्त उर्जा स्रोत की कमी के बावजूद पत्रिका के सभी सहयोगियों में सर्वश्री डा. हीरा लाल सहनी, कामेश्वर मानव, रामप्रताप सिंह, मनोज कुमार, डॉ० एस.एफ.रब, डॉ० साधुशरण, लक्ष्मी नारायण झा, रंजन, अरुण कुमार, गौतम, शिवकुमार तथा दिलीप ने रात-दिन एक करके इसे मूर्त रूप दिया। मंच की ओर से मैं इन सबों के प्रति कृतज्ञ हूँ। इनके अतिरिक्त रचनाकारों, विज्ञापनदाताओं, सदस्यों एवं शुभचिंतकों की सक्रिय भागीदारी रही, हम उनके आभारी हैं।

राष्ट्रीय विचार पत्रिका, वर्ष : 1, प्रवेशांक : अक्टूबर-दिसंबर, 1997

◈◈◈

पत्रिका के बाजार में विचारों की पत्रिका

सर्वप्रथम हम उन रचनाकारों और पत्रिका-परिवार के सदस्यों के प्रति अपना आभार व्यक्त करना चाहते हैं जिनके प्रयास की वजह से पत्रिका का प्रवेशांक बेहद सफल रहा इस माने में कि भारत के विभिन्न क्षेत्रों से अनगिनत सुधि पाठकों एवं प्रबुद्धजनों ने अपनी प्रतिक्रियाओं एवं सुझावों से हमारा मार्गदर्शन किया है।

जहाँ तक सजग समीक्षकों और साहित्यकारों का सवाल है उनकी प्रतिक्रिया मिली-जुली रही। किसी ने इसे सराहनीय प्रयास कहा तो किसी ने इसे धीर-गंभीर राष्ट्रीय विचार धारावाली ज्ञानोन्मेषमूलक युगीन आकांक्षाओं की पूरक पत्रिका बताई और लोकप्रिय दैनिक पत्रिकाओं के बाजार में विचारों की पत्रिका कही गयी।

संस्करण के इस नए कलेवर में राष्ट्र के विभिन्न क्षेत्रों के पाठकों की अभिरुचि को देखते हुए पठनीय रचनाओं के साथ-साथ 12 वीं लोकसभा चुनाव 98 से संबंधित सामग्रियों का समावेश किया गया है। प्रयास यह भी हुआ है कि समाज में मौजूद नकारात्मक तथा सकारात्मक दोनों प्रवृत्तियों पर प्रकाश डाला जाय।

चलिए, अब लोकसभा चुनाव पर भी हम कुछ चर्चा कर लें। मुद्दाहीन इस चुनाव में न तो आमजन की ज्वलंत समस्याओं से संबंधित कोई मुद्दा उछाला गया और न गरीबी मिटाने की बात कही गयी। किसी ने स्थिरता के नाम पर वोट माँगा, तो किसी ने सांप्रदायिकता मिटाने के नाम पर। यह पूरा चुनाव स्थानीय स्तर के चुनावी एवं जातीय समीकरणों तथा उम्मीदवारों की व्यक्तिगत क्षमता पर लड़ा और जीता गया। भाजपा तथा काँग्रेस ने जहाँ स्थिरता की बात कही, वहीं संयुक्त मोर्चा के घटक दलों ने सांप्रदायिकता को मिटाने की बात कही। हाँ, भाजपा-समता गठबंधन की समता पार्टी ने भ्रष्टाचार के मुद्दे को सामने लाकर घोटालेबाजों को बेनकाब करने की बात की। काँग्रेस की सोनिया गाँधी की तो कुछ अजीब ही बात रही। उन्होंने अपने हर चुनाव भाषण में अपनी वंश परंपरा की बखान की या फिर ऑपरेशन ब्लू स्टार तथा अयोध्या हादसे के लिए क्षमा याचना करती देखी गयी। पर उससे भी आश्चर्य यह कि पूरे चुनाव प्रचार के दौरान देश के प्रबुद्धजन से लेकर समाज की पिछली कतारों में बैठे लोग सोनिया

जी के पाखण्ड पर चुप्पी साधे रहे। किसी ने यह सवाल नहीं उठाया कि उनका भारत में क्या योगदान रहा है। पर इस सवाल पर आगे आने वाली पीढ़ियाँ अवश्य पूछेंगी।

सच तो यह है कि राजनितिक दलों एवं उसके नेताओं ने धर्म, भाषा, क्षेत्र और जाति के नाम पर हमारे समाज को इतने छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँट रखा है कि कोई दल स्थाई सरकार देने की बात कर ही नहीं सकता। फिर इस देश में हर दल का मुखिया प्रधानमंत्री का दावेदार बन बैठा है। अब तो हर दल की पहचान किसी न किसी जाति से की जाती है और जो अपने स्वार्थ के लिए आपस में सिद्धांतहीन तालमेल करते और तोड़ते रहे हैं। हमें बाँटकर अपनी-अपनी दूकान लगाकर बैठने वाले अब फैसले करने वाले नहीं, लोग सिर्फ तय किए गए फैसले सुनाने वाले रह गए हैं। पूर्व प्रधानमंत्री इंद्र कुमार गुजराल केवल इशारे पर नाचते रहे या चुप्पी साधे रहे।

ऐसी विकट स्थिति में आम मतदाता आखिर करे तो क्या करे? किसी एक पार्टी ने भी ऐसा कुछ करके नहीं दिखलाया जिसके बल पर जनता उसे मौका दे। चाहे काँग्रेस हो या भाजपा, सभी एक ही सिक्के दो पहलू निकले। कोई विकल्प न देख जनता ने वही त्रिशंकु लोकसभा परोस दिया। इस चुनाव से एक बात तो साफ उभरकर आई है कि केंद्र में शासन चलाने के लिए किसी एक पार्टी पर मतदाताओं को भरोसा नहीं रह गया है। दूसरी बात यह कि मुस्लिम, दलित एवं पिछड़े वर्गों को दरकिनार कर राज्य या केंद्र में सत्ता हासिल नहीं की जा सकती। बहुमत के आधार पर सरकार बनाने का विरोध करने वाली मानसिकता को हमारे देश में भी कहीं कोई स्थान मिल रहा है जो लोकतंत्र के लिए यह बहुत अच्छा संकेत नहीं है। बार-बार सरकार बनाने और फिर उसे उखाड़ फेंकने से जनता भी लोकतंत्र के प्रति निराश होने लगती है। कट्टरपंथी दल इसी बात का फायदा उठाते रहे हैं और भविष्य में भी उठाएँगे। जब राजनैतिक दल अपने सिद्धांतों और कार्यक्रमों को तिलाँजलि देकर सत्तासुख के लिए किसी के गले में भी बाहें डालने लगते हैं और सुविधाभोगी गठबंधन चलाते हैं, तो देर-सबेर जनता प्रयोगों से तंग आकर हिंसक तरीकों से व्यवस्था बदलने का प्रयास करती है, यह हमें जान लेना चाहिए।

सत्तालोलुपता की परिधि में अब न तो संविधान का कोई मतलब रह गया है और न ही राजनैतिक नैतिकता का। किसी भी दल के नेता की कथनी और करनी में समानता नहीं रह गयी है। जो पार्टी कल तक नैतिकता के नाम पर सबसे

ज्यादा हल्ला मचाती थी, वही आज वास्तविक अपराधी साबित हो रही है। संसद के प्रस्ताव की स्याही सूखने से पूर्व ही प्राय: सभी पार्टियों ने इसकी उपेक्षा कर इसे अँगूठा दिखा दी है। सबों ने दल-बदल प्रक्रिया को अपनाया है। वामपंथी इसमें अपवाद है। आज हमें राजनीति की इस दोमुँही नीतियों एवं उसके अंतर्विरोधों पर न केवल विचार करना होगा, वरन् उस पर कड़ी नजर रखनी होगी। अन्यथा राजनीति के प्रति फैला निषेधभाव और भी मजबूत होगा जो लोकतंत्र को नष्ट कर सकता है। अतएव जिसके हाथों अपने राष्ट्र का पतवार सौपते हैं उनके आचरण पर हमारा ध्यान जाना समय का तकाजा है। आज देश में राजनैतिक दलों एवं उसके नेताओं के प्रति जनता की अनास्था इतनी गहरी होती चली जा रही है कि भविष्य हमारे हाथों से फिसलता नजर आ रहा है। हालांकि यह भी सच है कि हम अँधेरों से लड़ना जानते हैं। जब अँधेरा हमें निगलने के लिए बढ़ता है तो दीये की लौ जलाकर हम उसे भगाने का प्रयास करते हैं। यह आशावाद हमारी संस्कृति की देन है- ''तमसो माँ ज्योतिर्गमय''।

यह पत्रिका वार्षिक होगी या अर्द्धवार्षिक या फिर त्रैमासिक, प्रवेशांक में हमने इस बारे में चुप्पी लगा ली थी सिर्फ यह जानने के लिए कि पाठक क्या चाहते हैं। किंतु पाठकों की जैसी प्रेरणा मिली है, हम अब आपको यह बताने में प्रसन्नता का अनुभव कर रहे हैं कि वर्ष 1997 में यह वार्षिक रही; इस वर्ष यह अर्द्धवार्षिक होगी। और अगले वर्ष यानी 1999 से यह पत्रिका नियमित रूप से त्रैमासिक होकर आपको मानसिक खुराक देती रहेगी। 'खेल-खिलाड़ी' स्तंभ अगले अंक से प्रारंभ हो रहा है।

हम उन समस्त रचनाकारों एवं संवाददाताओं के प्रति आभार प्रकट करते हैं जिन्होंने अपनी रचनाओं एवं रिपोर्ताज से इस अंक को समृद्ध किया। इसके अतिरिक्त हम कृतज्ञ हैं उन विज्ञापनदाताओं, पत्रिका-परिवार के सदस्यों तथा शुभचिंतकों के, जिनकी सहृदयता से इस अंक को निकालने में हमें सफलता मिली।

राष्ट्रीय विचार पत्रिका, वर्ष : 2, अंक- 2, जनवरी-जून, 1998

◈◈◈

स्वस्थ समाज से ही समृद्ध राष्ट्र का निर्माण

पत्रिका का तीसरा अंक आपके हाथों में है। इसमें कतई संदेह नहीं कि पिछले अंकों में ख्यातिप्राप्त रचनाकारों का अपेक्षित सहयोग इस पत्रिका को मिला। आखिर तभी तो सुधि पाठकों ने इसकी सजा-सज्जा तथा विविध विधाओं की सामग्रियों को सराहा है, यह उनके पत्रों की प्रतिक्रिया से स्पष्ट है। सहयोग करने वाले सभी रचनाकारों के प्रति आभार व्यक्त करते हुए मैं आशा करता हूँ कि वे अपना सहयोग बनाए रखेंगे।

हम चाहते हैं कि इस पत्रिका के माध्यम से न केवल राष्ट्रीय विचारों को आप तक पहुँचाते रहें, बल्कि राजनीति की कुरूपता को भी साहस के साथ बेनकाब करते रहें, क्योंकि देश में कर्णधारों के रवैयों के कारण आम आदमी को जिस पीड़ादायी यंत्रणा से गुजरना पड़ रहा है उसकी अनदेखी यह पत्रिका भला कैसे कर सकेगी?

इस पत्रिका का एक साल आज पूरा हो रहा है यानी आज हम सब इसकी पहली वर्षगांठ मना रहे हैं। पिछले साल इसी दिन, इसी समय इसके प्रवेशांक का लोकार्पण न्यायमूर्ति माननीय श्री धर्मपाल सिन्हा के हाथों हुआ था। तब से आज तक हमने भारत की 50वीं वर्षगांठ, 12वीं लोकसभा का चुनाव तथा अनेक परिवर्तनों को देखा। उनपर बेबाक, निर्भीक और विचार प्रधान रचनाएँ आपके समक्ष प्रस्तुत की गईं जिसका स्वाद आपने लिया। इसलिए इसकी वर्षगांठ के अवसर पर अपने विज्ञ पाठकों एवं रचनाकारों को हम अपनी शुभकामनाएँ देना चाहेंगे।

इस माह में हम अपनी पत्रिका के प्रथम वर्षगांठ के साथ-साथ भारत की चार महान विभूतियों की जयंतियाँ मना रहे हैं। विगत दो अक्टूबर को राष्ट्रपति महात्मा गाँधी तथा अपनी थोड़ी सी अवधि के प्रधानमंत्रित्व काल में अपनी अमिट छाप छोड़ने वाले लाल बहादुर शास्त्री की। 11 अक्टूबर को लोकनायक जयप्रकाश नारायण तथा आज यानी 31 अक्टूबर को लौह पुरुष सरदार वल्लभभाई पटेल की जयंती का उत्सव मनाया जा रहा है।

आज के दिन हमें इस बात पर गौर करना होगा कि जिन सिद्धांतों, आदर्शों तथा उद्देश्यों को लेकर वे जीवन भर जूझते रहे, संघर्ष करते रहे और यहाँ तक कि उन्हें कुर्बान होना पड़ा, आखिर उसका क्या हुआ? पोखरण में परमाणु परीक्षण

के पश्चात यहाँ के लोग यह सोचने के लिए आज विवश हैं कि अहिंसा और पंचशील के सिद्धांत पर गर्व करने वाले इस राष्ट्र के दावे का क्या होगा। हिंसा और युद्ध के माहौल में गाँधी की प्रासंगिकता कहाँ रह जाती है। रक्षा क्षेत्र के गिरते मनोबल तथा चीन एवं पाकिस्तान के धौंस का जबाव देने के लिए परमाणु परीक्षण की उपादेयता है, इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता। पर जिस देश की 40 प्रतिशत जनता गरीबी की सीमा रेखा से नीचे जीवन बसर करने को अभिशप्त हो, मँहगाई की मार ने जिसकी कमर तोड़ डाली हो, युवकों के लिए रोजगार की समस्या जटिल हो, कहीं ऐसा तो नहीं कि इन विफलताओं पर पर्दा डालने तथा लोगों का ध्यान इन समस्याओं से हटाने के लिए यह सब करिश्माई खेल खेला जा रहा हो। बापू आदमियत को, आदमी को बम से ज्यादा महत्त्व देते थे। वे बम बनाने की जगह आदमी के भीतर की अच्छाइयों को जगाना चाहते थे। उन्होंने अहिंसा पर आधारित एक ऐसे स्वस्थ समाज का सपना देखा था जिसमें सारी सुखकारी स्थितियाँ निर्मित हों। क्या आज मनुष्यता इस सपने को साकार करने की दिशा से विचलित नहीं हो रही है? पिछले दिनों मुम्बई में 'नाथुराम गोड्से बोलतोय' जो मराठी नाटक खेला गया क्या वह गाँधी के दर्शन व चिंतन को गलत साबित करने का एक कुत्सित प्रयास नहीं था? जाहिर है किसी नाटक के ऐसे ध्वंसात्मक मकसद को महज अभिव्यक्ति की आजादी के नाम पर माफ नहीं किया जा सकता। बापू की प्रतिष्ठा और लोकप्रियता की कीमत पर उनके हत्यारे गोड्से के विचारों की छूट नहीं दी जा सकती।

दिल्ली के राजघाट पर युवक राजवल्लभ द्वारा अहिंसा के इस पुजारी की समाधि को तोड़ने की घटनाएँ क्या दर्शाती हैं? हम देशवासियों को आखिर हो क्या गया है? क्या सरकार भी इतनी सक्षम नहीं कि राष्ट्र के इस श्रेष्ठतम् प्रतीक की रक्षा कर सके? क्या इससे सरकार की विफलता सिद्ध नहीं होती? इसी प्रकार लंदन स्थित भारत के पूर्व उच्चायुक्त डॉ. लक्ष्मीमल सिंघवी के हस्तक्षेप से दो अप्रवासी भारतीय गुलाम कादिरनन और नातपूरी ने लंदन में हुई गाँधी के ऐतिहासिक पत्रों की नीलामी में खरीदकर उन्हें तोहफे के तौर पर राष्ट्र को भेंट कर दिया। एक वह भारतीय है जो विदेश से बापू की दुलर्भ धरोहर वापस लाकर गौरवांवित होता है और दूसरा वह भारतीय है जो बापू की समाधि को तोड़ने तथा उनके अहिंसात्मक आदर्श को झूठलाने का दुस्साहस करता है। एक की जितनी सराहना और दूसरे की जितनी निंदा की जाय, वह कम होगी। इसी प्रकार उ. प्र. के न्यास मंदिर में एक अनुसूचित जाति के अतिरिक्त जिला न्यायाधीश के स्थानांतरण पर नवागंतुक न्यायाधीश के द्वारा उनके चैंबर कक्ष को गंगाजल स

धुलवाने तथा उसकी पवित्रता को बहाल कराने की घटना भी कम चौंकानेवाली नहीं है। 21वीं सदी के दरवाजे पर दस्तक देते भारत में अभी भी ऐसी संकीर्ण विचारधाराओं के समुद्र में आकंठ डूबा रहना विश्व के सबसे बड़े लोकतांत्रिक देश के लिए क्या यह एक गंभीर चुनौती नहीं? अश्पृश्यता को दूर करने के लिए जीवन भर संघर्ष करनेवाले बापू की जयंती मनाते वक्त इन सवालों का जबाव अवश्य ढूँढ़ना होगा।

भारत के प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी का पूर्व प्रधानमंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री के पुराने नारे का विस्तार जय जवान, जय किसान, जय विज्ञान निश्चय ही स्वागत योग्य है। पर वाजपेयी जी को यह नहीं भूलना चाहिए कि भारत कृषि प्रधान देश होने पर भी जहाँ एक ओर अतिवृष्टि एवं अनावृष्टि, कृषि जे जुड़े अनेकानेक कारणों से यहाँ के किसानों की हालत दिन-ब-दिन दनयनीय होती जा रही है, वहीं दूसरी ओर आतंकवादियों तथा अड़ोस-पड़ोस के देशों के साथ छायायुद्ध के कारण सीमाओं पर जवानों को अनावश्यक रूप से शहीद होना पड़ता है। यह तो कहिए कि श्री जार्ज फर्नांडीस के प्रतिरक्षा मंत्री होने पर जवानों का मनोबल बढ़ा है, क्योंकि उन्होंने जवानों के दुखः-दर्द एवं उनकी पीड़ा को परखा ही नहीं, नजदीक से देखा भी है।

आधुनिक युग में जब भारत में वैज्ञानिकों, अभियंताओं को यथोचित सम्मान तथा कार्य करने का अवसर नहीं मिल पाता है तो मजबूरीवश उन्हें पलायन करना पड़ता है तथा देशभक्ति के कारण जो भारतीय वैज्ञानिक विदेश से पुनः भारत वापस लौट आते हैं उन्हें दरकिनार कर दिया जाता है यह खेदजनक है।

यह हर कोई जानता है कि जिनकी आँखों में आजन्म सामाजिक विषमता को दूर करने का सपना रहा उस लोकनायक जयप्रकाश नारायण में यह हिमाकत थी कि वे भारत के ऊँचे पद पर आसीन हो सकते थे। किंतु जीवन भर जिसे दूर से ही नमस्कार करते रहे उसी कुर्सी के लिए आज के नेता तथा उनके चेले हर तरह का कुकर्म करने को तत्पर हैं। सिद्धांतहीन गठबंधनों द्वारा सत्ता प्राप्त करने की राजनीतिक दलों की नीतियाँ लोकतंत्र का माखौल उड़ा रही हैं। जिस सामाजिक विषमता को जयप्रकाश जी ने दूर करने की बात की थी वह असमानता की खाई आज और चौड़ी होती जा रही है। ऐसा लगता है कि उनके सपने को साकार करने के लिए आने वाले वर्षों में सच्चे देशवासियों को और अधिक संघर्ष और त्याग करना होगा।

आज के दिन भारत की उस महान हस्ती की 123वीं जयंती का उत्सव

मना रहे हैं जिसकी दूरदर्शिता, सूझबूझ तथा अप्रतिम योगदान की वजह से इस देश को अखण्ड भारत कहते हैं। सरदार पटेल एक ऐसे परिणामवादी और व्यवहारिक हस्ताक्षर थे जिनमें भविष्य को देखने की क्षमता थी। 14 अगस्त, 1998 को संसद परिसर में लौह पुरुष सरदार वल्लभभाई पटेल की प्रतिमा का अनावरण करते हुए भारत के राष्ट्रपति श्री के0 आर0 नारायणन ने कहा कि आज सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह होगी कि हम सबसे पहले भारतीय बनें और प्रांतीयता के चक्कर में न पड़ें जैसा कि सरदार पटेल हमसे अपेक्षा रखते थे। वे एक सामाजिक दृष्टि रखते थे तथा भारत की सामाजिक समस्याओं और लोगों की सामाजिक आकांक्षाओं के प्रति सजग थे। वे अपने नि:स्वार्थ और उज्ज्वल राजनैतिक जीवन में हमेशा अपने देश के साम्राज्यवाद की गुलामी के खिलाफ और सामाजिक कुप्रथाओं एवं रिवाजों के नीचे दबे लोगों के लिए लड़ते रहे। उन्होंने सामाजिक परिवर्तन और दलित हितों को अपने ध्यान से ओझल नहीं होने दिया।

इस परिप्रेक्ष्य में देखने पर आज स्थिति यह है कि हम 'भारतीयतम्' की भावना की बजाय अपने अहम को कहीं ज्यादा महत्त्व दे रहे हैं। आज प्रत्येक भारतीय एक निश्चित परिधि के अंदर ही सीमित हो गया है। सर्वाधिक त्रासद स्थिति यह है कि हमारा समाज इतने टुकड़ों में बँट गया है कि एक संपूर्ण राष्ट्र की कल्पना भी व्यर्थ प्रतीत होने लगती है। पर हम शायद यह भूलते जा रहे हैं कि स्वस्थ समाज के बगैर एक समृद्ध राष्ट्र का निर्माण कतई संभव नहीं है जिसकी कल्पना लौह पुरुष ने की थी। अलग राज्य की माँग कर रहे गिरोह की तेज होती गतिविधियाँ तथा कश्मीर के देशद्रोहियों का बढ़ता मनोबल इस बात की ओर संकेत है कि आतंकवादियों के हाथ लंबे होते चले जा रहे हैं। धरती का स्वर्ग कहे जाने वाले कश्मीर राज्य में आज जिस प्रकार निर्दोष एवं निहत्थे लोगों की हत्याएँ की जा रही है वह केंद्र तथा राज्य सरकार के लिए बेहद शर्मनाक बात है, क्योंकि वहाँ की जनता-सरकार की सुरक्षा पर नहीं, बल्कि उग्रवादियों के रहमोकरम पर जिंदा है। ऐसी स्थिति में जरूरत इस बात की है कि आतंकवादियों एवं अलगाववादियों को हतोत्साहित करने के लिए उसके राजनीतिक सरोकारों पर प्रहार करना होगा, क्षेत्रीय विकास की समस्याओं के समाधान में सरकार को अग्रसर होना होगा। साथ ही अपना उल्लू सीधा करने की घृणित नीति का त्याग करना होगा तथा आत्मचिंतन कर समर्पित भावना से जीवन मूल्यों का दीप अपने मन मंदिर में प्रज्ज्वलित करना होगा। तभी सरदार पटेल के

सपने साकार हो सकेंगे। इस संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि ईंट चलाने वाले तभी रुकते हैं जब उन पर पत्थर बरसने लगते हैं। क्या सरकार पत्थर बरसाने पर भी विचार कर सकती है?

हम कृतज्ञ हैं उन सभी रचनाकारों, पत्रिका परिवार के सदस्यों तथा विज्ञापन दाताओं के जिन्होंने पत्रिका के संवर्द्धन तथा प्रकाशन में सहयोग प्रदान किया है। श्रीपालपुर, पुनपुन (पटना) स्थित एस0 एम0 डी0 कॉलेज के हिंदी प्राध्यापक डॉ0 कृष्णानन्द द्विवेदी तथा पत्रिका-परामर्शी कविवर गोपीवल्लभ सहाय ने जिस आत्मीयता से इस अंक को सजाने-संवारने तथा पठनीय बनाने में अपनी विद्वता एवं क्षमता का परिचय दिया है उससे उनकी सृजनधर्मिता की विश्वसनीयता प्रकट होती है। हम आभारी हैं उनके।

अंत में हम आभार व्यक्त करते हैं राष्ट्रीय विचार मंच के उन सभी सदस्यों, शुभेच्छुओं तथा इस पत्रिका के कम्पोजर एवं मुद्रक के प्रति जिन्होंने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से इसके प्रकाशन में सहयोग प्रदान किया है।

राष्ट्रीय विचार पत्रिका, वर्ष-3, अंक : 3, जुलाई-दिसंबर, 1998

◈◈◈

देश के मान-सम्मान व सुख-समृद्धि के लिए निष्ठा और ईमानदारी

अपने वायदे के अनुरूप पत्रिका के इस अंक से त्रैमासिक प्रकाशित करते हुए मुझे प्रसन्नता हो रही है। स्वाभाविक है कि इसे आपने चाहा है, सराहा है तथा त्रैमासिक करने की प्रेरणा दी है। मैं शुक्रगुजार हूँ सभी पाठकों एवं रचनाकारों का उनके अपेक्षित सहयोग के लिए। नववर्ष की मंगलकामनाएँ स्वीकार करें। मुझे लगता है कि त्रैमासिक होने के बाद इसके प्रतिबद्ध लेखकों की जबाबदेही और बढ़ गयी है, क्योंकि इसे समृद्ध, स्तरीय एवं पठनीय बनाए रखने के लिए उन्हें नियमित रूप से अपनी धारदार कलम चलाते रहना होगा। हाँ, याद रहे कि यह पत्रिका समाज के हाशिए पर खड़े जन-समुदाय का हमदर्द बनना चाहती है। इसलिए भोली-भाली जनता को आलस, भाग्यवाद व पाखंड से निकालकर उन्हें मेहनत और अपने ऊपर भरोसे का यह संदेश देना चाहती है, क्योंकि एक ओर राजनीतिक क्षेत्रों में इधर जितनी तेजी से स्वेच्छाचारिता और निरंकुशता बढ़ी है तथा येन-केन-प्राकरेण जिस प्रकार प्राय: सभी राजनीतिक दलों ने सत्ता की कुर्सी हथियाने में होड़ लगी है, उसको देखते हुए उन पर बहुत भरोसा नहीं किया जा सकता है। दूसरी ओर समाज का सबसे चेतनशील और संवेदनशील तबका अक्सर चंद सिरफिरों के कुकृत्यों के समक्ष चुप्पी साधते आया है और यही कारण है कि सामंती व्यवस्था के पोषक लोग सदैव आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक क्षेत्र में अपनी मनमानी करते आये हैं। वे लोग वर्चस्ववादी षड्यंत्र का एक हिस्सा बनकर रह गए। जहाँ सारा समाज हजारों वर्षों से वर्ग और वर्ण की बातें करना, सुनना और उन्हीं पर मुग्ध होना इकतरफा पक्षपात का सबसे बेशर्म प्रदर्शन है। इसी का दुष्परिणाम है आज का नर-संहार। मगर आज जो समानांतर शक्ति उभरकर आ रही है, कहीं ऐसा न हो कि कल आज के सामंतवादी अपनी व्यथा सुनाने को तरसने लगें। इसलिए इतिहास की इस करवट की ओर हमें ध्यान देना होगा, अन्यथा आत्महत्या-ग्रंथि से हमें कोई बचा नहीं सकता। लाख चाहने पर भी हम इन निचले उभारों को रोक नहीं पाएँगे, क्योंकि वे हमारे चाहने या अनुमति से नहीं आए, बल्कि हमारे हर चंद न चाहने पर आए हैं। निश्चय ही वह हमारी सदियों की करनी का फल है। इसलिए आज जरूरत इस बात की है कि ऊपरी आचार-व्यवहार, वक्तव्यों-घोषणाओं पर न जाकर उन शक्तियों को समझें, जो समाज और राजनीति के सारे समीकरण बदल रही हैं।

आइए, अब हम नववर्ष में उदारीकरण के नाम पर चल रहे षड्यंत्र पर एक नजर डालें। आजादी के बाद देश में प्रजातांत्रिक शासन और समाज व्यवस्था में पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से नव निर्माण का अनूठा प्रयोग हुआ। फलत:

उद्योग, संचार, कृषि, अंतरिक्ष विज्ञान आदि अनेक क्षेत्रों में उपलब्धियाँ स्पष्ट रूप से देखने में आईं। आजादी के समय सुई से लेकर खाद्यान्न तक के लिए दूसरे देशों से आयात पर निर्भर रहने वाला भारत आज न केवल खाद्यान्न, वरन् अनेक औद्योगिक एवं आधुनिक प्रौद्योगिकीय उत्पादन में आत्मनिर्भर हो गया है। सर्वांगीण विकास एक सतत् चलने वाली प्रक्रिया है और विकास की दौड़ में जरा-सी भी ढिलाई या व्यतिक्रम संपूर्ण प्रगति अभियान की गति को गम्भीर आघात पहुँचाता है। हमारे देश की प्रगति के साथ भी कुछ ऐसा ही देखने में आ रहा है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद प्रथम चालीस वर्षों तक योजनाबद्ध विकास के द्वारा आत्मनिर्भरता और सर्वांगीण उन्नयन के प्रयासों को नयी उदारीकरण और भूमण्डलीकरण की नीतियाँ गंभीर आघात पहुँचा रही हैं। मिश्रित अर्थव्यवस्था तथा विदेशी पूँजी की लालसा ने अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व व्यापार संगठन के मकड़जाल में देश की अर्थव्यवस्था को ढकेल दिया है। इसी प्रक्रिया के परिणामस्वरूप 'एशियन टाइगर्स' कहलाने वाले सिंगापुर, इंडोनेशिया, ताइवान, मलयेशिया तथा कोरिया आदि देश दिवालिया होने के कगार पर आ गए हैं, यह बात किसी से छिपी नहीं है। बहुराष्ट्रीय कंपनियों की लूट और अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं की गलत एवं मनमानी शर्तों की वजह से इन राष्ट्रों को भयंकर आर्थिक संकट और राजनीतिक उलट फेर भुगतने के साथ अमरीकी आर्थिक साम्राज्यवाद के सामने घुटने टेकने को विवश होने पड़ रहे हैं। यही नहीं, बल्कि इन देशों की जनता को भूखमरी, आर्थिक शोषण तथा सामाजिक-राजनीतिक उत्पीड़न का शिकार होना पड़ रहा है। इससे भारतवासियों को क्या सबक नहीं लेनी चाहिए? भारत में भी उदारीकरण की नीतियों, बहुराष्ट्रीय कंपनियों की प्रतियोगिता और मुक्तबाजारवाद की तीव्र मुनाफाकमाउ प्रवृत्तियों के परिणामस्वरूप देश के प्राय: अधिकतर सार्वजनिक प्रतिष्ठान लगभग बंद होने के कगार पर खड़े हैं। औद्योगिक क्षेत्र में आ रही मंदी और रुपयों के मूल्य में लगातार गिरावट से आर्थिक संकट प्रारंभ हो चुका है। उदारीकरण की इस नीति से गरीब और अमीर के बीच की खाई और बढ़ती जा रही है। सामाजिक न्याय, आर्थिक समानता, रोजगार और विकास के अवसर हमेशा के लिए छीन लेने का षड्यंत्र गहराता जा रहा है। भारत सरकार ने विश्व व्यापार संगठन के दबाव में तथा आर्थिक, उदारीकरण के तहत लगभग 300 वस्तुओं को नियंत्रित सूची से हटाकर सामान्य लाइसेंस के अंतर्गत रख दिया है। इन वस्तुओं में सब्जियाँ, तेल, कागज, कपडे, इलेक्ट्रॉनिक उत्पादन, खेल सामग्री आदि हैं। और तो और अब बीमा क्षेत्र के दरवाजे भी विदेशों के लिए खोले जा रहे हैं। इसी प्रकार पेटेंट का मामला भी कम खतरनाक नहीं है। दवाओं तथा कृषि उत्पादों के मामले में इससे न सिर्फ कीमतें आसमान छूने लगेंगी और इन उत्पादों के आयातों पर भी निर्भरता बढ़ेगी, बल्कि इन क्षेत्रों में अब देश में जितना प्रौद्योगिक विकास हुआ है, वह भी ठप्प पड़ जाएगा। इन

कदमों में असली खतरा विदेशी वित्तीय पूँजी पर बढ़ती निर्भरता में है। ऐसा लगता है कि विदेशी कंपनी सिर्फ अपने हितों के लिए भारत को अपना बाजार बना रही है और भारतीय बाजार में भारतीय कंपनियाँ अपना अस्तित्व खोती जा रही हैं जिसमें भारत का भोला-भाला उपभोक्ता बिना फँसे हुए बच नहीं सकता। कहीं ऐसा न हो कि ये विदेशी कंपनियाँ एक दिन सरकार के गले की हड्डी ही बन जायें। ईस्ट इंडिया कंपनी की कारगुजारियों से तो हमसब अवगत हैं।

अभी हमारे देश में अमरीका की सोचवाली नीतियाँ चल रही हैं और हम इसके असर को देखकर भी अनदेखी कर रहे हैं। जिस सोवियत संघ को ध्वस्त कराने में बाजारवादी शक्तियों ने अपना सारा जोर लगाया था, आज उसको अपने पैरों पर खड़ा होने के लिए मदद देने वाला कोई नजर नहीं आता। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि अपनी ताकत, कमजोरी और क्षमता को पहचानें और उसी के अनुरूप नीतियाँ अपनाएँ। बस्तर और कालाहाडी में वाशिंगटन नहीं बस सकता। सच तो यह है कि भारत अकेला ऐसा देश है जहाँ स्वदेशी की अवधारणा भी स्वदेशी नहीं है।

20 वीं सदी के इस आखिरी वर्ष में हमारे देश के समक्ष चुनौतियाँ ही चुनौतियाँ हैं। देश के करोड़ों को दो वक्त की रोटी मुहैया कराने का सवाल, दिल्ली से लेकर राज्यों में बढ़ती हत्या, बलात्कार, अपहरण जैसी अपराध की घटनाओं को रोकने का सवाल, निरंतर बढ़ती जनसंख्या तथा आसमान छूती मँहगाई को रोकने का सवाल, संप्रदाय तथा जाति के नाम पर हो रहे दंगे-फसाद पर काबू पाने का सवाल और पड़ोसी देशों से संबंध सुधारने जैसे सारे सवाल देश के सामने गंभीर चुनौती बनकर खड़े हैं। इसी प्रकार राजनीति और अपराध का गठजोड़ कहाँ समाप्त हो पा रहा है? भ्रष्टाचार में संलिप्त राजनेता देश का धन पानी की तरह बहाने से कहाँ बाज आ पा रहे हैं? इन्हीं सौगातों के साथ हमने नए वर्ष में प्रवेश किया है। इन सभी चुनौतियों का सामना हम कैसे कर सकेंगे इस पर सभी विचारवान लोगों को चाहे वे खेत-खलिहान अथवा नगर की अट्टालिकाओं में हों, मिल बैठकर गंभीरता से विचार करना होगा। तभी दस्तक देती 21 वीं सदी में हम सर उठाकर चल सकेंगे। तो आइए, इस नव वर्ष में यह संकल्प लें कि अपने-अपने स्वार्थों से ऊपर उठकर देश एवं समाज की सुख-समृद्धि के लिए, इसके मान-सम्मान के लिए पूरी निष्ठा और ईमानदारी से देश के प्रति अपने दायित्व का निर्वाह कंधे से कंधा मिलाकर करेंगे।

राष्ट्रीय विचार पत्रिका, वर्ष : 3, अंक : 4, जनवरी-मार्च, 1999

◈◈◈

भारतीय लोकतंत्र आज अराजक स्थिति में

तेरह महीने की वाजपेयी सरकार गिर जाने के पश्चात् भारतीय लोकतंत्र फिर एक ऐसे चौराहे पर खड़ा है जहाँ सवाल चुनाव का नहीं, बल्कि लोकतंत्र की इस प्रक्रिया से जनता की खत्म होती आस्था से है, लोकसभा की इस विचित्रता से उबरने का है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि भारतीय लोकतंत्र आज अराजक स्थिति में है या यों कहा जाय कि प्राय: सभी राजनीतिक दलों एवं उसके नेताओं ने ऐसी अराजक स्थिति पैदा कर दी है ऐसी अराजकता में ही लोकतांत्रिक प्रक्रिया पर प्रश्न चिह्न लगने प्रारंभ हो जाते हैं।

यह बदकिस्मती ही है कि देश की राजनीति में ऐसे लोग आ गए हैं जिन्हें देश और लोकतंत्र की कोई चिंता नहीं। उनका व्यवहार और उनकी प्रवृत्ति पराकाष्ठा पर पहुँच गई है। वे अपने अहम तथा निहित स्वार्थों की पूर्ति के लिए देश, प्रदेश तथा अपनी पार्टी के हितों को भी दाव पर लगा सकते हैं। किसी न किसी बहाने ये नेता देश में राजनीति अस्थिरता पैदा करने का कुचक्र रच रहे हैं। बसपा सुप्रीमों कांशीराम तो अक्सर कहा करते हैं कि "हम चाहते हैं कि अस्थिरता बनी रहे ताकि सत्ता तक पहुँचने में हमारा दाव लग सके।" पिछले दिनों 12 वीं लोकसभा में वाजपेयी सरकार के विश्वास मत प्राप्त करने पर हुई बहस में भाग लेते हुए बसपा नेता सुश्री मायावती ने मतदान में भाग लेने का ऐलान न केवल भारतीय मतदाताओं के समक्ष, बल्कि सारी दुनिया के सामने किया और बाद में बसपा के पाँच सांसदों ने विश्वास मत के खिलाफ मतदान किया वह चौंकाने वाली बात ही नहीं, बल्कि जन प्रतिनिधियों की छवि पर एक सवालिया निशान लगा दिया। इससे भी बढ़कर आश्चर्य तब हुआ जब मायावती ने बाद में उत्तर प्रदेश का बदला लेने की बात कही। क्या यह भारतीय लोकतंत्र के लिए शुभ-सूचक कहा जाएगा? एक वोट से सरकार की हार ने देश को चुनाव की ओर धकेल दिया जिसके लिए न तो सांसद तैयार थे और ना ही इस देश की जनता, क्योंकि इस एक वोट की संख्या की खेल से इस गरीब देश के हजारों करोड़ रुपयों का वारा-न्यारा हो जाएगा। आर्थिक तंगी से गुजर रहे इस देश का बार-बार चुनाव प्रक्रिया से गुजरना देश को आर्थिक गुलामी के रास्ते पर ले जाना है। बार-बार चुनाव होने के कारण न केवल देश की विकास गति थम जाती है, बल्कि हजारों करोड़ रुपयों के अपव्यय के साथ साथ बहुत सारा समय प्रशासन

का इस काम में चला जाता है। आँकड़ों के अनुसार मध्यावधि चुनाव पर राष्ट्रीय खजाने से एक हजार करोड़ रुपये खर्च होंगे और नेताओं एवं जनता के खर्च अलग। यह सार्वजनिक संसाधनों का अपराधिक अपव्यय नहीं तो और क्या? किसी को क्या सरोकार कि उनकी ऐसी हरकतों से देश और उसकी जनता का कितना नुकसान होता है।

इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि हमारा लोकतंत्र अपने हर रहनुमाओं की करनी पर आँसू बहा रहा है और हम कुछ नहीं कर पा रहे हैं। पक्ष या विपक्ष के हर दल देश हित को दरकिनार कर अपनी ही गोटी लाल करने को उद्दत हैं। क्या यह सच नहीं कि सोनिया की अतिमहत्त्वाकाँक्षा ने जयललिता एवं सुब्रह्मण्यम स्वामी के कुटिल चाल के सहारे तथा सोनिया की जय जयकार करने वाले और कुछ ही मिनटों में सरकार बनाने का दावा करने वाले लालू प्रसाद ने आखिर देश को एक और मध्यावधिक चुनाव की ओर धकेल ही दिया। बिना विचार-विमर्श के अपने-अपने को फटकारने वाले विभिन्न राजनीतिक दलों के लोग प्रजातंत्र व धर्मनिरपेक्षता दोनों से ही अपना मजाक उड़ा रहे हैं। अपने को देशभक्त कहने वाले लोग मौकापरस्त हो लोकतंत्र के साथ खिलवाड़ कर गए। इसमें कतई संदेह नहीं कि विपक्षी दलों से वाजपेयी सरकार के पतन के बाद वैकल्पिक सरकार न दे सकने की जो भयंकर भूल हुई है उसका खामियाजा तो उन्हें भुगतने के लिए तैयार रहना ही होगा।

भारतीय राजनीति के अखाड़े में खड़े प्राय: सभी राजनीतिक दल सार्थक रूप से जनता को छूने वाले मँहगाई के प्रश्नों और बेरोजगारी जैसे आकांक्षाओं को संगठनात्मकर्त्ता के साथ मुख्य लड़ाई के प्रश्नों के रूप में राजनीतिक मंच पर लाने में असमर्थ रहे हैं। तेरहवीं लोकसभा के चुनाव में शायद इन सवालों का नाम लेने से भी ये दल कतराएँ। इक्कसवीं सदी का अधकचरा नारा भी शायद नहीं चल सके। कहीं ऐसा न हो कि 12 वीं लोकसभा की तरह इन परिस्थितियों में पुन: विभाजित तथा दिशाहीन जनादेश न आ जाए।

सिद्धांतों, मूल्यों और मान्यताओं को तिलांजली देने वाली 13 महीने की भाजपानीत वाजपेयी सरकार भी उन सरोकारों से न जुड़ पाने के कारण जन जीवन को अपने शासन काल में राहत नहीं दिला पाई। किंतु अन्य विपक्षी दलों में भी जनसरोकारों से दूरी धन-बल, बाहुबल, छल-बल की राजनीति जिस प्रकार देखने में आ रही है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि स्थायित्व और चुनाव की सार्थकता की दिल्ली अभी भी बहुत दूर है। आगामी लोकसभा में स्थायित्व

भरा जनादेश यहाँ की जनता सौंप पाएगी, इसमें संदेह है। शरद पवार पहले ही कह चुके हैं कि तेरहवीं लोकसभा 'त्रिशंकु' की होगी और कोई भी दल बहुमत हासिल करने में सफल नहीं होगा। जद अध्यक्ष शरद पवार ने भी कुछ ऐसा ही कहा है।

इधर सोनिया गाँधी ने विदेशी मूल को लेकर शरद पवार, पी.ए. संगमा तथा तारिक अनवर द्वारा उठाए गए कदमों के कारण भारतीय राजनीति के घटनाक्रम तेजी से बदल रहे हैं तथा काँगेस में भी एक भूचाल-सा आ गया है। वैसे सच कहा जाय तो सोनिया गाँधी के विदेशी मूल की बात न भी की जाय तो सोनिया गाँधी न तो जन्म से और न कर्म से हिंदुस्तानी हैं। मैं यहाँ पूरे सम्मान के साथ कहना चाहूँगा कि उन्होंने कभी भी इस देश के भले के लिए प्रकट या परोक्ष तौर पर कुछ भी नहीं किया। यह तो अच्छा हुआ कि प्रधानमंत्री होने से पूर्व वे प्रश्न के घेरे में आ गईं अन्यथा देश की आने वाली पीढ़ी यह सवाल पूछती कि उस समय क्या देश का मानस बंजर हो गया था जिसे एक विदेशी मूल की घरेलू महिला के आँचल का सहारा लेना पड़ा। सच तो यह है कि उनकी दुर्गति के पीछे काँग्रेस के अर्जुन सिंह सरीखे नेता हैं जो अपने स्वार्थ के लिए उन्हें इस्तेमाल कर रहें हैं।

मध्यावधि चुनाव की अबतक की जो स्थिति है, उससे यह भी जाहिर है कि जहाँ कुछ क्षेत्रीय दलों का अस्तित्व खतरे में पड़ सकता है, वहीं कुछ क्षेत्रीय दलों की अभी भी संतुलन शक्ति अपने हाथ में रखने की स्थिति आ सकती है। इससे रचनात्मक राजनीति की बजाय फिर विरोधाभासी, मौकापरस्ती और नकारात्मक राजनीति के उभरने के हालात बनेंगे, जो राष्ट्रीय हित में नहीं होंगे।

ऐसी विकट स्थिति में न केवल जनता का जागरूक होना जरूरी है, बल्कि प्रत्येक राजनीतिक दल के लिए ये हालात विचारणीय हैं। क्या वे क्षुद्र सत्तागत एवं दलगत स्वार्थ से ऊपर उठकर ऐसे रास्ते नहीं ढूँढ़ सकते जिससे त्रिशंकु संसद की संभावना को टाला जा सके? क्या चुनाव के पूर्व ही समान विचारधारावाले दल मिलकर मजबूत गठबंधन एवं साझा कार्यक्रम के तहत चुनाव लड़कर जनता में नया विश्वास पैदा नहीं कर सकते?

भाजपा-समता गठबंधन ने एक साझा कार्यक्रम तैयार कर *'राष्ट्रीय जनतान्त्रिकगठबंधन''* का गठन किया है जो स्वागत योग्य है। पर यह तो आने वाला समय ही बताएगा कि यह मंच कहाँ तक कारगर हो पाता है। बहरहाल अब

सवाल यह नहीं कि कौन अच्छा और कौन खराब। चुनाव अब सामने है और हर चुनाव आम मतदाता को एक अवसर प्रदान करता है लोंगों को परखने का। अब यह जबावदेही मतदाताओं पर आ पड़ी है कि वह खराब को फेंके और अच्छों को अपनाएँ।

चुनाव परिणाम चाहे जो हो किंतु इस चुनाव मैदान में प्राय: सभी राजनीतिक पार्टियाँ बड़े बोझिल मन से उतर रही हैं तथा सभी के अपने अलग-अलग धर्मसंकट हैं। सबसे बड़ा धर्मसंकट तो यह है कि मतदाताओं के समक्ष कुछ रखने को, कुछ कहने को उनके पास कुछ है ही नहीं। नवगठित *राष्ट्रीयजनतांत्रिकगठबंधन* क्या यह कहकर वोट माँगेंगे कि उन्हें अपनी समस्याओं से निपटने में समय बीत गया या फिर हमारी सरकार को एक षड्यंत्र के तहत गिरा दिया गया। मंदिर निर्माण, धारा 370 तथा समान नागरकि संहिता जैसे हिंदुओं को लुभाने वाले मुद्दों को इस बार छोड़ने के लिए उन्हें बाध्य होना पड़ रहा है, क्योंकि अपनी 13 महीने की सरकार में उन मुद्दों को उन्होंने छूआ तक नहीं। हाँ, पोखरण का परमाणु परीक्षण, अग्नि परीक्षण तथा लाहौर बस-यात्रा जैसे मुद्दे उनके खास हो सकते हैं पर वे कितने असरदार होंगे यह तो समय ही बताएगा।

आत्ममंथन का वक्त होता है आम चुनाव किसी भी देश के लिए और लोकतंत्र के लिए पावन। पर हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि भारत जैसे गरीब देश जहाँ की लगभग 40 प्रतिशत आबादी गरीबी रेखा से नीचे अपना जीवन बसर कर रही है, जहाँ तकरीबन तैंतीस करोड़ निरक्षरों की फौज मौजूद हो और स्वास्थ्य शिक्षा तथा दो जून की रोटी भी लोगों को मयस्सर न हो पा रही हो, वह देश बार-बार चुनाव का खर्च कैसे वहन कर सकेगा? ऐसी स्थिति में मतदाताओं से यह अपेक्षा की जाती है कि वे ईमानदार, चरित्रवान तथा साफ-सुथरी छवि के प्रत्याशी को अपना प्रतिनिधि बनाएँ।

राष्ट्रीय विचार पत्रिका, वर्ष : 3, अंक : 5, अप्रैल-जून, 1999

◈◈◈

पाकिस्तान की कथनी और करनी में कोई सामंजस्य नहीं

लगभग दो महीने से भी अधिक से भारतीय सैनिकों और पाक सेनाओं-घुसपैठियों के बीच चल रही गोलाबारी की समाप्ति की घोषणा की गयी। खबरों में यह बताया गया कि सभी घुसपैठिए वापस पाकिस्तान चले गए, किंतु पाकिस्तानी मीडिया ने कहा कि आतंकवादी घुसपैठिए नियंत्रण रेखा की तरफ नहीं लौटे। तो क्या वे कश्मीर की घाटी में चले गए? इस नज़रिए से भारतीय सेना को अपनी चौकसी में ढ़ील नहीं बरतनी चाहिए। ऐसा लगता है कि आतंकवादियों ने अपनी रणनीति बदलकर अब कश्मीर घाटी में कहर बरपाने की रणनीति को अपना रहे हों। कहा तो यह जाता है कि खतरनाक अंतरराष्ट्रीय आतंकवादी बिन लादेन कश्मीर की घाटी में सक्रिय है। आतंकवादियों की धमकियाँ अब भी यही है कि वे चुप नहीं बैठेंगे और भारत के खिलाफ नए मोर्चे खोलेंगे।

खैर जो हो, कारगिल सरहदों पर गरजती तोपें अब शांत हो गयी हैं। भारत के साथ ईंट से ईंट बजाने का दावा करने वाले घुसपैठिए भीगी बिल्ली की तरह भाग खड़े हुए। वैसे पाकिस्तान का कोई भरोसा नहीं है, वह किसी भी समय अकारण युद्ध छेड़ सकता है और कारगिल जैसी स्थिति पैदा कर सकता है। इसलिए उसकी हरकतों पर हर घड़ी चौकसी रखी जानी आवश्यक ही नहीं, अपरिहार्य है। हमारी तनिक शिथिलता व लापरवाही का वह नाजायज फायदा उठा सकता है। कारगिल जैसी स्थिति पुन: कभी पैदा न हो, इसके लिए यह आवश्यक है कि भारत सतत सतर्कता बरते। हमारी चौकसी में कोताही के चलते ही पाकिस्तानी घुसपैठिए हमारी सीमा में घुस आए जिसकी जाँच भारत सरकार को करनी है।

हमें यह समझने में भूल नहीं करनी चाहिए कि पाकिस्तानी का व्यवहार ''मुँह में राम बगल में छुरी'' वाले कहावत को चरितार्थ करता है। भारत से संबंधों के मामले में पाकिस्तान की करनी और कथनी में सामंजस्य न होने की बात पुरानी है। इस बार नया यह हुआ कि पाकिस्तान ने उपद्रव मचाने का बिल्कुल नया एवं अनूठा तरीका अपनाया और निश्चित रूप से भारत के लिए यह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति रही कि हमारे सुरक्षा सैनिकों को जब इस बात की भनक

मिली तब तक काफी देर हो चुकी थी। हमारी फौज जब हरकत में आईं उस समय तक कारगिल और द्रास की ऊँची चोटियों पर घुसपैठिए पूरी तरह अपने पैर जमा चुके थे अन्यथा उन्हें खदेड़ने में न तो इतना समय लगता और ना ही इतनी संख्या में हमारे सैनिकों को अपनी जान गंवानी पड़ती। पाकिस्तान की फितरत से वाकिफ होने के बावजूद उसकी दोस्ती पर भरोसा कर लेना भारत की भूल ही कही जाएगी, जिसका खामियाजा उसे सैकड़ों सपूतों की कीमती जान देकर चुकाना पड़ा। अब तो इस बात से कोई इंकार नहीं कर सकता कि घुसपैठियों में पाक सेना के जवान भी शामिल थे। पाक अधिकृत कश्मीर के प्रधानमंत्री सुल्तान अहमद चौधरी ने घुसपैठियों को हर प्रकार की सहूलियतें दीं और भारतीय सीमा में घुसने के रास्ते और तौर तरीके भी बताए। भारत के प्रति पाकिस्तान के द्वेष और नफरत का अंदाजा जंग के मैदान में ध्वस्त बमवर्षक विमान मिग-21 के घायल भारतीय पायलट अजय आहूजा की गोली मारकर हत्या कर दी और युद्ध के दौरान लापता हुए जिन जवानों की लाशें भारत को सौंपी उनके जिस्म पर उन्हें घोर यातना दिए जाने के सबूत मौजूद थे। वह जिनीवा प्रस्तावों का घोर उल्लंघन है जिसमें कहा गया है कि युद्धबंदियों की हत्या नहीं की जा सकती और न ही उनके साथ दुर्व्यवहार किया जा सकता है।

दूसरी ओर भारत सरकार ने कारगिल युद्ध की अवधि में जिस संयम और धैर्य का परिचय देकर विध्वंसक युद्ध में जाने से रोका, वह काबिले तारीफ है। हालाँकि यह भी सच है कि भारत के बहुत से लोगों ने यह कहना प्रारंभ कर दिया था कि इस बार हमारे सैनिकों को पाकिस्तानी सेना से आर-पार की लड़ाई लड़ लेनी चाहिए। खैर ऐसा नहीं होना भी अच्छा रहा। पाकिस्तान को भी अगर पूरी तरह जलील होकर घुटने टेकने पड़े तो इसका श्रेय न केवल पश्चिम की महाशक्तियों के दबाव को जाएगा, वरन् हमारे भारतीय सैनिकों की सूझबूझ तथा उनकी वीरता को भी जाएगा जिसके लिए वे हार्दिक बधाई के पात्र हैं। उन वीर सपूतों पर हमें नाज है तथा जिन वीर जवानों ने अपनी कुर्बानी देकर मातृभूमि की रक्षा की उन्हें शत्-शत् नमन।

कारगिल युद्ध के बाद हमारे सिर पर चुनाव युद्ध आ धमका। सत्ता हथियाने तथा कुर्सी की इस दौड़ में राजनीतिक दल एवं उसके नेता चुनाव की अवधि में कारगिल प्रकरण को क्या राजनीतिक रंग न देंगे? क्या नेताओं की संवेदहीनता और संज्ञा शून्यता के कुछ उदाहरण देखने को नहीं मिलेंगे? अनर्गल प्रलाप करते हुए हमारे नेता यह भी भूल जाएँगे कि उनके बयानों एवं हरकतों

को उन परिवारों के लोग भी देख या सुन रहे हैं जिनके बेटों, पतियों, भाईयों ने कारगिल युद्ध में कुर्बानियाँ दीं। यही नहीं, युद्ध में घायल सैनिक भी इस राजनीतिक कलाबाजी को देखें-सुनेंगे, जिन्होंने जान हथेली पर रखकर अपने वतन की रक्षा की। कैसा लगेगा उन्हें यह सब देख-सुनकर?

यदि चुनाव के दौरान पक्ष-विपक्ष तरह-तरह के अनर्गल अलाप बघारते रहे, एक-दूसरे पर छिंटाकसी करते रहे तो यकीनन यह कारगिल के शहीदों का अपमान होगा तथा पूरे देशवासियों को, जिन्होंने इस युद्ध के दौरान अपनी एकजुटता का परिचय दिया उनके दिलों को ठेस अवश्य पहुँचेगी। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि सभी राजनीतिक दल एवं उसके नेता और कार्यकर्ता प्रजातांत्रिक मूल्यों-मर्यादाओं के तहत चुनावी प्रक्रिया को अपनाएँ तथा एक स्वस्थ परंपरा का निर्वाह करें, यही समय का तकाजा है।

राष्ट्रीय विचार पत्रिका, वर्ष : 3, अंक : 6, जुलाई-सितंबर, 1999

◈◈◈

खंड- तीन: विचार दृष्टि

अक्टूबर 1999 — दिसंबर 2008

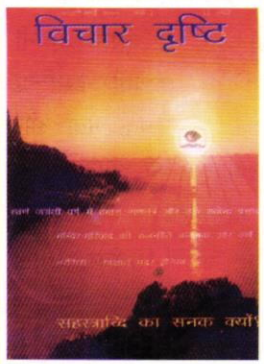

अंक : 2

प्रवेशांक

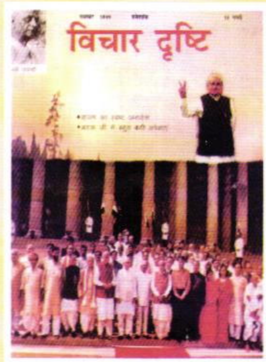

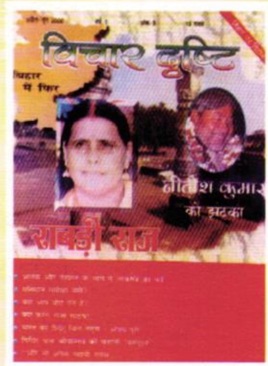

अंक : 3

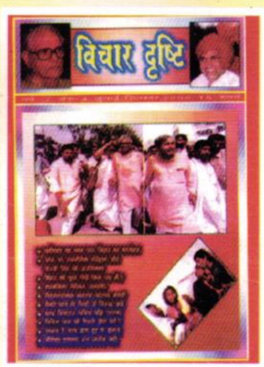

अंक : 4

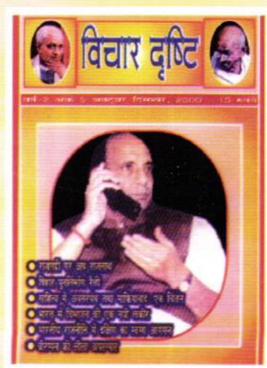

अंक : 5

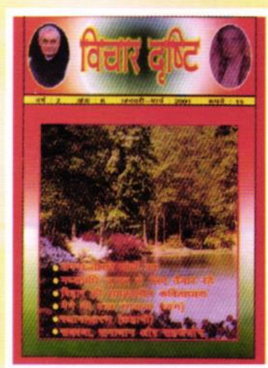

अंक : 6

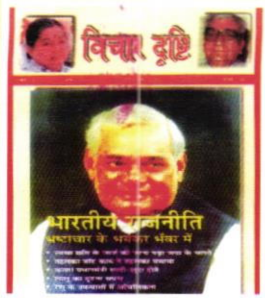

अंक : 7

अंक : 8

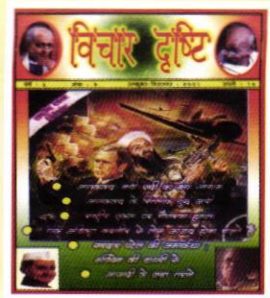

अंक : 9

अंक : 10

अंक : 11

अंक : 12

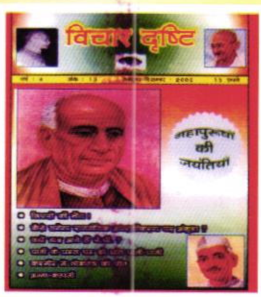

अंक : 13

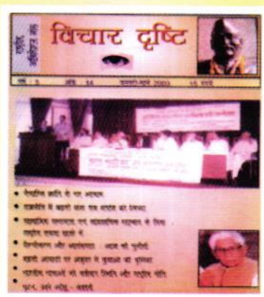

अंक : 14

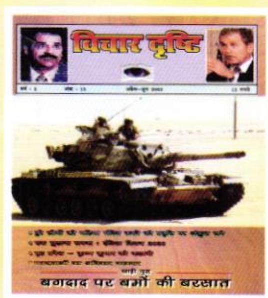

अंक : 15

अंक : 16

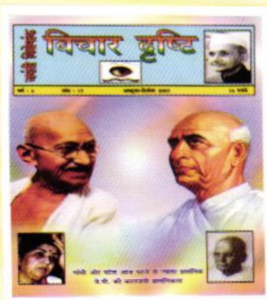

अंक : 17

अंक : 18

अंक : 19

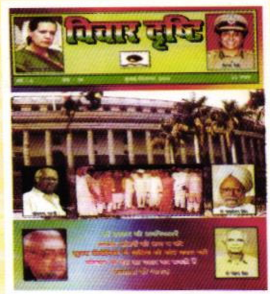

अंक : 20

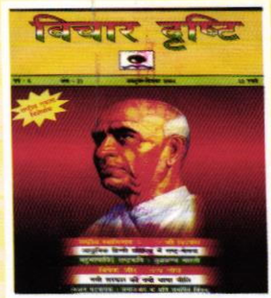

अंक : 21

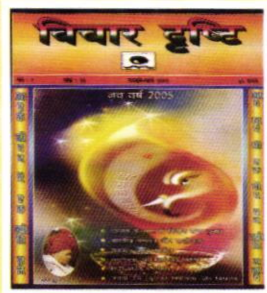

अंक : 22

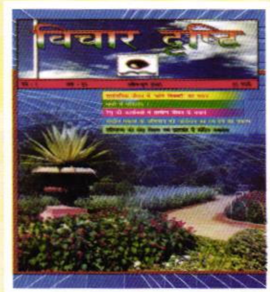

अंक : 23

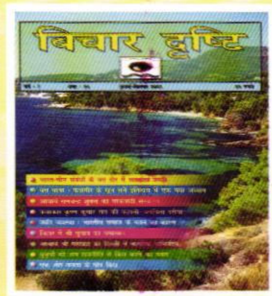

अंक : 24

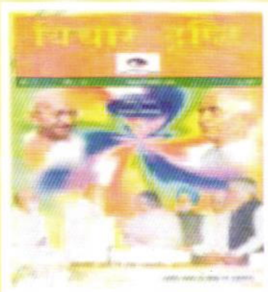

अंक : 25

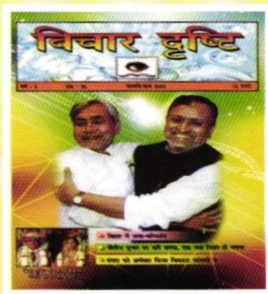

अंक : 26

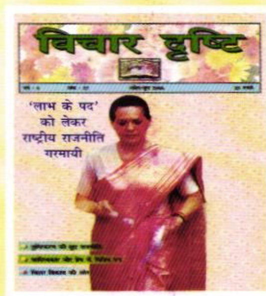

अंक : 27

अंक : 28

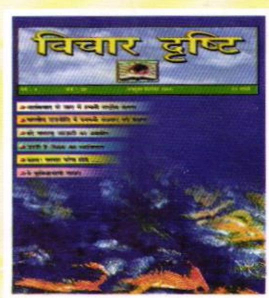

अंक : 29

अंक : 30

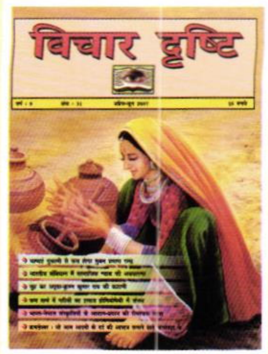

अंक : 31

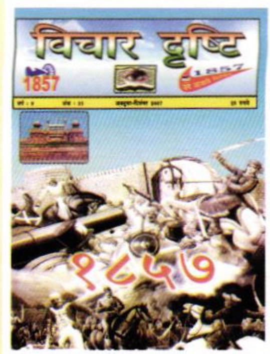

अंक : 32

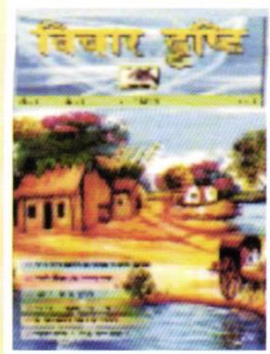

अंक : 33

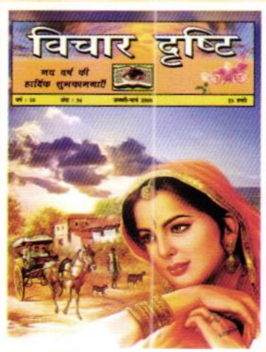

अंक : 34

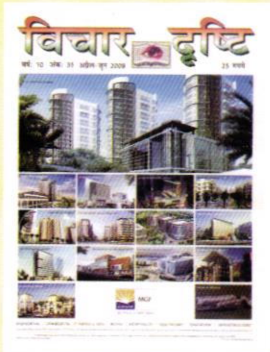

अंक : 35

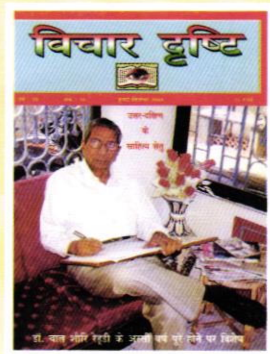

अंक : 36

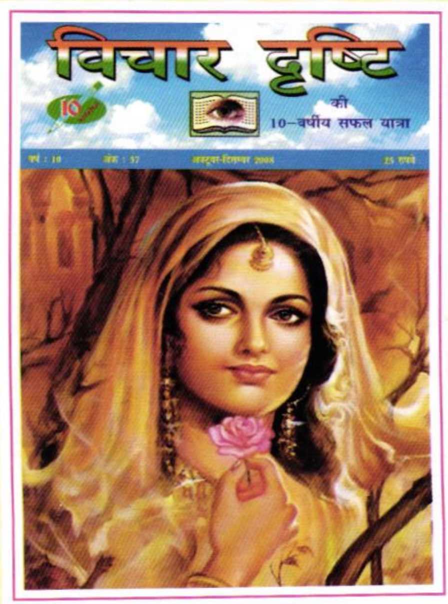

अंक : 37

13-15 जुलाई 2007 को अमेरिका के न्यूयॉर्क में आयोजित 'आठवें विश्व हिंदी सम्मेलन' में बिहार सरकार की ओर से भारतीय प्रतिनिधिमंडल में शामिल 'विचार दृष्टि' के संपादक सिद्धेश्वर के साथ बिहार के प्रतिनिधिगण संयुक्त राष्ट्रसंघ के सभागार में उपस्थित

नेपाल अणुव्रत समिति की ओर से अध्यक्ष श्री हुलासचंद गोल्छा काठमांडु में सिद्धेश्वर जी को सम्मानित करते हुए

'विचार दृष्टि' द्वारा राज्यपाल लेफ्टिनेंट जनरल एस.के. सिन्हा की अध्यक्षता में आयोजित संगोष्ठी में सिद्धेश्वर जी

'विचार दृष्टि' के संपादक आतंकवाद पर आयोजित संगोष्ठी को संबोधित करते हुए

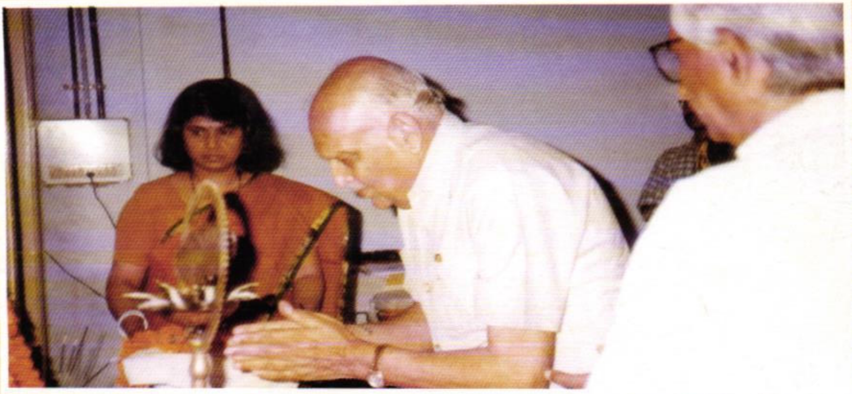

'विचार दृष्टि' की संगोष्ठी का दीप प्रज्ज्वलित कर उद्घाटन करते हुए
लेफ्टिनेंट जनरल एस.के. सिन्हा के साथ संपादक

चेन्नई में 'विचार' दृष्टि से जुड़े साहित्यकारों व पत्रकारों के बीच संपादक सिद्धेश्वर जी

संपादक सिद्धेश्वर की पुस्तक 'समकालीन यथार्थबोध' का बिहार विधान परिषद् के
सभापति प्रो. अरुण कुमार की अध्यक्षता में आयोजित लोकार्पण समारोह में
बिहार के मुख्यमंत्री श्री नीतीश कुमार के साथ सिद्धेश्वर जी

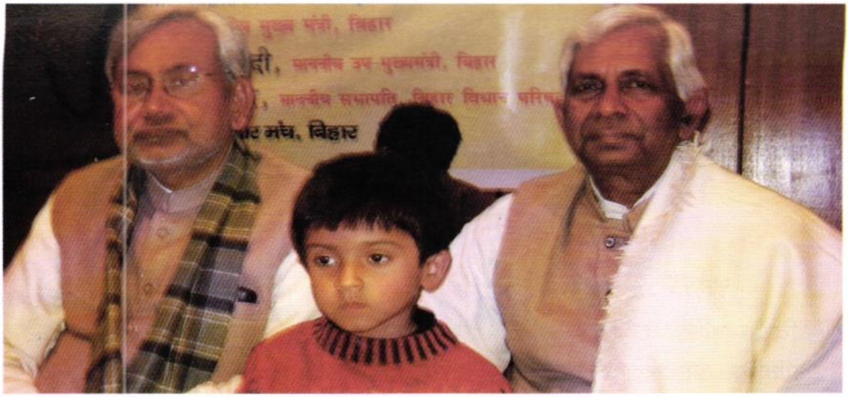

बिहार के मुख्यमंत्री श्री नीतीश कुमार के साथ
संपादक सिद्धेश्वर और उनके पौत्र समीर

'विचार दृष्टि' के परामर्शी डॉ. बालशौरि रेड्डी से नई दिल्ली में आयोजित
द्वितीय राष्ट्रीय अधिवेशन के संबध में विचार विमर्श करते संपादक सिद्धेश्वर

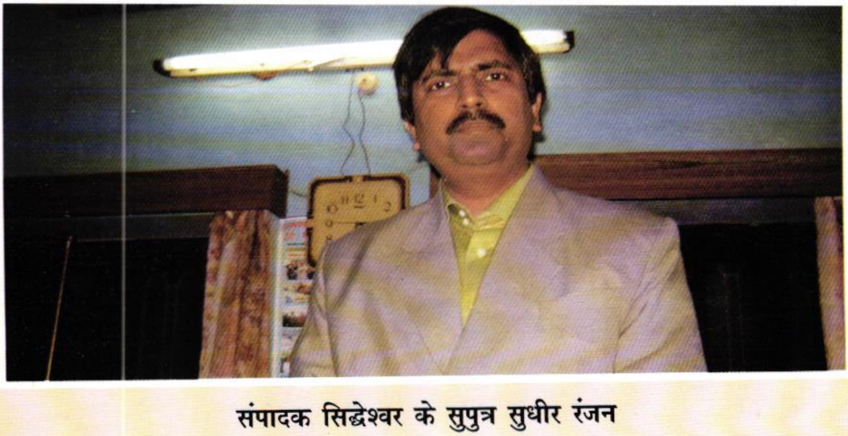

संपादक सिद्धेश्वर के सुपुत्र सुधीर रंजन

विचार दृष्टि

विचार और दृष्टि की प्रासंगिकता आज सबसे अधिक

भारत सरकार के सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय द्वारा अनुमोदित शीर्षक 'विचार दृष्टि' का प्रवेशांक आप सुधि पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें आंतरिक आह्लाद की अनुभूति इसलिए हो रही है कि इस पत्रिका के नाम में 'विचार' और 'दृष्टि' दो ऐसे शब्दों का चयन किया गया है जिसकी प्रासंगिकता आज सबसे अधिक है। जब देश में अधिकतर आदमी गलत काम कर रहा हो, प्रवृत्ति सुविधाभोगी हो गयी हो, लोकतंत्र की ओट में निरंकुश भीड़तंत्र की हुकुमत हो, ऊँची कुर्सियों पर बैठे लोगों ने कानून अपने हाथ में ले लिया हो, प्रशासनिक अधिकारी एवं हमारे प्रतिनिधि अपने कर्त्तव्य भूलकर सिर से पाँव तक आकंठ भ्रष्टाचार में डूब गए हों तथा जनता किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गयी हो, तब खूनी क्रांति की नहीं, वैचारिक क्रांति की आवश्यकता है और उसे सत्ता के सुख भोग रहे न तो राजनीतिज्ञ ला सकते हैं और ना ही सुविधाभोगी भ्रष्ट अधिकारी के वश की यह बात है। लोगों के सोचने का ढंग, विचार करने का ढंग, अन्याय के खिलाफ लड़ने की लचर प्रणाली में परिवर्तन लाने की क्षमता यदि किसी में है तो वह है प्रबुद्धजन। चाहे वह कॉलेज व विश्वविद्यालय के विचारवान छात्र समुदाय हों या प्राध्यापक, मीडिया के प्रबुद्ध पत्रकार हों या रचनाकार, सच की लड़ाई लड़ने वाले वे ही हो सकते हैं। चिंतक तथा विचारक ही वैचारिक क्रांति लाने में समर्थ हैं। अब वह वक्त आ गया है जब उन्हें सक्रिय होना होगा, क्योंकि देश की जनता आज 'दहशत गर्दों' के चंगुल में फँस गई है, अन्याय का विरोध करने की ताकत उनमें नहीं रह गयी है। आज प्रत्येक भारतीय एक निश्चित परिधि के अंदर ही सिमट रहा है और समाज अनेक टुकड़ों में बँटता चला जा रहा है जिसके परिणामस्वरूप संपूर्ण राष्ट्र की कल्पना करना कठिन हो रहा है। आज ऊपर से भले ही विचारों की काफी भीड़-भाड़ या मेला-सा हमें लगा दिखे, किंतु बुनियादी मौलिक विचारशीलता और समन्वित परिप्रेक्ष्य लगभग ओझल हैं। संक्रमण का समय दिशाहीनता की ओर ले जाता है। हम सब इस बात से अवगत हैं कि देश की प्रभुसत्ता राजनीतिक लोगों में निहित है यानी वे ही देश के संचालक हैं, किंतु उनकी यह चेतना आम तौर पर सूखे काठ में अग्नि की तरह सोयी रहती है। इस सुप्त चेतना को विचारों के माध्यम से जागृत करने की जरूरत है। खेद है कि जो बीसवीं सदी समाज और देश को बदलने और

बेहतर बनाने वाली विचारधाराओं को लेकर प्रकट हुई, वही अब विचारधारा की समाप्ति की उद्घोषणा कर चुकी है। विचारधारा की समाप्ति के पश्चात् विचारणीय केवल यह रह जाता है कि कैसे ज्यादा से ज्यादा लोगों को खुश और कम से कम लोगों को नाराज किया जाए? यानी वोट पाने का जुगाड़ करना अपनी विचारधारा को व्यावहारिक रूप देने से कहीं ज्यादा जरूरी है। मुल्क को बदअमनी के इस आलम से निजात दिलाने के लिए पत्र-पत्रिकाओं को आगे आना होगा। आज हमारे समाज में भी ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो सारी स्थिति को भलीभाँति समझते हैं और जिनके सक्रिय हस्तक्षेप से व्यापक फेरबदल की गुंजाइश भी है। जरूरत केवल इस बात की है कि वे नकली बौद्धिक कुहासेवाले खोल से बाहर आएँ और फिर वैचारिक संकट को यों छोड़ देना भी तो ठीक नहीं। स्वामी विवेकानंद का भी मानना था कि आम जनता को या समाज को उनके अपने हाल में छोड़ देना एक राष्ट्रीय पाप है। अतएव सच तो यह है कि अन्याय, भेदभाव और अँधेरे के खिलाफ खड़ा हो जाना ही आज सच्ची समाज सेवा है।

वक्त का तकाजा है कि विचारवान, समझदार भलेमानुषों और विचारशील बुद्धिजीवियों को पहलकारी कदम बढ़ाकर आगे आना होगा। वे आखिर कब तक हाथ पर हाथ धरे बैठे मूकदर्शक बने रहेंगे? अँधेरा सिर्फ इसलिए तो नहीं छंट जाएगा कि कोई नेक आदमी उजाले की प्रतीक्षा में बैठा है। अतएव समाज और देश में व्याप्त घटाटोप अँधकार को हटाने के लिए हमें प्राचीन सूत्र, 'अप्पोदीपो भव:' के अनुसार शब्दाश: स्वयं दीपक बनकर प्रकाशित होने का पुरुषार्थ करना होगा। अँधकार को हम क्यों धिक्कारें? अच्छा है एक दीप जलाएँ। कुछ इसी भाव से प्रेरित हो दीप के रुप में यह 'विचार दृष्टि' आपके सामने है।

इस पत्रिका के शीर्षक में दूसरा शब्द है 'दृष्टि'। आजादी के बाद से ही हमारे देश में अनेक प्रकार के संकट छाए हैं जिनपर भी दृष्टि डालने की आवश्यकता है। सबसे बड़ा संकट है बढ़ती आबादी का। इसके साथ ही राष्ट्रीय नैतिकता, चारित्रिक और व्यक्तित्व का संकट, आतंकवाद का संकट, सांप्रदाय व जातिवाद का संकट, क्षेत्रियता का संकट तथा जीवन मूल्यों-मर्यादाओं के अवमूल्यन के संकट निरंतर रूप से पनपते जा रहे हैं। प्रश्न यह है कि क्या हम इन संकटों से उबर पाएँगे? दस्तक दे रही 21 वीं सदी में जब हम बेसब्री से प्रवेश करने की बाट जोह रहे हैं तो इन सारे संकटों पर दृष्टि डालनी होगी।

यह पत्रिका कुछ उद्देश्यों को लेकर भी बढ़ना चाहती है। अवधारणा यह है कि यह पत्रिका जीते-जागते जन की गरीबी, गैर-बराबरी, शोषण और संघर्ष,

दु:ख-दर्द और दमन के खिलाफ आम आदमी को वाणी दे, आर्थिक रुप से कमजोर वर्ग के सामूहिक नरसंहार, औरतों पर अत्याचार आदि इसके लेखक की पीड़ा बने। आजादी की आधी शताब्दी से अधिक बीत जाने के बाद भी जिनकी झोपड़ियों में विकास की किरणें अभी तक नहीं जा पाई है उनमें चेतना जागृत करने तथा आम जन-मानस को वैचारिक धरातल पर झकझोरने का प्रयास यह पत्रिका करेगी। कहना नहीं होगा कि राष्ट्रीय भावनाओं पर आधारित यह पत्रिका देश व समाज की ज्वलंत समस्याओं को निर्भीकता से विश्लेषण करेगी। सूचनाओं के बढ़ते शोर-शराबे में से उपयोगी जानकारी को पर्याप्त विस्तार, गहराई और साफगोई से प्रस्तुत करने का प्रयास होगा। इसके अतिरिक्त समाज की रूढ़ियों एवं अँधविश्वासों पर हमला करने तथा समाज विरोधी तत्त्वों एवं देशद्रोही ताकतों के खिलाफ आवाज उठाने में यह पत्रिका कंजूसी नहीं करेगी।

अभी पत्रिकाओं की बाढ़ को देखकर एक तरफ खुशी होती है तो दूसरी ओर उसके गिरते स्तर पर चिंता भी होती है। मैं समझता हूँ इस पत्रिका के संपादक-मंडल तथा पत्रिका-परामर्शी के अध्यवसाय और योजनाबद्धता से हिंदी पत्रकारिता को एक नया आयाम देने का हर संभव प्रयास किया जाएगा। विभिन्न विधाओं की कई तरह की रचनाओं से लबरेज पाठकों, विशेषकर वर्तमान पीढ़ी के रचनाकारों के लिए यह पत्रिका धरोहर के रूप में सहेजकर रखी जा सके, इसके लिए रचनाओं के चयन में कुशलता और सतर्कता बरतने की कोशिश की जाएगी। इस वैचारिक पत्रिका में बड़ा पाठक-वर्ग जुड़ सके, इसी को ध्यान में रखते हुए विचार-प्रवाह, साहित्य, नारी-जगत, न्याय-जगत, राजनीतिक नजरिया, सेहत-सलाह, कला-संस्कृति, व्यंग्य, हिंदीत्तर भाषा सीखें, खेल-खिलाड़ी तथा फिल्मावलोकन जैसे स्तंभों का समावेश कर लोगों को एक अच्छी खासी मानसिक खुराक देने का प्रयास किया गया है। विश्वास है श्रम-बिंदुओं से सना हमारा यह प्रयास आप सुधि पाठकों की भावनाओं का उज्ज्वल आलोक बनकर भावी पीढ़ी का पथ-प्रशस्त कर सकेगा और तभी हमें संतोष भी होगा।

सुप्रसिद्ध साहित्यकार व पत्रकार देवेन्द्र सत्यार्थी जी का कथन है- किसी से चीज प्राप्त करना बहुत बड़ी उपलब्धि होती है संपादक के लिए एहसान नहीं करता। कुछ इसी भाव से प्रेरित होकर आप सभी पाठकों/लेखकों से अच्छी रचनाओं की अपेक्षा करता हूँ जिसके अभाव में पाठक को फल भोगना पड़ता है।

अब आइए, एक नजर डालें चुनाव-88 के नतीजों पर।

अनचाहा मध्यावधि चुनाव संपन्न हुआ। नतीजे सामने आये। भारतीय मतदाताओं ने इस बार भी खंडित जनादेश दिया, क्योंकि किसी भी एक दल को

बहुमत नहीं मिल पाया है। हाँ राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबँधन को स्पष्ट बहुमत मिल गया है। इस जनादेश से इस बात की पुष्टि होती है कि भारतीय लोकतंत्र ने गठबंधन की राजनीति को स्वीकार कर लिया है और दीर्घकाल तक यही स्थिति बनी रहेगी। चुनाव नतीजे यह भी बताते हैं कि सांप्रदायिकता और विदेशी मूल की पैदाइश को तवज्जो नहीं दी गयी। इस संदर्भ में यह मानना होगा कि राजग को जो सफलता मिली उसका बहुत श्रेय प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी को जाता है। भाजपा तथा उसकी सहयोगी पार्टियों ने केवल अटल जी के नाम पर वोट माँगा। इसलिए यह कहना गलत नहीं होगा कि प्रधानमंत्री अटल जी अपनों या परायों को बंदूकें चलाने के लिए अपना कंधा इस्तेमाल नहीं होने देंगे। अब उन्हें सुब्रह्मण्यम स्वामी अथवा जयललिता जैसे स्वार्थी लोगो का पाला नहीं पड़ेगा। इन दोनों को अपनी करनी का फल मिल चुका है। इसलिए यह मानकर चला जा सकता है कि इस बार राजग की सरकार को पहले की वाजपेयी सरकार के मानिंद गिराने की कोशिश नहीं होगी। और अच्छा भी यही होगा, क्योंकि देश को अनेक स्तरों पर चुनौतियों से जूझना है, विकास के सोपान तय करने हैं और गरीबी, बेरोजगारी व मूलभूत समस्याओं से निपटना है। यह तभी संभव है जब न केवल गठबंधन के सभी सहयोगी दल अपनी सामूहिक जिम्मेदारी समझेंगे, बल्कि विपक्षी दल भी सहयोग की भावना से अपनी रचनात्मक भूमिका निभाएँगे। इस बीच संचार माध्यमों को भी अपनी दुधारी तलवार थामे रहना है। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और लोकतांत्रिक जागरूकता के लिए इसकी धार को तेज करते रहना जरूरी है, क्योंकि लोकतंत्र के पहरेदारों की कमजोरियाँ और सत्ता की मदहोशी में की गयी गड़बड़ियाँ इन्हीं माध्यमों से उजागर होती हैं।

चुनाव नतीजे यह भी बताते हैं कि सोनिया का करिश्मा काफूर हो गया और 12वीं लोकसभा में 141 सीट पाने वाली काँग्रेस को 13वीं लोकसभा में 112 तक पहुँचते-पहुँचते मुँह के बल गिर जाना पड़ा। अब तक के इतिहास में काँग्रेस को सबसे कम सीटें मिली। दरअसल काँग्रेस में ऐसे लोगों की संख्या अधिक है, जो केवल हवाई किले बनाते रहे हैं। उन्हें संगठन अथवा जमीन से जुड़ने की चिंता नहीं।

यही हाल बिहार में राष्ट्रीय जनता दल तथा उसके सुप्रीमो लालू प्रसाद की भी हुई। राजद को इस बार सत्रह की जगह मात्र सात सीटें मिलीं तथा लालू प्रसाद शरद यादव के हाथों मधेपुरा में बुरी तरह पराजित हो गए। गत एक दशक में बिहार की जनता के हर वर्ग को खास कर गरीब तबके को सब्ज-बाग दिखा कर केवल अपने स्वार्थ की सिद्धि की गई। विकास के नाम पर खुली लूट की छूट दी गई।

इस बार के चुनाव में जो सफलता उत्तर प्रदेश में सपा तथा बसपा को मिली है उसकी वजह से देश की राजनीति में मुलायम सिंह यादव तथा कांशीराम को नंजरअंदाज करना आसान नहीं होगा।

सबसे शानदार जीत आँध्रप्रदेश में चन्द्रबाबू नायडू की पार्टी तेलुगुदेशम पार्टी की हुई। लोकसभा की कुल 26 सीटें तथा विधान सभा में भारी बहुमत प्राप्त कर नायडू ने भारतीय राजनीति में अपनी एक अलग पहचान बना ली है। यह उनके कठिन परिश्रम, राज्य की जनता के प्रति निष्ठा और ईमानदारी का परिचायक है। आप इस बात से अवगत होंगे कि आँध्र प्रदेश में उन्होंने इलेक्ट्रॉनिक उद्योग का जाल बिछा दिया है। उनके बारे में कहा जाता है कि वही एक ऐसे नेता हैं जिनपर भ्रष्टाचार का कीचड़ नहीं चिपका है। क्या ऐसे ईमानदार नेता से हमारे देश के अन्य नेता सीख लेंगे?

सब मिलाकर इस चुनाव ने यह सिद्ध कर दिया है कि भारत के मतदाता कितना ही गरीब, पिछड़ा, अनपढ़ क्यों न हों, अपने हितों की रक्षा कर सकने वाले प्रतिनिधि की पहचान करने में समर्थ है।

पर्याप्त साधन के अभाव में भी पत्रिका को स्तरीय तथा पठनीय बनाने में इसके परामर्शी श्री जी.सी. श्रीवास्तव एवं श्री जियालाल आर्य, श्री कामेश्वर मानव तथा प्रसार प्रबंधक श्री रामप्रताप सिंह का योगदान अनुकरणीय रहा है। मैं आभारी हूँ उनका।

हम उन सभी रचनाकारों के आभारी हैं जिन्होंने इस प्रवेशांक के लिए रचनाएँ और चित्र आदि भेजे हैं। विश्वास है उनका सहयोग हमें सदैव मिलता रहेगा। इसके शब्द-संयोजन, साज-सज्जा तथा मुद्रण एवं प्रबंधन में सहयोग के लिए सुधीर रंजन, शशिभूषण, दिलीप कुमार, शशि रंजन, सुधांशु, सत्य प्रकाश तथा अंजलि धन्यवाद के पात्र हैं। पत्रिका के सदस्य व ग्राहक हमारे पत्रिका परिवार में सबसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति हैं। वह हम पर निर्भर नहीं हैं। हम उनपर निर्भर हैं। हम उनके प्रति आभार व्यक्त करते हैं।

विचार दृष्टि, वर्ष : 1, प्रवेशांक : अक्टूबर-दिसम्बर-1999

सुखद शताब्दी-सहस्राब्दि के लिए दुष्पवृत्तियों का शमन जरूरी

शताब्दी और सहस्राब्दि की शुरूआत को लेकर विशेषज्ञ अभी भी एकमत नहीं हैं। लोगों में भ्रांतियाँ हैं। समय की सदियों पुरानी अवधारणा से हम सभी परिचित हैं, लेकिन उसका वैज्ञानिक विवेचन विरोधाभासी चिंतन का सूत्रपात करता है। बहरहाल इतना तो कहा जा सकता है कि यह कैलेंडर वर्ष 1 से शुरू होता है 'शून्य (0)' वर्ष से नहीं। इस कैलेंडर के अनुसार पहली शताब्दी 1 जनवरी 1 ई॰ से 31 दिसम्बर 100 ई॰ तक, दूसरी शताब्दी 1 जनवरी 101 से 31 दिसम्बर 101 ई॰ तक रही। उस प्रकार बीसवीं शताब्दी की कालावधि होगी 1 जनवरी 1901 से 31 दिसम्बर, 2000 ई॰ तक। इक्कीसवीं सदी और तीसरी सहस्त्राब्दि की शुरूआत 1 जनवरी, 2001 से मानी जानी चाहिए।

आपने देखा नाच-गानों की झमाझम, चमकती बत्तियों और गिलासों में उतराती गुलाबी के बीच 31 दिसम्बर की एक ठंढी रात में नयी सदी एवं सहस्त्राब्दी का सफर शुरू हो चुका है पूरी दुनिया में। भारत भी इसमें पीछे नहीं रहा है। इस बीच हनीमून से लौट रहे जोड़ों की आकाश में कंधार तक दुर्दशा देखी। अब जाने नयी सदी में क्या-क्या देखना बचा है। बीसवीं सदी में चाँद पर मनुष्य का उतरना सबमें एक नए उत्साह और आत्मविश्वास की सृष्टि कर गया था। इक्कीसवीं सदी सबके लिए सुख-समृद्धि का सिंह द्वार बने, पर ऐसा प्रतीत होता है कि नई सदी या नई सहस्त्राब्दि की खुशी दुनिया के साधन-संपन्न वर्ग तक ही समूची आबादी का बहुत थोड़ा सा हिस्सा है, जो सीमित है। काश! अरबों-खरबों में जो धन शताब्दी-सहस्त्राब्दी का जश्न मनाने में खर्च हुआ वह गरीबी, भुखमरी, बेरोजगारी, अशिक्षा आदि को भगाने में खर्च हुआ होता। निश्चित रूप से आबादी के अधिकांश हिस्से के लिए यह सारा जश्न एक 'विंडोशॉपिंग' ही सिद्ध हो रहा है। जनसंख्या के 40 प्रतिशत लोग, जो गरीबी रेखा से नीचे रह रहे हैं या उससे कुछ उपर जी रहे हैं, यह कोई मायने नहीं रखता। तब फिर शताब्दी-सहस्त्राब्दी का समय उनलोगों के लिए क्या अर्थ रखता है? समय उनके लिए जैसे स्थिर हो गया। ऐसे समय में मुझे याद आती है 'पैराडॉक्स ऑफ टाइम' में ए. डाब्सन की ये पंक्तियाँ-

आप कहते हैं, समय जाता है? ओह नहीं!
समय तो बना रहता है, हम चले जाते हैं।

हमने देखा राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी को इस सहस्त्राब्दि के दस सर्वश्रेष्ठ नेताओं में एक युगपुरुष चुना गया। क्या हम कह सकते हैं कि जिन गुणों, सिद्धांतों और पराक्रम की वजह से बापू को सहस्त्राब्दि पुरुष करार दिया गया उनपर अमल के लिए अपने देश और राजनीति में कोई जगह है? बापू ने राजनीति को बदला, पर खादी की उनकी सफेद धोती पर गंदी बस्ती का एक छींटा भी नहीं पड़ा। क्योंकि उनकी कोई निजी आकांक्षा, मजबूरी या स्वार्थ नहीं था। गाँधी की बनायी रचनात्मक कार्य की संस्थाओं का प्रवाह-पतन हो गया। उनके रास्ते पर चलने की हिम्मत तो किसी में है ही नहीं, उनकी तरह सोचने और कर्म करने वाले भी अब नहीं हैं। कोई आश्चर्य नहीं कि आज का भारत बापू के सपनों की 'पैरोडी' है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भारत के नब्बे प्रतिशत लोग अपने अस्तित्व के लिए किसी के पास लौट सकते हैं तो सिर्फ गाँधी के पास। इक्कीसवीं शताब्दी निश्चित रूप से बापू की वापसी की होगी। जिस सर्वोदय, संयम, अहिंसा और स्वावलंबन की गाँधीजी की नीति को तिलांजलि देकर भूमंडलीकरण, बाजारवाद और उदारीकरण को अपना लिया गया है उसका दुष्परिणाम भविष्य में स्पष्ट और निश्चित रूप से सामने आने वाला है। वे इतने घातक और भयावह होंगे कि उनको नियंत्रित कर पाना भी नामुमकिन हो जाएगा। आम जनता की वास्वतिक हालत आने वाले वर्षों में चिंताजनक होने जा रही है।

हलाँकि यह भी सच है कि लोकतंत्र के विकास के साथ देश में जन-चेतना और जन-अपेक्षाओं में काफी वृद्धि हुई है। उड़ीसा के समुद्री तूफान से प्रभावित क्षेत्रों में सरकार द्वारा कर्त्तव्य-पालन करने में दिखाई गयी उदासीनता से क्रुद्ध जनता ने दौरे पर गए मंत्रियों पर पत्थर तक फेंके। जनहित के कार्यों तथा जनता से दूर रहने वाले नेताओं को विगत चुनावों के दौरान मतदाताओं ने सबक सिखाने का भी काम किया। दरअसल भारत के निकट अतीत में सीखने के लिए सबक ही सबक हैं, लेकिन सीखने के लिए कौन तैयार है? निपटने के लिए समस्याएँ ही समस्याएँ हैं, पर निपटने के लिए कौन तैयार है? हर स्तर पर कमजोरियाँ-खामियाँ हैं। विकास के हर स्तर पर आशंकाएँ मुँह बाए खड़ी हैं, लेकिन इन आशंकाओं को निरस्त करने के प्रयास कहाँ हैं? बीती शताब्दी का अंत जिस अपमानजनक तरीके से हुआ वह भी हमारी अपनी कमजोरियों के कारण हुआ जिससे उबरने का सही तरीका यही हो सकता है कि हमें न केवल अपहरण का मुँहतोड़ जवाब देने के लिए तैयार रहना होगा, बल्कि पाकिस्तान को

भी सबक सिखाना होगा, क्योंकि वही सभी आतंकवादियों का गढ़ है।

मनुष्य के लिए नयी शताब्दी-सहस्त्राब्दी केवल तभी सुखद होगी जब वह हिंसा, हत्या, घृणा, अपहरण, अपराध जैसी दुष्प्रवृत्तियों का शमन करे तथा अपने अस्तित्व के लिए अपनी कमजोरियों के मानवीय विकल्प की तलाश करे। साथ ही सामाजिक विसंगतियों को दूर करने के लिए तैयार रहे। सुप्रसिद्ध विचारक दुर्गा प्रसाद शुक्ल ने ठीक ही कहा है- समय को बाँसुरी समझा जाय। इस पर मनचाहा राग बजाना तो हमारे हाथ में है।

विचार दृष्टि, वर्ष : 2, अंक : 2, जनवरी-मार्च, 2000

◈◈◈

विधान सभायी चुनाव परिणामों के संकेत

पिछले दिनों कई राज्यों में विधान सभायी चुनाव हुए, जिसमें सत्ता पाने की होड़ में केंद्र से राज्यों तक में मची राजनीतिक दलों की खलबली के बीच कई बेमेल गठजोड़ बनी, किंतु अब चुनाव परिणामों के आ जाने के बाद अस्पष्ट जनादेशों के विश्लेषण से जो संकेत मिलने लगे हैं, उससे राजनेताओं की परेशानी तो बढ़ी ही है, आम जनता में भी दहशत का वातावरण दिखने लगा है। हर प्रकार की जोर आजमाइश के बावजूद इन राज्यों की राजनीति में नेताओं के चूहे-बिल्ली का खेल अभी भी थमा नहीं है और कोई भी दल पूरे आत्मविश्वास से कह पाने की स्थिति में नहीं है कि जीत उसी की हुई है। शासक दल ने प्रचार तंत्र का अपने हित में खुल्लमखुल्ला, दुरुपयोग किया तो विपक्ष 'भेड़िया आया' के मंत्र का जनता में जाप करता दिखा, जिससे जन समर्थन पर उनका कब्जा बन सके।

प्रिंट मीडिया हो या टी.वी. चैनल, सिद्धहस्त चुनाव विश्लेषक हों या चुनाव के पूर्व एक्जिट पोल, सभी ने राजद के सुप्रीमों लालू प्रसाद के राजनीतिक जीवन के अंत की घोषणा प्राय: कर दी थी। परंतु चुनाव परिणाम मिलने के बाद यह तय हो गया कि कम से कम बिहार की राजनीति में लालू प्रसाद की पकड़ अभी बनी हुई है। राजग की हार के सवाल का जबाव प्राय: हर किसी ने एक-सा दिया है। वहीं राजग के घटक दलों का आपसी मतभेद व अविश्वास, प्रत्याशियों के चयन में अनावश्यक विलंब तथा बागी प्रत्याशियों का चुनाव लड़ना- इन कारणों को नकारा नहीं जा सकता है। पर यह भी सच है कि राजग के सभी घटक दलों की नजर बिहार की गद्दी पर थी। खासकर राजग के सबसे बड़े दल भाजपा के मन में भी चोर बैठा था। आखिर चुनाव के पूर्व मुख्यमंत्री पद के दावेदार के नाम की घोषणा नहीं करने के पीछे क्या कारण था और क्या विवशता थी? जब उड़ीसा में नवीन पटनायक को मुख्यमंत्री बनाए जाने की घोषणा कर चुनाव लड़ा जा सकता था तो बिहार में नीतीश कुमार, सुशील कुमार मोदी, रामविलास पासवान को आगे रखने में क्या दिक्कत थी? दिक्कत थी तो यही कि इनमें से किसी को भी मुख्यमंत्री के पद पर बैठाने की चाह नहीं थी। भाजपा की नियत में कहीं न कहीं खोट थी। यकीन मानिए भाजपा को सौ सीटें होने की स्थिति में मुख्यमंत्री पद पर किसी और को बैठा दिया जाता, पर मोदी, पासवान अथवा नीतीश को नहीं। वैसे भी चुनाव के बाद कैलाशपति मिश्र तथा शत्रुघ्न सिन्हा का नाम तो चल चुका था। यह किस मानसिकता का परिचायक है? मसलन लालू प्रसाद का विकल्प के रुप में वैसे लोगों को बैठाने का प्रयास किया जा रहा है जिन्हें बिहार का

बहुसंख्यक समाज नहीं चाहता। और जबतक उनकी यह मानसिकता रहेगी लालू प्रसाद की गद्दी बरकरार रहेगी पिछले एक दशक की राजनीति तथा इस चुनाव से यह स्पष्ट हो चुका है कि लालू प्रसाद का विकल्प कोई पिछड़े, दलित अथवा अल्पसंख्यक समाज से ही हो सकता है। उच्च वर्ग से विकल्प तलाशना उनकी भूल है, क्योंकि केंद्र में वी.पी. सिंह सरकार के समय से तथा पिछले एक दशक से इधर बिहार में सत्ता के सुख का अंदाजा पिछड़ों और शोषितों को लग चुका है, उनकी भूख जग चुकी है। इसलिए इतनी आसानी से उन्हें सत्ता से अलग नहीं किया जा सकता। आजादी के बाद लगभग चालीस-पैंतालीस साल तक सत्ता से दूर रहकर जो उन्होंने कष्ट सहा है उसकी पीड़ा वे इतनी जल्दी कैसे भुला पाएँगे? दूसरी ओर आजादी के बाद चार दशक तक जिन तबकों ने सत्ता का सुख भोगा है, आजादी का फल चाभा है वे लोभ का संवरण नहीं कर पा रहे हैं। लालू-नीतीश को अलग-थलग कर ही ऐन केन प्राकरेण बिहार की गद्दी पर वे बैठना चाहते हैं, जो वहाँ की जनता को मंजूर नहीं। क्या वे इस मानसिकता से उबर नहीं सकते? यदि नहीं, तो बिहार से जंगलराज को समाप्त करने तथा भ्रष्टाचार से निपटने की लालसा दिवा-स्वप्न बनकर ही रह जाएगी।

बिहार की सामंती सामाजिक संरचना में जिस प्रकार जातियों के आचरण में वर्चस्व का मुद्दा निर्धारक तत्त्व बना हुआ है उसमें लालू प्रसाद जैसे नेताओं ने इस तत्व का अपने पक्ष में दोहन किया है। हालांकि यह भी सच है कि समाज के इस ढाँचे से प्राय: सभी पार्टियों तथा उनके नेताओं ने फायदा उठाने का प्रयास किया है। यही वजह है कि किसी भी सरकार ने ऐसा कोई भी कदम नहीं उठाया जिससे वह ढाँचा कमजोर हो। जनता भी दिन ब दिन उसमें फँसती ही चली जा रही है। परंतु जनता का यह भ्रम कभी न कभी टूटेगा ही, क्योंकि बिहार के विकास की चिंता अब उन्हें सताने लगी है। कारण कि विकास के मुद्दे को एकदम ताक पर रख देने से समाज के हर वर्ग को नुकसान हुआ है। सामाजिक न्याय का आंदोलन सिर्फ शब्दों, भाषणों और प्रतीकों से कबतक चलाया जा सकता है? समाज के गरीब तबके तथा सम्मान से वंचित शोषितों को सम्मान के साथ-साथ रोटी भी चाहिए। खाली पेट सम्मान का कोई अर्थ नहीं। अराजकता, बेरोजगारी, भूखमरी, भ्रष्टाचार और असुरक्षा का दौर जारी रहा तो इसका खामियाजा सभी राजनीतिक दलों को भुगतना पड़ेगा। अच्छा हो वे समय रहते चेत जायें, क्योंकि कोई भी व्यक्ति या दल जनता को अधिक दिनों तक गुमराह नहीं कर सकता और जात-पांत को ज्यादा दिनों तक भुनाया नहीं जा सकता।

विचार दृष्टि, वर्ष : 2, अंक : 3, अप्रैल-जून, 2000

◈◈◈

राजेश पायलट

राष्ट्रीय चेतना का एक मुखर स्वर मौन हो गया

राजेश पायलट काँग्रेस के उस शख्सियत का नाम है जिसने पार्टी की अंदरुनी राजनीति में सत्ता शीर्ष को चुनौती देने का अपना पुराना तेवर दिखाया था और उनके जुझारू तेवर का सोनिया भी कायल थी। राजेश जी में साहस, ईमानदारी और दृढ़ता तीनों थी जिसके बल पर उन्होंने राष्ट्रीय महत्त्व के मुद्दों को सदैव निजी प्रतिबद्धता के साथ संसद के भीतर और बाहर उठाया। यही कारण है कि काँग्रेसजनों के साथ-साथ इस देश के तटस्थ एवं विचारवान लोगों ने यह उम्मीद लगा रखी थी कि एक न एक दिन यह किसान नेता न केवल काँग्रेस को, बल्कि देश को नेतृत्व प्रदान करेगा। पर विधाता का विधान भी विचित्र है। जिस शख्स ने 1971 के भारत-युद्ध के दौरान सुगमतापूर्वक विमान उड़ाए हों वह एक सड़क पर जीप चलाता हुआ मृत्यु को प्राप्त हो जाए, इसे आप क्या कहेंगे।

राजस्थान के दौसा संसदीय सीट से छठवीं बार सांसद हुए भारतीय राजनीति के क्षितिज पर तेजी से उभरे 55 वर्षीय पायलट जी की जीवन-यात्रा का अंत हुआ और पूर्व सैनिकों एवं किसानों का एक रहनुमा इस देश को अलविदा कह गया। भारतीय वायुसेना में स्क्वॉड्रन लीडर के पद तक पहुँचकर 'गोधू' से अपना नाम बदलकर जरूर पायलट कर लिया था पर अपनी जड़ों से रिश्ता कभी नहीं तोड़ा। जी हाँ, पायलट के दिवंगत पिता जयदयाल सिंह अपने होशियार बेटे को 'गोधू' कहकर ही पुकारते थे। उनके असामयिक निधन से भारतीय राजनीति में जो रिक्तता आई है उसकी भरपाई आसान नहीं।

मजरुह सुल्तानपुरी

जिसने लिखा 'छोड़ दो आँचल जमान क्या कहेगा'

सहस्त्राब्दि गीतकार तथा 400 फिल्मों के लिए तीन हजार से भी अधिक गीतों के रचयिता मजरुह सुल्तानपुरी अब हमारे बीच नहीं रहे, पर **छोड़ दो आँचल जमाना क्या कहेगा ...., बेखुदी में तुमको पुकारे चले गए........... और चाहूँगा मैं तुझे साँझ सबेरे ....** जैसे उनके मनभावन गीतों को लोग हमेशा गुनगुनाते रहेंगे। उनके गीतों ने हिंदी फिल्मों के संगीत को एक नया आयाम दिया।

शाहजहाँ के गीत से उन्होंने अपना फिल्मी सफर शुरू किया और **क्या कहना** एवं **हम तो मोहब्बत करेगा** फिल्मों में हिट गीत देकर इस दुनिया से उन्होंने विदा ले ली। उनके कलम की रवानगी शुरू से अंत तक एक सी बनी रही।

सिने जगत के प्रतिष्ठित **दादा साहब फाल्के** तथा उर्दू कविता के **सर्वोच्च इकबाल** सम्मान से नवाजे गए महरूह साहब का जन्म उत्तर प्रदेश के सुल्तानपुर जिले के गजेहडी गाँव में 1921 में हुआ था। कभी सिद्धांत और वसूल से न डिगने वाले सुल्तानपुरी को जेल की सजा तक काटनी पड़ी, लेकिन कभी उन्होंने हिम्मत नहीं हारी। प्रगतिशील शायर मजरूह ने लिखा - **''हम अकेले ही चले थे जाने वे मंजिल मगर, लोग साथ आते गए और कारवां बनता गया''**।

समृद्ध परंपरा के सार्थक हस्ताक्षर मजरूह सुल्तानपुरी को हमारी हार्दिक श्रद्धांजलि।

डॉ. रामविलास शर्मा :

साहित्य संसार का शिखर पुरुष अब नहीं रहा

हिंदी साहित्य-सागर में एक दीप की तरह विद्यमान रहे सुप्रसिद्ध लेखक- आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा का प्रकाशपुंज अंतरिक्ष की

ऊँचाइयों में सदैव के लिए ब्रह्मलीन हो गया और छोड़ गया वे यादें, वे अनूभूतियाँ, वे ऐतिहासिक विश्लेषण, वे प्रगतिशील मार्क्सवादी चिंतनधाराएँ, वे वैचारिक प्रतिबद्धताएँ जिनके स्वर्णिम खजाने से हिंदी की भावी पीढ़ियाँ लाभान्वित होती रहेंगी। डॉ. शर्मा का ऋषियों जैसा त्यागमय जीवन हिंदी की वर्तमान पीढ़ी के लिए प्रेरणा का स्रोत है। साहित्य पिपाशुओं के कर्ण-पटल पर जब-जब उन्हें वहाँ मिलेंगे डॉ. शर्मा के कर-कमलों में लिपिबद्ध वे ग्रंथ, जिनमें छिपे, छपे हैं अनंत प्रेरणादायक वचन, जिनके चिंतन, मनन से पाठकगणों का साहित्य से संबद्ध प्रगाढ़ होगा। भारत में अँग्रेजी राज और मार्क्सवाद लिखकर भारत की पराधीनता, निर्धनता, शोषण और गुलामी के कारणों का उन्होंने विस्तृत विवेचन किया। अँग्रेजी साहित्य में स्नातकोत्तर होने के उपरांत भी वे जीवन पर्यंत तन-मन से हिंदी के सम्मान, उत्थान के प्रति समर्पित रहे तथा हिंदी भाषा साहित्य को और अधिक समृद्ध किया। धन्य थी उनकी लेखन साधना, जो जारी रही उनके महाप्रयाण से चंद क्षणों पूर्व तक। हिंदी साहित्य के इस अप्रतिम साधक को धर्मनिरपेक्षता के आधार स्तंभों को सुदृढ़ करने एवं मार्क्सवाद-साम्यवाद की स्वस्थ आलोचना के लिए उन्हें याद किया जाता रहेगा। साहित्य संगोष्ठियों में उनका लेखन श्रृंखलाओं की प्रशस्ति में भले ही कम पड़ जाए स्याही और मंद पड़ जाए लेखकों की गति, पर एक बात सत्य हो गई है कि युग-युगांतर तक उनके लेखक कर्म को अमरत्व प्राप्त हो गया है। साहित्य संसार के इस शिखर पुरुष को नमन।

विचार दृष्टि, वर्ष : 2, अंक : 4, जुलाई-सितंबर, 2000

◈◈◈

महापुरुषों की जयंतियाँ मनाने का महत्त्व

अक्टूबर माह में चार महापुरुषों की जयंतियाँ; 2 अक्टूबर को राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी एवं लाल बहादुर शास्त्री, 11 अक्टूबर को लोकनायक जय प्रकाश नारायण की जन्म शताब्दी तथा 31 अक्टूबर को लौह पुरुष सरदार पटेल की 125 वीं जयंती। एक ओर जहाँ सत्य और अहिंसा के पुजारियों की जयंतियाँ मनाई जा रही हैं, वहीं दूसरी ओर देश में आतंकवाद का साम्राज्य छाया हुआ है। इसी प्रकार कमोवेश सभी राष्ट्र चाहे वह विकसित हो या विकासशील आतंकवाद की चपेट से त्रस्त हैं। एक सभ्य व लोकतांत्रिक समाज में आतंकवादी गतिविधियों के जरिए कुछ भी सार्थक हासिल नहीं किया जा सकता है। इसलिए सद्भाव विरोधी और अलगाववादी ताकतों से सावधान रहने की आवश्यकता है। इसी के मद्दे नजर इस बार, सद्भावना अंक निकालने का निर्णय किया गया।

इस बात से अब इंकार नहीं किया जा सकता कि आतंकवादी एवं अलगाववादी ताकतें इस देश के ढाँचे में जड़ जमा चुकी हैं और उनका असर साफ दिखाई दे रहा है, किंतु चिंता इस बात की है कि उनके संदर्भ में हर राजनीतिक दल का अपना अलग-अलग दृष्टिकोण है। सद्भाव विरोधी ताकतों और हरकतों की परिभाषा वे अपने-अपने तरीके से दे रहे हैं और राष्ट्रीय हितों की अनदेखी कर वे परस्पर एक-दूसरे पर कीचड़ उछालने में लगे हुए हैं। परिणामस्वरूप आतंकवाद की समस्या और अधिक गंभीर होती चली जा रही है। पिछले कुछ वर्षों में अलगाववाद व आतंकवाद के साथ-साथ असहिष्णुता जिस तरह हमारे देश में बढ़ी है वह कोई शुभ लक्षण नहीं है।

हमारे देश के कर्णधार गाँधी, पटेल तथा जेपी की रट तो लगाते हैं, किंतु उनके किसी भी सिद्धांत को नहीं अपनाते हैं। सच तो यह है कि वे पहले की अपेक्षा आज कहीं ज्यादा प्रासंगिक हैं। उनकी इस प्रासंगिकता को समझना होगा, उनके विचारों को अपनाना होगा, क्योंकि उनके बिना हमारा राष्ट्र आगे नहीं बढ़ सकता है। पृथकतावादी ताकतों द्वारा हमारे राष्ट्र के पंथनिरपेक्ष ताने-बाने को जिस प्रकार चुनौती दी जा रही है, यहाँ के मासूमों और निर्दोषों को जिस तेजी से निशाना बनाया जा रहा है तथा देश की कानून-व्यवस्था को जिस प्रकार छिन्न-भिन्न करने की साजिश की जा रही है, उसमें हमारी प्रभुसत्ता एवं अखंडता

को भी खतरा है। आखिर आप ही बताएँ जम्मू एवं कश्मीर के विधानसभा में 1953 के पूर्व की स्थिति बहाल करने हेतु उस राज्य की स्वायत्तता से संबंधित विधेयक को पारित कराना किस बात का परिचायक है? सच तो यह है कि स्वायत्तता के प्रस्ताव को कश्मीर की आजादी और प्रदेश के बँटवारे की दिशा में एक गंभीर कदम माना जा रहा है। इससे अलगाववादी को पहले से कहीं ज्यादा ताकत मिलेगी। क्या लौह पुरुष सरदार पटेल का यही सपना था? कश्मीर को लेकर चिंता और बहस हमारे यहाँ अनवरत चलता रहता है कि इस पर अतीत के प्रेतों और तारीखों का इतना बोझ लदा है कि स्वायत्तता की परिभाषा देना असंभव हो जाता है। सन् 1953 का नेहरू शेख समझौता, सन् 1957 का कश्मीरी संविधान और 1975 का इंदिरा-शेख समझौता कोई खुदाई पैगाम नहीं है जिसे बदला नहीं जा सकता। यह सब व्यवस्थाएँ हैं जिसे नए समय और नई जरूरतों के हिसाब से बदला या खारिज किया जा सकता है। स्वायत्तता को कोई ऐसा रूप तलाशा जा सकता है, जो देश की अखण्डता के साथ-साथ इस क्षेत्र की भावनाओं का भी सम्मान करता हो। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि सार्थक बातचीत तथा आपसी विश्वास के बीच दिल्ली और घाटी के बीच नरमी और सद्भावना का माहौल बनाया जाए।

आजादी के 53 साल बाद भी हम अभी राष्ट्र नहीं बना पाए हैं। हम अभी राष्ट्र बनाने की प्रक्रिया से गुजर रहे हैं। भारत राष्ट्र अभी अपने जन्म की प्रसव पीड़ा भुगत रही है। यह संताप बहुत ही गहरा और गंभीर है, क्योंकि हमें स्वयं की पहचान नहीं है। हम अपनी अस्मिता और अपने अस्तित्व को बोझ समझते हैं। हमारी राष्ट्र प्रीति सहज नहीं, परिस्थितिजन्य और घटना सापेक्ष है। शत्रु सामने हो तो हम निहायत देशभक्त, शत्रु सामने न हो तो हम निहायत घटिया दर्जे के स्वार्थी और पेटू। हमारी सामाजिक ममता मर-सी गयी है। हम ममता विहीन समता की बात करते हैं। सामाजिकता और सामाजिक समरसता को लात मारकर हम जाति, वर्ग, संप्रदाय और यंत्र-सापेक्ष सामाजिक न्याय प्रदान करना चाहते हैं। गरीबी की कसौटी भूख और बेरोजगारी नहीं जाति है। आधुनिकता ने भूख, बीमारी, बेरोजगारी, और अभाव को समाजवादी नहीं, जातिवादी बना दिया है।

इसी प्रकार जातिवादी राजनीति का विषधर सामाजिक न्याय को डस रहा है। नित्य बढ़ती सत्तालिप्सा ने राजनीति को नीतिविहीन बना दिया है। सांप्रदायिकता और मजहबी उन्माद ने धर्म को धकिया दिया है। दल देश से बड़ा और व्यक्ति दल से बड़ा बनने की होड़ में है। लेखक, पत्रकार, राजनीतिज्ञ, नौकरशाह तथा

प्रबुद्ध जन अपने-अपने क्षेत्र में पतित होने की दौड़ में एक-दूसरे को मात देने के लिए दिन-रात सक्रिय हैं। राष्ट्रपति अब केवल कर्मकाण्ड और राष्ट्रीयता केवल बकवास। सार्वजनिक जीवन बेहद प्रदूषित हो गया है। विकास वितरण बहुत असमान है। शहरों में सारी सुविधाएँ केंद्रीत होती जा रही हैं और गाँवों में सार्वजनिक सुविधाओं का घोर अभाव है। 1947 में चीन भारत की तुलना में गरीब था। लेकिन वह आज प्राय: सभी क्षेत्रों में हमसे आगे निकल गया है। समकालीन भारत में हम किस चीज पर गर्व कर सकें, वह दिखाई नहीं देती।

बापू, जेपी, शास्त्री जी तथा सरदार पटेल के सारे सपने आज बिखरते नजर आ रहे हैं क्योंकि वे जीवन के आदर्शो पर आधारित थे और उनके सारे आंदोलन आदर्श और सिद्धांत उस समय टिकाऊ नजर आते थे जब लोकनायक के सिद्धांत तानाशाही और भ्रष्टाचार आदि को उखाड़ने में सफल हुए। आज के इस आपाधापी के युग में बेहोश भागते आमजनों में चेतना जागृत करने तथा उसमें आत्मबोध कराने की आवश्यकता है। आज लोक को जगाने की जरूरत है। आज जरूरत इस बात की है कि खासकर उग्रवादी तथा तनावग्रस्त क्षेत्रों एवं नरसंहार के इलाकों में बंदूक से जनता के आम रिश्ते को तोड़कर तथा नौजवानों को बंदूक के साए से हटाकर रोजगार व राष्ट्र प्रेम के साए में लाया जाए तभी इन महापुरुषों के सपने साकार हो सकेंगे और तभी उनकी जयंतियाँ बनाने का महत्त्व होगा।

विचार दृष्टि, वर्ष : 2, अंक : 5, अक्टूबर-दिसम्बर, 2000

संवैधानिक संस्थाओं का संकट

संसद के सत्र में पिछले पूरे सात दिन तक कोई काम नहीं हुआ। ध्यातव्य है कि संसद की एक दिन की कार्यवाही को चलाने के लिए लाखों रुपये खर्च होते हैं। यदि आए दिन संसद में हंगामा होता रहे और सदनों की बैठकें स्थगित होती रहें तो क्या यह उस जनता के साथ अन्याय नहीं है जिनकी खून-पसीने की कमाई से देश की संसद का संचालन होता है। पिछले दो-तीन वर्षों से हमारी संसद में यही कुछ होता आ रहा है। संसद में हंगामा करना, अपनी बात को रखने के लिए बहस के स्थान पर नारेबाजी, शोर-शराबा तथा तोड़फोड़ का इस्तेमाल करना ना तो उचित है और ना ही सांसदों के आचरणों के अनुकूल ही। जिन्हें प्रतिनिधि सदनों की गतिविधियों को संचालित करने के लिए निर्वाचित किया जाय, वे यदि उन सदनों को काम ही नहीं करने दें तो प्रारंभिक रूप से वे अपने मतदाताओं के प्रति कर्त्तव्य हनन के दोषी होते हैं। एक सर्वेक्षण से यह बात उजागर हुई है कि सामान्य भारतवासियों के समक्ष जो विषय महत्त्व और आतुरता के होते हैं, उनका प्रतिबिंबन संसदीय गतिविधियों में नहीं होता। संसद यदि जन सामान्य के मानस का प्रतिनिधित्व नहीं करती, तो वह अपना लोकतांत्रिक स्वरूप विलोपित कर लेती है। इसलिए यह लोकतंत्र के लिए ऐसा संकट है जिसका सर्वसाधारण में, विशेषत: मतदाताओं में, सक्रिय विरोध होना चाहिए। इनके खिलाफ आंदोलन की जरूरत है जिससे ऐसे आचरण पर अँकुश लग सके।

यह बात ठीक है कि लोकतंत्र में विरोध आवश्यक है। बहुमत और शासनाधिकार से उनकी अभिव्यक्तियाँ तो रोकी ही नहीं जा सकतीं, जो तात्कालिक रूप से अल्पमत में हो जाते हैं। बहुमत का यह अर्थ नहीं होता कि जो उसके बाहर है उनकी उपेक्षा की जाए। जो अल्पमत में हो जाते हैं वे भी मतदाताओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसलिए संख्या में कम होने मात्र से उनकी उपेक्षा को उचित नहीं ठहराया जा सकता। किंतु यह भी सच है कि जिन्हें मतदाताओं ने बहुमत नहीं दिया उसका कतई यह अधिकार नहीं बनता कि वे बहुमत प्राय: समूह को सदन समुचित रूप से नहीं चलाने दें। संख्या ही जब लोकतंत्र का आधार है, उसमें पर्याप्तता नहीं प्राप्त करने वाले उनके कार्य में बाधक नहीं बन सकते जो बहुमत प्राप्त कर लेते हैं। इसमें बहुमत के प्रति विरोध

प्रकट करने का अधिकार विनिष्ट नहीं होता। चूंकि विरोधी को सदन में उपस्थित रखकर ही संसदीय व्यवस्था विकसित करनी है इसलिए वास्तव में विरोध ही उनका प्राथमिक दायित्व होता है।

पर प्रश्न उठता है कि विरोध का स्वरूप क्या हो, यह सदन की कार्रवाई को नहीं चलने देना कतई नहीं हो सकता, क्योंकि यह शिष्टाचार और मर्यादा के ऊपर मतदाताओं के अधिकार का हनन है। हर हाल में विरोध संसदीय आचरण के भीतर करना होगा। जैसे-जैसे आजादी के वर्ष बीतते जा रहे हैं, अधिकांश देशवासियों के संकट बढ़े हैं, स्थितियाँ बिगड़ी हैं। जब से मतदाता सत्तारूढ़ दलों को अपने तिरस्कार से शासनाच्यूत करने लगे, तब से दल की धारणा प्रबलतर होने लगी और आज दल के आगे देश को भुलाया जा रहा है। शासन दल का नहीं होता, देश का होता है। यह प्रतिबद्धता इस देश में निर्मित ही नहीं होने दी गई। संसद में हर बार हंगामा और सदन न चलने देने की कार्रवाई न तो हमारे विकास के अनुकूल है और ना ही इससे लोकतंत्र की मर्यादा सुरक्षित। विशेषाधिकार की आड़ में इस प्रकार हंगामाजनक कार्य करना वस्तुतः विशेषाधिकारों का दुरुपयोग ही है। जिन अधिकारों के द्वारा देश की जनता की समस्याओं को पूरजोर तरीके से संसद में रखकर उन पर सार्थक बहस करवाकर उचित समाधान ढूँढ़ सकते हैं, उन्हीं अधिकारों का दुरुपयोग करके यदि संसद के कार्यों को ही नहीं चलने देंगे तो क्या यह जनता के साथ धोखा नहीं है? इस पर आज गंभीरतापूर्वक विचार करने की आवश्यकता है।

यह संकट भयानक उथल-पुथल में न बदल जाए, लोकतंत्र के वर्त्तमान स्वरूप का विकल्प न खोजने लगे और देश नवीन उथल-पुथल के कगार पर न पहुँच जाए, इसके लिए प्रत्यक्ष और प्राथमिक दायित्व उन्हीं का होता है, जो सदनों में बहुमत में होते हैं। इसलिए जरूरत इस बात की है कि सब मिलकर संसदीय लोकतंत्र की विफलता को और न बढ़ने से रोकने के उपायों पर विचार करें। किसी भी विधि से संसदीय व्यवस्था को प्राप्त करके उसे छोड़ना यहाँ की जनता सहन नहीं कर सकेगी।

इधर देश और राज्यों की राजनीति में मची भारी उथल-पुथल ने राजनीतिक परिवर्तन के अनेक संकेत दिए हैं। हर राष्ट्रीय दल उथल-पुथल के संक्रमण से ग्रस्त है। इन्हीं परिस्थितियों में हम नई सहस्राब्दि में प्रवेश कर रहे हैं। यूँ कम्प्यूटर के चमत्कारों ने पिछले वर्ष ही नई सहस्राब्दि के आनंद में भारतीय जनमानस को डाल दिया था। किंतु वास्तव में अब जाकर नई सहस्राब्दि में हमारा

प्रवेश हो रहा है। भूमंडलीकरण के कारण विश्व बाजार विशेषकर अमेरिकी अर्थनीति के दबाव में पूरी दुनिया में विकास का गड़मगड्ड परिदृश्य है, उससे हमारा देश भी अप्रभावित नहीं रहा है। देश दुनिया की इन तमाम विडंबनाओं के बीच हमारी पत्रिका नई सहस्राब्दि में इस अंक के साथ पूरे जोश-खरोश से पाठकों के बीच है। वासंती परिवेश में जब हम अपने गणतंत्र के अभिषेक को तत्पर हैं, ऐसे में हमनें पत्रिका के पृष्ठों में दो फर्मे का इजाफा करते हुए पाठकों, लेखकों में नए संवादों का श्रीगणेश किया है।

विचार दृष्टि, वर्ष : 3, अंक : 6, जनवरी-मार्च, 2000

◈◈◈

भारतीय राजनीति भ्रष्टाचार के भयंकर भंवर में

हम सब इस बात से अवगत हैं कि देश की प्रभुसत्ता राजनीतिक लोगों में निहित है यानी वे ही देश के संचालक हैं, किंतु संसार के सबसे बड़े लोकतंत्र का दावा करने वाली भारतीय राजनीति जब भ्रष्टाचार के भयंकर भंवर में फँस जाए तो लोकतंत्र का खतरे में पड़ना स्वाभाविक है। भ्रष्टाचार की जड़ें राजनीतिक दलों व उसके नेताओं में इतनी पैठ बना ली हैं कि उसके जहर उनके रग-रग में समा गए हैं। राजनीतिक नेता सत्ता में हों या विपक्ष में आकंठ भ्रष्टाचार में डूबे होने के बावजूद उनकी आवाज भ्रष्टाचार के खिलाफ सबसे बुलंद होती है। कल तक बोफोर्स की दलाली में फँसी काँग्रेस तहलका डॉट कॉम द्वारा रक्षा सौदों में दलाली के रहस्योद्घाटन के बाद पिछले दो सप्ताह तक संसद की कार्यवाही को जिस प्रकार ठप्प कर करदाताओं के करोड़ों रुपये का वारा-न्यारा कर गई, उससे आखिर क्या उभरकर सामने आता है? क्या भाजपा तथा काँग्रेस एक ही सिक्के के दो पहलू नहीं दिखते? तहलका डॉट कॉम की एक बेवसाइट ने रक्षा सौदों की दलाली का मामला उजागर कर पूरे भारतीय राजनीति में एक तहलका मचा दिया है। जो अपनी कमीज को दूसरों से उजली और सफेद बताते थे, वे पाखंडी निकले। उच्च आदर्शों, नैतिकता और पारदर्शिता का ढिंढोरा पीटने वाली पार्टी के अध्यक्ष जया जेटली को मात्र एक लाख का नववर्ष पार्टी फंड लेते सारे देश ने लेते, गिनते और रखते देखा। सचमुच **तहलका** के इस बेवसाइट ने पूरे देश को शर्मिंदगी की स्थिति में लाकर खड़ा कर दिया है। जिस देश की सरकार में शामिल नेता चंद रुपयों के लिए देश की सुरक्षा का ही सौदा कर डाल रहे हों, उसकी रक्षा भगवान ही कर सकते हैं। जब **जार्ज फर्नांडीस** जैसे समाजवादी नेता का नाम सामने आता है, जिसे दूरदर्शन चैनल सादगी व समर्पण का आधुनिक संस्करण बताकर अपने कपड़े स्वयं धोते हुए दिखाते हैं तो राष्ट्र को लेकर निराशा अत्यंत बढ़ जाती है। आखिर अब देशवासी किस पर भरोसा करे?

बहुत ही अच्छे कलेवर वाले ईमानदार और श्रेष्ठ व्यक्ति होते हुए भी प्रधानमंत्री **वाजपेयी** के चारों ओर ऐसे लोग घिर गए जिनके कारण न केवल उनकी साफ छवि को काफी नुकसान पहुँचा, बल्कि **राष्ट्रवादी विचारधारा** को भी धक्का लगा।

छींका टूटने के इंतजार में बैठी बिपक्षी पार्टियाँ व उसके नेता भ्रष्टाचार के नाम पर अपने-अपने दड़बों से बाहर आ गये हैं और उनकी आक्रामकता देखते

बनती है। उन्हें गिरेबान चढ़े अपने कालरों की गंदगी अचानक साफ आने लगी और वे अपनी आँखों पर स्वार्थ की पट्टी बाँध, विरोध में झंडा उठाऐ चल पड़े। काँग्रेस अध्यक्ष सोनिया गाँधी पर बोफोर्स की दलाली को लेकर भ्रष्टाचार के आरोप अभी समाप्त भी नहीं हो पाए थे कि उनके निजी सचिव **विसेंट जार्ज** तथा उसके परिवार के सदस्यों के पास ढाई करोड़ रुपये की चल-अचल संपत्ति होना यही बताता है कि भारतीय राजनीति भ्रष्टाचार के दलदल में डूबती चली जा रही है तथा राजनीतिज्ञों के साथ-साथ उनके इर्द-गिर्द रहने वाले लोग भी दोनों हाथों से धन बटोरने में लगे हुए हैं।

अभी-अभी उच्च न्यायालय ने हवाला कांड में आरोपित 17 राजनीतिबाजों और नौकरशाहों से आय का विवरण पेश करने और उनसे कर वसूलने का निर्देश आयकर विभाग को दिया है। इन राजनीतिज्ञों में **लालकृष्ण आडवाणी, यशवन्त सिन्हा** तथा **शरद यादव** के अलावा कई राजनेताओं के नाम शामिल हैं। केंद्रीय सतर्कता आयुक्त ने भी स्वीकार किया है कि जबतक राजनीति में भ्रष्टाचार रहेगा तबतक सरकारी विभागों में भ्रष्टाचार खत्म करना संभव नहीं होगा। स्वयं प्रधानमंत्री ने कहा है कि यह चिंता का विषय है कि नकली शस्त्र दलाल बने पत्रकार इतनी आसानी से सेना तथा प्रशासन में ऊँचे पदों पर बैठे लोगों तक पहुँच गए। नि:संदेह, पचास वर्ष में ढीली पड़ गई पूरी व्यवस्था को ही चुस्त-दुरूस्त करने की भारी चुनौती आज राष्ट्र के सामने उपस्थित है। किंतु भ्रष्टाचार के विरूद्ध संघर्ष की हमारी निष्ठा संदिग्ध है, क्योंकि जब भारत सरकार के वित्तमंत्री को केंद्रीय उत्पाद एवं सीमा शुल्क बोर्ड के अध्यक्ष बी०पी० वर्मा के काले कारनामों पर काफी पहले से संदेह था, तो समय रहते उन पर कोई कार्रवाई क्यों नहीं की गई? जाहिर है मौजूदा व्यवस्था में भ्रष्ट तत्त्वों से निबटने के कोई ठोस उपाय नहीं हैं, और यदि हैं तो वे निरर्थक साबित हो चुके हैं।

भारतीय राजनीति के भ्रष्टाचार का सबसे अधिक भयावह पहलू तो यह है कि जो जनता से भ्रष्टाचार मिटाने का दावा कर सत्ता में आते हैं वही भ्रष्टाचार में लिप्त हो जाते हैं। कल संसद में जिस दल ने हो-होल्ला कर नैतिकता के आधार पर वर्तमान सरकार के त्याग-पत्र की माँग की उन्होंने तो अपने शासनकाल में भ्रष्टाचार के नित नए मानदण्ड स्थापित किए हैं। जीप घोटाले से लेकर बोफोर्स, शेयर, यूरिया, चारा घोटाले का लंबा इतिहास उन्हीं लोगों की देन है। वास्वत में नारों की राजनीति से सरकारें और चेहरे तो बदल जाते हैं पर सत्ता का चरित्र और व्यवस्था नहीं बदलती है। यही सबसे बड़ी चिंता की बात है।

भाजपानीत सरकार के आने से ऐसा लगा था कि देश में काँग्रेस सरकारों के मुकाबले स्वच्छ और पारदर्शी सरकार काम करेगी। मगर तहलका डॉट कॉम के नए भंडाफोड़ से बची खुची उम्मीदें भी जाती रहीं। भारत में किसी लोकतांत्रिक सरकार को इससे ज्यादा शर्मनाक भंडाफोड़ का सामना नहीं करना पड़ा। जनता असहाय और लाचार है। सामंतवाद और पूँजीवाद ने अपना विकृत चेहरा धर्म और देशभक्ति के नकाब में छिपाया है। जब-जब यह नकाब उतरा है समाज में परिर्वतन आया है। इसलिए भ्रष्टाचार मिटेगा ऐसी आशा की जानी चाहिए। सरकार और विपक्ष यदि सचमुच भ्रष्टाचार से लड़ना चाहता है तो उसे व्यवस्था को बदलना होगा। इसके अतिरिक्त समाज के संवेदनशील तथा प्रबुद्धजनों को भी अपनी तटस्थता त्याग कर आम जनता में चेतना जागृत करनी होगी। स्पष्ट है भ्रष्टाचार के खिलाफ युद्ध सभी को मिलकर लड़ना होगा।

विचार दृष्टि, वर्ष : 3, अंक-7, अप्रैल-जून, 2001

◈◈◈

जयललिता ने लोकतंत्र को कलंकित किया

पिछले दिनों तमिलनाडु के पूर्व मुख्यमंत्री और द्रविड़ मुन्नेत्र कषगम के अध्यक्ष एम. करुणानिधि, उनके मंत्रिमंडल के दो पुराने सहयोगियों, पूर्व मुख्य सचिव के.ए. नाम्बियार, उनके सुपुत्र एम.के. स्टालिन, चेन्नई के मेयर तथा केंद्रिय मंत्रिपरिषद् के दो वर्तमान मंत्री मुरासोली मारन एवं टी.आर. बालू को जिस प्रकार बिना सम्मन के गिरफ्तार कर सबों को जेल भेजा गया वह जयललिता की तानाशाही और बर्बरता का परिचायक है। 12 करोड़ रुपये के फ्लाई ओवर घोटाले के सिलसिले में तमिलनाडु की वर्तमान सजायाफ्ता मुख्यमंत्री के इशारे पर वहाँ के पूर्व मुख्यमंत्री को उनके आलिवर रोड स्थित निवास से रात के दो बजे पुलिस घसीट कर ले गयी तथा दोनों केंद्रीय मंत्रियों को करुणानिधि की गिरफ्तारी में अड़ंगा डालने के आरोप में मारा-पीटा गया और उन्हें गिरफ्तार कर जेल भेजा गया यह अपने ढंग की अनूठी और इस तरह की पहली घटना है। जयललिता ने अपनी सामंती मानसिकता और तानाशाही प्रवृत्ति का परिचय अपने पिछले मुख्य मंत्रित्वकाल में भी दे चुकी है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह सत्ता के मद में चूर होकर स्वयं को तमिलनाडु की साम्राज्ञी बन बैठी है। बदले की भावना से की गई कार्रवाई से यह स्पष्ट है कि जयललिता ने लोकतांत्रिक तौर-तरीकों को पूरी तरह विस्मृत कर कानून को अपने हाथ में ले लिया और जब कोई राज्य सरकार लोकतांत्रिक मानदण्डों को ताक पर रखकर कार्य करे तो उसके खिलाफ सख्त कार्रवाई करने में किसी तरह का संकोच नहीं दिया जाना चाहिए।

जाने-माने संविधानविद् सुभाष कश्यप की राय में संविधान के अनुच्छेद 257 में साफ कहा गया है कि ''राज्य की कार्यकारी शक्ति का इस्तेमाल इस तरह से किया जाना चाहिए कि उससे संघ की कार्यकारी शक्ति का उल्लंघन न हो। चूंकि दोनों केंद्रीय मंत्री संघ की शक्ति के मूर्त रूप हैं इसलिए उनकी गिरफ्तारी से तो संघ की गरिमा ही खतरे में पड़ गई है।'' ऐसे में तमिलनाडु सरकार की मुख्यमंत्री जयललिता ने ऐसा करके लोकतंत्र को कलंकित किया है। आश्चर्य तो तब होता है जब कहा जाता है कि प्रधानमंत्री ने दूरभाष पर जयललिता से जानकारी हासिल करनी चाही तो कई प्रयास के बाद भी उसने बात नहीं की और इस पर भी तुर्रा यह कि जयललिता ने अपनी सरकार की इस बर्बर कार्रवाई को सही करार दिया है और अपनी मन्नत पूरी होने पर गुरुवयूर

मंदिर में पूजा की तथा एक हाथी अर्पित किया। यही नहीं तमिलनाडु की राज्यपाल फातिमा बीबी का इस पूरे प्रकरण पर चुप्पी साधे रहना भी कम आश्चर्यजनक नहीं है। जबकि राज्यपाल का काम राज्य के महत्त्वपूर्ण घटनाक्रमों के बारे में केंद्र को अवगत कराना जरूरी नहीं समझा जबकि दो केंद्रीय मंत्रियों को बेवजह उत्पीड़ित और गिरफ्तार कर जेल भेज दिया गया। इस संदर्भ में यहाँ यह कहना अनुचित नहीं होगा कि एक सजायाफ्ता जयललिता को आनन-फानन में वहाँ की राज्यपाल फातिमा बीबी ने मुख्यमंत्री को आमंत्रण देकर उन्हें 14 मई को शपथ दिलायी गयी जिसे चुनाव आयोग ने विधान सभा का चुनाव लड़ने से अयोग्य घोषित किया था। राज्यपाल ने संविधान के अक्षरों को देखा, किंतु उसकी आत्मा को नजरअंदाज कर गयी। देश की जनता को उसी समय आश्चर्य हुआ था और उन्हें संदिग्ध नजर से देखा जा रहा था।

भारत के प्रधानमंत्री तथा राष्ट्रपति की नाराजगी से इस घटना की गंभीरता को समझा जा सकता है। पूर्व प्रधानमंत्री **विश्वानाथ प्रताप सिंह** तथा **चन्द्रशेखर** ने जयललिता सरकार के इस कदम को लोकतंत्र के सभी मूल्यों का उल्लंघन बताया है। प्राय: सभी प्रमुख राजनीतिक दलों ने भी गिरफ्तारी के तरीके की निंदा करते हुए इसे बदले की कार्रवाई करार दिया है।

जयललिता के जंगलराज के परिणामस्वरूप तमिलनाडु में आपातकाल सी स्थिति हो गई। डी०एम०के० के 24 हजार कार्यकर्ताओं की गिरफ्तारी हुई तथा 24 वर्षीय कार्यकर्ता पुमलाई ने करुणानिधि की गिरफ्तारी के विरोध में अपने थालर गाँव में आग लगाकर आत्महत्या कर ली है। करुणानिधि की पत्नी दयालूआमल को हिरासत में लिया गया। उल्लेखनीय है कि मुख्यमंत्री के पद पर आसीन होने के कुछ ही बाद जयललिता ने अपने प्रमुख छह राजनीतिक विरोधीयों को जेल में डाला था।

भारत के एक ऐसे राज्य, जहाँ एम० करुणानिधि ने कई वर्षों तक मुख्यमंत्री के पद पर रहकर तमिलनाडु प्रशासन को एक निश्चित दिशा और गति-प्रदान की, उसकी जब यह दशा उसी के राज्य के मुख्यमंत्री द्वारा हो सकती है, तो आम नागरिक की तो बात ही मत पूछिए। तमिलनाडू की सजायाफ्ता मुख्यमंत्री जयललिता को यदि ऐसी परिस्थिति में भी रोका नहीं गया तो परिणाम भयंकर होंगे, क्योंकि जिस प्रकार उस जनतांत्रिक मूल्यों को अराजकता के एक दौर में धकेल दिया और राज्य की पूरी प्रशासनिक मशीनरी कबीलाई गिरोहों में तब्दील होती दिखाई दे रही है उससे तो जयललिता की

तानाशाही के उस बदनुमा चेहरे की झलक मिलती है, जो हमारे आधी सदी पुराने और दुनिया के सबसे बड़े लोकतंत्र के पीछे दुबका रहता है। दुर्भाग्य से लोकतंत्र की इस तानाशाही विकृत्ति का प्रतिकार करने में देश खुद को असमर्थ पा रहा है। कारण कि राजनीति की इस उच्छृंखलता ने सही और गलत का भेद मिटा दिया है और न्याय को न्याय नहीं रहने दिया है। करुणानिधि पर भी भ्रष्टाचार के आरोप हो सकते हैं, जिसके लिए उनके खिलाफ मामला चलना ही चाहिए, किंतु इसके लिए जब कायदों को ताक पर रखा जाए, तो इसे राजनीतिक बदले का निकृष्टत्तम उदाहरण ही माना जाएगा। जयललिता ने तमिलनाडु के पूर्व मुख्यमंत्री करुणानिधि से अपनी पुरानी दुश्मनी को साधने के लिए जिस राजनीतिक प्रतिशोध का सहारा लिया है वही कल हम देश के दूसरे हिस्सों में भी देख सकते हैं। यह कबीलाई जुनून हमारे लोकतंत्र के लिए सबसे बड़ा खतरा साबित हो सकता है। इसलिए देश के सामने सबसे बड़ा सवाल यह है कि राजनीतिक सत्ता का यह शर्मनाक दुरुपयोग कैसे रुके और राजनेता तथा नौकरशाह का गठजोड़ कैसे खत्म हो। यह तय करने की चुनौती आज देश के सामने है।

देश के समक्ष खड़ी इस चुनौती का सामना सत्ता तथा विपक्ष में बैठे राजनेताओं को करना है। पर यहाँ तो कुर्सी के लालच में सारे सिद्धांत और मूल्यों-मर्यादाओं को ताक पर रख दिया जा रहा है। काँग्रेस ने सजायाफ्ता जयललिता को मुख्यमंत्री के रूप में स्वीकार करके अपनी गैर जिम्मेदाराना राजनीति का परिचय देने में जो कमी बाकी रखी थी वह उसने राज्यपाल फातिमा बीबी को तमिलनाडु से वापस बुलाने के केंद्रीय मंत्रिमंडल के निर्णय तथा तमिलनाडु में राष्ट्रपति शासन लगाने का विरोध करके पूरी कर दी है। तमिलनाडु के घटनाक्रम को साधारण समझकर काँग्रेस ने लोकतांत्रिक मूल्यों और संवैधानिक मर्यादाओं की धज्जियाँ उड़ाई हैं। ऐसा लगता है कि काँग्रेस न तो आपातकाल की मानसिकता से मुक्त हो पाई है और न तो अपनी पुरानी गलतियों से सबक लेने के लिए तैयार है। यह हाल है वैसी पार्टी का, जो कई दशक तक केंद्र में सत्तासीन रही है। उसे आखिर इसपर तो विचार करना ही चाहिए कि मुख्यमंत्री की कुर्सी किसी को व्यक्तिगत दुश्मनी साधने के लिए नहीं, बल्कि जनता की सेवा के लिए दी जाती है। समय का तकाजा है कि तमिलनाडु में जो घटनाएँ घटीं तथा सत्ता पर बैठे हुकमरान के आचरण दिखे उसकी राजनीतिक दलों को कूटनीतिक नफा-नुकसान से ऊपर उठकर निंदा करनी चाहिए, क्योंकि न्यायिक प्रक्रिया शालीनता के परित्याग की इजाजत कभी नहीं देती।

बहरहाल **जार्ज फर्नांडीस** के नेतृत्व में गठित राजग के तीन सदस्यीय प्रतिनिधिमंडल का मानना है कि संघीय व्यवस्था की रक्षा के लिए तमिलनाडु सरकार के खिलाफ कड़ी कार्रवाई के अलावा और कोई विकल्प नहीं बचता। प्रतिनिधिमंडल के एक सदस्य के अनुसार तमिलनाडु के सभी दलों का मत है कि वहाँ अनुच्छेद 356 लगाया जाना चाहिए, किंतु राज्यसभा में राजग का बहुमत न होने तथा काँग्रेस व अन्य विपक्षी दलों के विरोध के कारण वहाँ राष्ट्रपति शासन लगाना भी आसान नहीं। वैसे केंद्रीय मंत्रिमंडल ने तमिलनाडु में राष्ट्रपति शासन न लगाकर जयललिता सरकार को संविधान के अनुसार राज्य संचालन करने की चेतावनी दी। इधर, जयललिता ने भी अपनी कुर्सी हिलती देखकर तथा केंद्र के साथ टकराव को टालते हुए दोनों केंद्रीय मंत्रियों के खिलाफ लगाए गए आरोप वापस ले लिए। आखिरकार जयललिता ने करुणानिधि को भी चार दिन जेल में रखने के बाद मानवता की दुहाई देते हुए रिहा किया पर मामले जारी रहेंगे। जेल से बाहर आने पर संवाददाताओं को अपनी व्यथा का बयान देते वक्त करुणानिधि दो बार फूट-फूट कर रो पड़े, चलो, फिलहाल टकराव तो टला। लेकिन यह याद रखने लायक बात है कि कैसे किसी एक व्यक्ति की सनक देश को संवैधानिक संकट में डाल सकती है। संविधान का प्रारूप पेश करते समय डॉ० भीमराव अम्बेडकर ने कहा था कि अगर इस नए संविधान के तहत स्थिति बिगड़े तो इसका कारण यह नहीं होगा कि संविधान खराब है, बल्कि यह कि इंसान बुरा है। जो हो, तमिलनाडु की इस घटना ने यह साबित तो कर ही दिया है कि आजादी के बाद जनता के हितों की लगातार उपेक्षा कर रहे राजनेताओं ने नौकरशाहों तथा अपराधी व असामाजिक तत्त्वों से साठ-गांठ कर जो मकड़जाल बनाया है उसमे अब वे खुद फँसने लगे हैं। तमिलनाडु की पुलिस जिस दरिंदगी से करुणानिधि तथा दो केंद्रीय मंत्रियों के साथ पेश आई आखिर यह सब उन्हीं राजनेताओं की तो देन है। पुलिस की वह लाठी जो आए दिन आमजन पर पड़ती है वह अब राजनेताओं पर भी गिरने लगी है। ऐसा लगता है कि पुलिस की नजर में **कानून सबके लिए अब** एक-सा दिखने लगा है।

विचार दृष्टि, वर्ष : 3, अंक : 8, जुलाई-सितंबर, 2001

◈◈◈

आतंकवाद : नयी सदी का नया आयाम

यों तो आतंकवाद एक ऐसा पुराना रोग है जिससे विश्व के अधिकतर राष्ट्र जूझते रहे हैं किंतु इस बार 11 सितंबर को विश्व के सर्वशक्तिशाली देश अमरीका स्थित न्यूयार्क के विश्व व्यापार केन्द्र के दो टावरों तथा वाशिंगटन स्थित रक्षा मंत्रालय के पेंटागन भवन को दो अपहृत विमानों द्वारा आतंकवादियों ने हमले कर उन्हें जिस प्रकार ध्वस्त किया उससे संभवत: पूरे विश्व को यह अहसास हो गया है कि अब आतंकवादी पूरी मानवता पर हावी हैं। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न तलों से चार विमानों का अपहरण हुआ और उन इमारतों को भेदने के लिए उन्हें इस्तेमाल किया गया, इसके लिए निश्चित रूप से प्रभूत साधनों, प्रशिक्षण, अनुशासन, प्रतिभा एवं सजग योजकता की आवश्यकता है। कहना नहीं होगा कि यह आतंकवाद की तदर्थ घटनाओं से भिन्न है। आतंकवाद ने नयी सदी में नया आयाम ग्रहण कर लिया है। यह आतंकवादी अपराध की घटना नहीं, वरन् आतंकवादी युद्ध पिपासा का इज़हार है। इस आतंकवादी हादसे ने अपहृत विमान का अणुबम के समान भयानक उपयोग कर डाला। सुरक्षा के सभी परंपरागत तरीकों की ब्यूह रचना को भेद दिया गया है। सारी अमरीकी खुफिया तंत्र और सुरक्षा एजेंसियाँ अपने राष्ट्र के स्वाभिमान एवं बर्बादी का मूकदर्शक बनकर देखती और हाथ मलती रह गयीं। अमरीकी इतिहास में 11 सितंबर का मंगलवार दिन एक ऐसे काले दिन के रूप में याद किया जाएगा, जिस दिन अपनी तथाकथित अत्याधुनिक रक्षा प्रणाली की डींगे हाँकने वाले अमरीकी रक्षा प्रणाली की धज्जियाँ उड़ाते हुए कुछ आत्मघाती आतंकवादियों ने एक मामूली से समय में उसके लगभग 20 हजार ऐसे लोगों को मौत के घाट उतार दिया, जो समाज के सर्वोत्तम व्यक्ति कहे जाते थे। आश्चर्यजनक रूप से इतिहास की समय-शिला पर 21वीं सदी की प्रथम कालिमा के सघन अँधेरों को पूरी दुनिया ने देखा और एक स्वर से स्वीकार किया कि आतंकवाद अब पूरे विश्व के अमन के लिए खतरा है।

इस बात से कोई इंकार नहीं कर सकता कि अंतरराष्ट्रीय आतंकवाद अब विश्वव्यापी चुनौती है। नयी सदी एक साथ कई चुनौतियों को लेकर उपस्थित हुई है। अभी तक हम केवल भूख, गरीबी, बेकारी, यातना और पाखंड से ही लड़ रहे थे, किंतु अब तो सांप्रदायिकता, जातिवाद, नस्लवाद और भूमण्डलीकरण

के नाम फैलाए जा रहे मनुष्य विरोधी तंत्र के साथ-साथ आतंकवादियों का भी मुकाबला करना है। भारत तो पिछले दो दशक से आतंकवादियों का दंश झेल रहा है। पहले पंजाब, फिर कश्मीर, मुंबई ही नहीं, पूर्वांचल के कई क्षेत्रों में आतंकवाद का घिनौना चेहरा उजागर होता रहा है और वहाँ सैकड़ों-हजारों को कत्लेआम किया जा रहा है। कश्मीर विधानसभा पर हमला कर उग्रवादियों ने लगभग 42 लोगों को मौत के घाट उतार दिए, यह ताजा घटना है। भारत बार-बार अमरीका के आगे गुहार-मनुहार में लगा रहा कि इस तरह का आतंकवाद बंद किया जाए, फिर भी अमरीका के कानों पर जूँ तक नहीं रेंगी। लेकिन आज उसे पता चला कि हिंसा का दर्द कैसा होता है। अमरीका ने बबूल के जो पेड़ दुनिया के तमाम हिस्सों में लगाए थे, उनके काँटे अब उसे चुभने लगे हैं। आतंकवाद की गंभीरता उसे तब समझ में आयी जब आतंकवाद ने उसके द्वार पर दस्तक दी। दरअसल अमरीका को यह पता नहीं था कि आतंकवाद गरीब-अमीर में फर्क नहीं करता। अमरीका में हुए आतंकवादी हमले से अब यह सिद्ध हो गया है कि कोई देश कितना शक्तिशाली क्यों न हो वह आतंकवाद के अभिशाप से तबतक कारगर तरीके से नहीं निपट सकता जबतक उसे विश्वव्यापी दृष्टि से नहीं देखा जाएगा। मुझे ऐसा नहीं लगता कि मात्र लादेन जैसे खूँखार आतंकवादी के मार गिराने से इस समस्या का निदान निकल आएगा, क्योंकि उसके जैसे हजारों छोटे-मोटे लादेन पैदा हो गए हैं, जो विश्व के कोने-कोने में अपनी आतंकवादी गतिविधियों से दशहत फैला रहे हैं।

आज विश्व को हिंदू, मुस्लिम, सिख, ईसाई या इनके धर्म से कोई खतरा नहीं है। खतरा है तो उस उन्माद से, जो धर्म की झीनी चादर ओढ़कर व्यक्ति को धर्मांध बना देता है, उसे गुमराह कर देता है। उन्माद जब बोलता है तो सिर चढ़कर बोलता है। इसे किसी धर्म, जाति या मजहब से क्या लेना-देना? आम जनता चाहे किसी भी राष्ट्र की हो, इस्लामी हो या गैर इस्लामी वह आतंकवाद की समर्थक नहीं हो सकती। क्योंकि आतंकवाद के जबड़े हर जगह अतंतः जनता को ही चबाते हैं। धार्मिक कट्टरता किसी भी रूप में फलदायी नहीं होती, क्योंकि यह एक ऐसी राक्षसी प्रवृत्ति है जो पहले दूसरों का खून चुसती है फिर अपनों का ही चूसना शुरु कर देती है। 1980 के दशक में पंजाब ने उन्माद को झेला। 1992 में कुछ उन्माद-ग्रस्त लोगों ने अयोध्या में मस्जिद को गिरा दिया। आज से लगभग चार माह पूर्व त्रिपुरा में संघ प्रचारकों की हत्या हुई। एक उन्मादी ने उड़ीसा में एक पादरी और दो बच्चों को जिंदा जला दिया। कश्मीर में आए

दिन हिंदुओं और मुस्लिमों की हत्याएँ हो रही हैं। कैसे बाँधेंगे इन लोगों को एक परिभाषा में? ये लोग कहाँ नहीं हैं? कभी कोई **खुमैनी** हो जाता है, **सद्दाम** तो कभी **लादेन**।

भौतिक बम से ज्यादा खतरनाक मानवीय संवेदनाओं का बम बन जाना होता है। भारतीय समाज के साथ-साथ अंतरराष्ट्रीय समाज आज जितना असंवेदनशील है, उतना शायद पहले कभी नहीं रहा है। बढ़ती हुई मानवीय असंवेदनशीलता, दिन-व-दिन संकीर्ण होती राजनीति, राष्ट्रीय व अंतरराष्ट्रीय एकता के आधारों को भयानक रूप से कमजोर बना चुकी है। समय के आइने में यदि हम देश-विदेश की घटनाओं पर नजर डालते हैं तो बीतने के साथ आइना टूटता नजर आता है। टूटे हुए आइने में तमाम छोटे-मोटे भयानक घृणित चेहरे स्पष्ट उभरकर सामने आते हैं। देश व दुनिया के हर कोने में हर दिन कुछ न कुछ ऐसा होता रहता है, जिससे राष्ट्रीयता ही नहीं पूरी मानवता को गहरा आघात पहुँचता है।

कुछ इसी भाव से प्रेरित होकर राष्ट्रीय भावनाओं पर आधारित इस वैचारिक पत्रिका का इस बार **राष्ट्रीय एकता विशेषांक** निकालने का निर्णय लिया गया। प्रयास यह हुआ है कि राष्ट्रीय एकता के संदर्भ में विभिन्न विषयों पर देश के सुप्रसिद्ध चिंतकों व विचारकों की चिंतनधारा को सुधी पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किये जाएँ। साथ ही प्रस्तुत किया जा रहा है एक नया स्तम्भ-**जलते प्रश्न**, जिसके तहत समसामयिक घटनाओं पर अपनी पैनी दृष्टि डाल रहे हैं सुपरिचित पत्रकार, कवि व साहित्यकार **राधेश्याम तिवारी**। भारतीय ज्ञानपीठ के बाद इन दिनों वे **दैनिक भास्कर** के संपादकीय में अपनी सेवाएँ अर्पित कर रहे हैं।

हाँ, तो हम बात कर रहे थे आतंकवाद की। अमरीका में हमले के बाद कई देशों में खुशियाँ मनाई गईं। खुशियाँ मनाने वाले लोग निश्चित रूप से बीमार हैं, रूग्ण हैं। इनका इलाज होना ही चाहिए। जब मनुष्य के हाथ कमजोर हो जाते हैं, तो प्रकृति अपनी लीला प्रारंभ करती है। माध्यम बुश बनें या और कोई इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। आतंकवाद के खिलाफ अफगानिस्तान में 7 अक्टूबर से शुरु युद्ध का अभियान जारी है। वैसे भी योजना के पहले चरण में इस अभियान को नाम दिया गया-**ऑपरेशन नोबेल ईगल**। जैसे-जैसे विभिन्न फौजी दस्तों की तैनाती का काम आगे बढ़ा, इसका नाम बदलकर **ऑपरेशन इनफिनिट जस्टिन** रख दिया गया। आक्रमण शुरू होने पर इस अभियान को **ऑपरेशन**

एंड्योरिंग फ्रीडम कहा जा रहा है। आतंकवाद के खिलाफ यह अमरीकी अभियान न्याय के लिए उठाया कदम है ताकि आतंकवादी भविष्य में ऐसी हरकत करने का साहस न कर सकें। अमरीकी राष्ट्रपति जॉर्ज बुश के अनुसार इस युद्ध के पीछे एक मानवीय दृष्टिकोण भी है। इसी दृष्टि से इसे **न्याय युद्ध** भी कहा गया है। हालांकि यह भी सच है कि औपनिवेशिक मानसिकतावाले देश सदैव **न्याय युद्ध** का अपने मतलब के लिए उपयोग करते रहे हैं। इतिहास इसका साक्षी है। आज भी अमरीका अफगानिस्तान पर हमला कर तालिबान से खुँखार आतंकवादी ओसामा बिन लादेन को सौंपने की रट लगा रहा है और उसके सौंपे जाने पर हमले बंद करने की बात करता है। तब यह स्वाभाविक है कि एक लादेन के पकड़े जाने पर क्या आतंकवाद का खात्मा हो जाएगा। दूसरी ओर इस युद्ध को लंबे समय तक चलाने की बात भी की जा रही है। इस स्थिति में क्या इससे दुनिया भर में तबाही और हिंसा नहीं फैलेगी? इस पर भारत को बड़ी गंभीरता से सोच-विचार कर अपना कदम आगे बढ़ाना है। वैसे युद्ध किसी भी कीमत में फायदेमंद नहीं होता, क्योंकि उसमें अधिकतर निरपराध लोग ही मारे जाते हैं। किंतु मानवता की रक्षा के लिए यदि युद्ध अनिवार्य हो जाए तो उसे लड़ना भी जरूरी हो जाता है, परंतु जिस मानवता की रक्षा के लिए उसे लड़ा जा रहा है, वह उसके खात्मे का कारण न बन जाए इसका ख्याल रखा जाना चाहिए।

आतंकवाद कहाँ-कहाँ पनपता है, कहाँ-कहाँ इसे संरक्षण मिलता है, कहाँ इसका प्रशिक्षण दिया जाता है, भारत को इसका पूरा अनुभव हो चुका है। अमरीका को इस युद्ध में भारतीय अनुभवों का लाभ उठाकर ऐसी नर्सरियों को जड़मूल से नष्ट करना होगा तभी इस युद्ध की सार्थकता सिद्ध होगी। इस क्रम में अमरीका व ब्रिटेन द्वारा पाकिस्तान स्थित जैश-ए-मोहम्मद सहित 39 आतंकी संगठनों को प्रतिबंधित करने का कदम सराहनीय है। इधर कश्मीर के आतंकवादियों के खिलाफ की जा रही कार्यवाही के लिए भारत लगातार दबाव बनाने में सफल रहा है जिसका सीधा असर पाक राष्ट्रपति जनरल मुशर्रफ पर पड़ा है। यही कारण है कि अमरीका भारत से कश्मीर के मामले को ऐसी परिस्थिति में न उठाने के लिए अनुरोध करता रहा है। अमरीका के विदेश मंत्री **कोलिन पावल** की पाक और भारत यात्रा भी संभवत: भारत तथा पाकिस्तान के बीच तनाव कम करने और संबंध सुधारने के ख्याल से दबाव पैदा करने के लिए हुई। दरअसल अमरीका ऐसे समय में जहाँ पाकिस्तान को कहीं से भी

मुसीबत में डालने की स्थिति में नहीं है, वहीं भारत को नाराज नहीं करना चाहता है। इन सब घटनाओं से इतना तो स्पष्ट है कि अमरीका द्वारा आतंकवाद के खिलाफ अफगानिस्तान में लड़ी जा रही लड़ाई की समाप्ति तक भारत को कश्मीर पर किसी प्रकार की बयानबाजी या सैनिक कार्रवाई न करने के लिए समझाने का प्रयास जारी है। उधर केंद्रीय गृहमंत्री लाल कृष्ण आडवाणी ने भी जम्मू-कश्मीर में आतंकवाद की समस्या को भारत की अपनी समस्या मानते हुए उसका समाधान भी अपनी ताकत से करने की जो बात कही है वह स्वागतयोग्य है। हाँ, एक बात का और ख्याल रखना होगा कि आतंकवाद के खिलाफ लड़ाई लड़ी जा रही है, न कि इस्लाम से। जेहाद की आड़ में हिंसक कार्रवाई को अंजाम देना इस्लाम ही नहीं किसी भी मज़हब में कहीं नहीं लिखा है।

विचार दृष्टि, वर्ष : 3, अंक-9, अक्टूबर-दिसंबर, 2001

◈◈◈

देश की संप्रभुता की रक्षा के लिए शत्रु को सबक

विगत 13 दिसम्बर को भारतीय संसद पर पाक आतंकवादियों द्वारा किया गया हमला देश की संप्रभुता व अस्मिता पर आक्रमण है उसे अब हर भारतवासी मानता है। इस हमले में आई.एस.आई. की शह पर पाक समर्थित आतंकी संगठन लश्करे-तोइबा और जैश-ए-मोहम्मद के हाथ होने के पर्याप्त सबूत मिल जाने के पश्चात् अब भारत में ही नहीं, वरन् पूरे विश्व के शांति-पसंद-देशों को यह अहसास हो गया है कि असली दुश्मन कौन है। इसमें किसी को शक नहीं कि भारत में जो आतंकवादी गतिविधियाँ जारी हैं उनका षड्यंत्र पाकिस्तान में ही रचा जा रहा है। पाक अधिकृत कश्मीर में उन आतंकवादियों को प्रशिक्षण दिया जा रहा है। इसलिए समय का तकाजा है कि देश की संप्रभुता की रक्षा के लिए आतंकवादियों की चुनौती को स्वीकार कर शत्रु पाकिस्तान को सबक सिखाया जाए। दुर्भाग्य यह है कि भारत अपनी संप्रभुता पर चोट करने वालों के खिलाफ मुँहतोड़ जवाब देने से हिचकिचाता रहा है। भारत ने सदैव इस मामले में नरमी बरती है तथा अपनी सहिष्णुता का परिचय दिया है जिसका खामियाजा उसे भुगतना पड़ रहा है। पिछले करीब दो दशक से झेल रहे आतंकवादी दंश के बाद उनसे निबटने के हमारे दिखावटी और शिथिल संकल्पों का ही परिणाम है कि हमलावरों ने विश्व के सबसे बड़े लोकतंत्र के प्रतीक भारतीय संसद पर हमला करने का दुस्साहस किया।

भारतीय प्रधानमंत्री ने इस हमले के बाद आर-पार की लड़ाई लड़ने की बात कही है, जो स्वागत योग्य है। हमारे देश का पाला-एक ऐसे पड़ोसी दुश्मन से हुआ है जिसके हुकमरान कुटिल हैं और बराबर झूठ का सहारा लेकर अपने देशवासियों को कश्मीर के नाम पर गुमराह करते आए हैं। झूठ तो यहाँ तक कि संसद पर हुए हमले को भी पाक ने भारतीय खुफिया एजेंसियों द्वारा नाटक कहा गया। ऐसे कुटिल और दोहरे चरित्रवाले दुश्मन को नष्ट कर देने में ही देश की भलाई है। भारत को यह कार्य अपने बलबूते पर ही करना होगा, क्योंकि जब कभी तालिबानी मानसिकता से लड़ने की बारी आती है तो विश्व के शिखर राष्ट्र मौन धारण कर लेते हैं। वे आतंकवाद को पोषण प्रदान करने वाली मानसिकता के खिलाफ निर्णायक संघर्ष छेड़ने के लिए तैयार नहीं होते हैं। न्यूयार्क के दो टावरों तथा वाशिंगटन के पेंटागन भवन को ध्वस्त करने के बाद अमेरिका ने

अफगानिस्तान में काबिज तालिबान आतंकवादियों को समाप्त करने के लिए जो युद्ध छेड़ा और जिसमें उसे सफलता मिली वह तो उसकी विवशता थी और वह तो मात्र एक राजनीतिक प्रयास था। आतंकवाद को जन्म देने और पोषण करने वाले देश पाकिस्तान के खिलाफ आज भी अमेरिका खुलकर कहाँ सामने आ पा रहा है। अमेरिका जान-बुझकर पाक आतंकीवादी की अनदेखी कर रहा है। अमेरिका और ब्रिटेन केवल मानवाधिकार की बात करते हैं, किंतु मानवमूल्यों की रक्षा के लिए प्रतिबद्ध नहीं होते और न तालिबानी विचारधारा जिसके कारण असहिष्णुता पोषण पाती है उस मानसिकता को बढ़ावा मिलता है और जो मानव-मानव के बीच नफरत की सीख देती है, उसकी कठोर आलोचना नहीं कर पाते हैं। अफगानिस्तान में तालिबानों के खत्म होने से तालिबान को जन्म देने वाली मानसिकता समाप्त हो चुकी है ऐसा नहीं कहा जा सकता। सच तो यह है कि तालिबान सरीखी विचारधारा का अंत तभी संभव है जब आस्था, मजहब और दीन के नाम पर नफरत की सीख देने का सिलसिला बंद किया जाए। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि शांति और सहिष्णुता विरोधी इस मानसिकता को मुखौटे धारण किए लोगों द्वारा अब भारत में भी पोषण मिल रहा है। इन मुखौटों का पर्दाफाश करना होगा और पाक के नापाक इरादे को कुचलना होगा तभी आर-पार की लड़ाई संभव है।

अपनी संप्रभुता की रक्षा करना हर राष्ट्र और उसके वासी का कर्त्तव्य है। अफगानिस्तान में अमेरिका की सफलता के पीछे सबसे बड़ा तत्त्व राष्ट्रीय सर्वानुमति है, जिसका सर्वथा अभाव हमारे देश में अभी दिखता है। आपने देखा नहीं आतंकवाद से निबटने के लिए प्रस्तावित कानून 'पोटो' का विपक्ष ने एक स्वर से विरोध ही नहीं किया, बल्कि कई दिनों तक संसद को ठप्प रखा।

इसमें कोई दो राय नहीं कि लोकतंत्र में आम सहमति का होना नितांत आवश्यक है। आतंकवादी किसी एक सरकार, दल या व्यक्ति की समस्या नहीं है। यह पूरे राष्ट्र की समस्या है और इसका सामना पूरे राष्ट्र को मिलकर करना होगा। आतंकवाद को मिटाने के लिए मात्र कानून की धाराओं की आवश्यकता नहीं है, बल्कि दृढ़ निश्चय तथा आतंकवाद के खात्मे के लिए प्रतिबद्धता की जरूरत है। किंतु जब आतंकवाद को भी वोट प्राप्त करने का हथियार समझा जाने लगे तो स्थिति और भी विकट हो सकती है। इस संकट के समय में सभी दलों तथा आमजनों को सत्ता और चुनाव को नजरअंदाज कर देश को जोड़ने के मुद्दे पर सोचना होगा। फिलहाल अंतरराष्ट्रीय माहौल भी भारत के अनुकूल है, क्योंकि

अमेरिका के अतिरिक्त इस्रायल भी आतंकवादी हमले के खिलाफ कड़ी कार्रवाई कर रहा है। भारत को इस अवसर का लाभ उठाना चाहिए। बिना शक्ति प्रदर्शन किए आतंकवाद का सिर नहीं कुचला जा सकेगा।

पाकिस्तान द्वारा प्रायोजित छद्मयुद्ध और आतंकवाद को रोकने में मुस्लिम समाज को अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करना चाहिए। दिल्ली-विश्वविद्यालय के जाकिर हुसैन कॉलेज के प्राध्यापक प्रो. गिलानी का संसद पर हुए हमले की सजिश में लिप्त रहना इस बात का द्योतक है कि पाक आतंकवादी संगठनों ने मुस्लिम समाज के एक वर्ग के बीच अपनी पैठ बना ली है जो एक खतरनाक स्थिति है। जरूरत इस बात की है कि पाकिस्तान के दुस्साहस को कुचलने के साथ-साथ देश के अंदर सक्रिय आतंकवादियों तथा उनके समर्थकों को भी कुचलना आवश्यक है।

इसमें कतई संदेह नहीं कि पाक के खिलाफ कोई भी कार्रवाई सोच-समझकर ही की जानी चाहिए, किंतु पाकिस्तान द्वारा युद्ध थोपने की स्थिति में उसका प्रतिकार कैसे किया जाए, सोच विचार केवल इस पर होना चाहिए। संयम का परिचय तो बहुत दिया गया, अब साहस का परिचय देने का समय है - और साहसी वही कहलाता है जो जोखिम उठाता है।

विचार दृष्टि, वर्ष : 4, अंक-10, जनवरी-मार्च, 2002

◈◈◈

गाँधी की धरती पर हैवानियत की हद

गांधी की धरती गुजरात के गोधरा स्टेशन के पास साबरमती एक्सप्रेस से यात्रा कर रहे कारसेवकों पर हजारों उग्रवादियों द्वारा किए गए हमले के बाद, राज्य की राजधानी अहमदाबाद सहित 37 छोटे-बड़े शहरों में हिंसा और आगजनी का जो तांडव हुआ, वह हैवानियत की हद को पार कर गया। गुजरात का इतिहास कई बार दंगों के दंश से दागदार हो चुका है। सत्य और अहिंसा के पुजारी की इस भूमि पर स्थित **साबरमती आश्रम** के नाम से जहाँ भारतवासियों के मन में श्रद्धा व सम्मान उमड़ पड़ते हैं, वहीं एक भाई दूसरे भाई के खून का प्यासा हो जाए, इसे दुखदायी और शर्मनाक नहीं तो और क्या कहा जाएगा। क्या इस बात से कोई इनकार कर सकता है कि हिंदू और मुसलमान दोनों ही एक ऐसे राष्ट्र के नागरिक हैं, जिसकी अपनी एक विशिष्ट पहचान और परंपरा है, उनके अपने आदर्श और मूल्य हैं। इस राष्ट्र में सभी धर्म, पंथ, आस्था और विश्वास आदर के पात्र हैं, क्योंकि कोई भी धर्म किसी से घृणा नहीं सिखाता। किंतु इन धर्मों के मुट्ठी भर कट्टरपंथी उग्रवादियों वे देशद्रोहियों से सांठ-गांठकर न केवल हिंदू-मुस्लिम एकता के लिए खतरे बन गए हैं, बल्कि दोनों संप्रदाय के लोगों को संदेह और अविश्वास के कठघरे में खड़े कर देते हैं। जिस प्रकार इस्लाम के कट्टरपंथी गुट भारतीय इस्लाम की आवाज बन गए हैं, ठीक उसी प्रकार हिंदू कट्टरपंथी गुट भी पूरे हिंदू समुदाय का प्रतिनिधित्व करने का ठेका ले रखा है।

दरअसल इस देश में इन कट्टरपंथियों की हैवानियत पर पहुँचने का और कारणों सहित अयोध्या में मंदिर-मस्जिद के निर्माण का झगड़ा भी एक कारण है जिसकी वजह से दोनों धर्मों के कट्टरपंथियों में उन्माद पैदा हुआ है। दुर्भाग्य यह है कि एक लंबे अरसे से इस समस्या का समाधान निकालने का न तो भारत सरकार ने कभी गंभीरता से प्रयास किया और ना ही अदालतों में वर्षों से पड़े इसके विवादों के फैसले में सक्रियता दिखाई दी जिसका परिणाम सामने है। गुजरात के सांप्रदायिक दंगे में सैकड़ों बेगुनाहों की जानें गयीं और करोड़ों की संपत्ति का नुकसान हुआ। हालाँकि इसके पीछे विदेशी ताकतों के षड्यंत्र से इनकार नहीं किया जा सकता। विदेशी ताकतों के समर्थन से जो आतंकवादी शक्तियाँ भारत में सक्रिय हैं उनका तो उद्देश्य ही है कि यह देश सांप्रदायिक दंगों की आग से जल उठे।

. पिछले दिनों गुजरात में जो घटनाएँ हुईं, भारत सरकार के गृह मंत्रालय को जो तथ्य मिले हैं उससे संदेह की सुई सीधे तौर पर आई॰एस॰आई॰ पर जा रही है, क्योंकि स्थानीय स्तर के अपराधियों के बूते इतनी वीभत्स घटना को अंजाम देना संभव नहीं दिखता। इसलिए घटना की प्रकृति से शक आई॰एस॰आई॰ पर जाना स्वाभाविक है। वैसे भी भारत में सांप्रदायिक दंगे कराना आई॰एस॰आई॰ की रणनीति में हमेशा से रहा है और इसलिए उसने पूरी तैयारी के साथ साबरमती एक्सप्रेस पर हमला करके उन कोचों को ही निशाना बनाया, जिनमें कारसेवक सवार थे। गुजरात में गोधरा रेल आगजनी कांड की साजिश रचने वाला हरकत उल जिहाद का एक इस्लामी आतंकवादी प. बंगाल की सीमा से बंगला देश भागने की कोशिश करते समय गिरफ्तार किया गया।

खैर, जो लोग भी इस घटनाक्रम के लिए जिम्मेदार है, पहले उनकी पहचान कर उन्हें दंडित किया जाना चाहिए और, कट्टरपंथियों तथा आतंकवादियों के इस खतरे से इस देश के हिंदू और मुसलमान दोनों को सावधान और चौकस रहने की आवश्यकता है। इस संदर्भ में दोनों समुदाय के उदारवादी लोगों का दायित्व बढ़ जाता है, क्योंकि आपसी भाईचारा और सद्भाव का वातावरण बनाने में वे अहम भूमिका अदा कर सकते हैं।

सरकार और प्रशासन के भरोसे सब कुछ छोड़ा नहीं जा सकता, क्योंकि गुजराज सरकार की उदासीनता रेल घटनाक्रम में देखी गयी है जिसने अशांति के दो दिन बाद सेना की टुकड़ियों की माँग की। इस संदर्भ में यह अच्छी बात रही कि देश के तमाम प्रमुख मुस्लिम संगठनों ने गुजरात की रेल हत्याकांड की भर्त्सना की। वैसे भी देश के तमाम धर्मनिरपेक्ष ताकतों को अपनी ईमानदारी का परिचय देते हुए निर्भीक ढंग से गुजरात की घटनाओं व वहशियों को हवा-पानी देने से बचना चाहिए तथा इस संकट की घड़ी में राजनीति, विचारधारा और तमाम तरह की संकीर्णताओं से ऊपर उठकर देश और मनुष्यता को बचाने का संकल्प लेना होगा, क्योंकि दो समुदायों के बीच जब आपसी नफरत खड़ी हो जाती है, तो वह जल्दी मिटती नहीं। और, जो जख्म पैदा हो जाते हैं, वे जल्दी भरते नहीं।

सच तो यह है कि कट्टरपंथी चाहे किसी भी धर्म के हों, उन्हें अपने धर्म से कुछ लेना-देना नहीं है। वे तो केवल लोगों के दिल में आग भड़काकर, उस आग में अपनी रोटी सेंकना चाहते हैं। और, यह भी सच है कि सभी ध र्मों में अधिकांश लोग ऐसे हैं जिन्हें मंदिर-मस्जिद निर्माण से कुछ वास्ता नहीं,

कुछ सिरफिरे लोग ही ऐसे हैं, जिन्हें देश के करोड़ों लोगों के लिए रोजी-रोटी, शिक्षा तथा स्वास्थ्य जैसी समस्याओं की नहीं, बल्कि मंदिर-मस्जिद निर्माण की चिंता सताए है। सीमा पर एक ओर हमारी फौजें डटी हैं और दूसरी ओर देश के अंदर मर्यादा पुरुषोत्तम राम और बाबर के नाम पर सांप्रदायिक सौहार्द की सामाजिक बनावट को तोड़ देने का खेल जारी है। दरअसल गुजरात का दंगा महज दंगा नहीं वह उस विकृत मानसिकता का आइना है, जिसमें हिंदू और मुस्लिम मजहब के कट्टरपंथियों ने जहर घोल दिया है।

गुजरात की इस शर्मनाम घटना से यह बात जाहिर हो गयी है कि 21वीं सदी में प्रवेश करने के बाद भी हम हिंदुस्तानी, धर्मांध मध्ययुग में ही रह रहे हैं। जब तक उदारवादी सहिष्णु मानवतावादी चुप्पी साधे रहेंगे, निर्दोष शिकार होते रहेंगे। इसलिए हमें अपनी चुप्पी तोड़नी होगी और दोहरे मापदंडों एवं पाखंड से मुक्त होना होगा।

विचार दृष्टि, वर्ष : 4, अंक-11, अप्रैल-जून 2002

◈◈◈

हिंदी को दबाने का प्रयास आत्मघाती

यह एक कठोर सच है कि आजादी के पचपन साल बाद भी इस देश में राष्ट्रभाषा हिंदी की बजाय अँग्रेजी का पाया ही दिनों-दिन मजबूत होता जा रहा है। अँगेजी के माध्यम से शासन, संपदा और स्टेट्स पर अपना वर्चस्व रखने वाला विशिष्ट वर्ग उसे मरने या मुरझाने नहीं दे पा रहा है। जबकि सच्चाई यह है कि स्वतंत्रता पूर्व देश के हिंदी के कर्णधारों के साथ-साथ बहुत सारे अहिंदी भाषी रचनाकारों ने भी राष्ट्र की शक्ति को एक सूत्र में पिरोने तथा देशवासियों में राष्ट्रीयता की भावना भरने में जो वाणी दी थी वह वाणी आज भी हमारे लिए प्रेरणा का महत्त्वपूर्ण और गरिमापूर्ण स्रोत है।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि कोई भी देश या समाज अपनी भाषा के माध्यम से ही उन्नति कर सकता है। इतिहास इसका साक्षी है। अमेरिका, इंग्लैंड, आस्ट्रेलिया, फ्रांस, रूस, जापान, जर्मनी, चीन आदि देश इसके प्रमाण हैं। अपनी जरूरत के मद्देनजर अन्य भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करना और बात है तथा किसी एक भाषा का गुलाम बन जाना दूसरी बात। हर देश अपनी आवश्यकता के अनुसार ही अपनी भाषा का चयन करता है। हिंदी यदि ऐतिहासिक कारणों से भारत की संपर्क भाषा या राजभाषा बनी है तो इसका स्वागत किया जाना चाहिए, विरोध नहीं। यहाँ तक कि इस देश के दक्षिण स्थित चारों राज्यों में भी अँगेजी से अधिक हिंदी समझने वाले लोग हैं। हिंदी जगी हुई है और उन्हें जनता की शक्ति प्राप्त है, किंतु सत्ता पर बैठे हुकमरानों की इच्छाशक्ति के अभाव में खासकर सरकारी कार्यालयों में आज भी हिंदी का प्रयोग और प्रचार-प्रसार जिस गति से होना चाहिए वह नहीं हो रहा है, जबकि 14 सितंबर 1949 को ही इसे 'राजभाषा' का दर्जा दिया जा चुका है। आखिर यह अपने देश के अँग्रेजीदाँवालों की साजिश नहीं तो और क्या है? जिस दिन जनता अँगेजीवालों की यह साजिश समझ में आ जाएगी, उस दिन अँग्रेजी भागती हुई नजर आएगी।

आज स्थिति यह है कि हिंदी को दबाने का प्रयास किया जा रहा है। और तो और हिंदी भाषी क्षेत्रों सहित राष्ट्रीय राजधानी दिल्ली स्थित केंद्रीय कार्यालयों के बीच भी पत्राचार हिंदी की बजाय अँग्रेजी में ही किया जा रहा है। यह राजभाषा अधिनियम का खुल्म-खुल्ला उल्लंघन नहीं तो और क्या है? अतएव

आर्थिक-राजनीतिक जागरण के लिए भी हिंदी के प्रति जागरूकता पैदा करने की जरूरत है। इसे दबाने का प्रयास आत्मघाती होगा। भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन में हिंदी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकृति मिली थी, क्योंकि हमें अँग्रेजों के शासन से मुक्ति पानी थी। अँग्रेज शासक हिंदी के विकास को चाहकर भी रोक नहीं पाए थे। उसके पहले लगभग सात सौ वर्षों तक राजभाषा के रूप में स्थापित फारसी भी मातृभाषाओं को दबाने में सफल नहीं हो पाई थी। इतिहास के इस सबक को भूलकर आज मुट्ठी भर अँग्रेजीदाँ भारत की क्षेत्रीय भाषाओं के साथ-साथ हिंदी को दबाने का प्रयास कर रहे हैं। हिंदी तो अँग्रेजी का बलि का बकरा है, पर मेरी धारणा है कि चाहे हिंदी के खिलाफ कितना भी चिल्ल-पौं क्यों न किया जाए, इसके बिना हमारा निस्तार नहीं है। हिंदी के लिए आज त्याग और मनन की जरूरत है। त्याग संकीर्णता का और मनन इस भाषा का।

विचार दृष्टि, वर्ष : 4, अंक : 12, जुलाई-सितंबर, 2002

◈◈◈

आखिर कैसे लगेगा राजनीतिक अपराधीकरण पर अंकुश?

अक्टूबर-नवंबर को महापुरुषों की जयंती का माह कहा जाए तो कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी। 2 अक्टूबर को बापू और शास्त्री जी की जयंती, तो 31 अक्टूबर सरदार पटेल की। लोकनायक जयप्रकाश नारायण की जयंती की तो खैर इस वर्ष शताब्दी मनायी जा रही है जिनका जन्म 11 नवंबर को हुआ था। महापुरुषों के जन्म दिन हमें झकझोरने के लिए होते हैं। जब हम इन महापुरुषों को उनकी जयंती पर याद करते हैं तो उनके त्याग, उनकी सादगी व नि:स्वार्थ सेवा और सदाचार सब एक साथ मानस-पटल पर रेखांकित हो जाते हैं। किंतु आज के राजनेताओं पर जब नजर आती है, तो सब कुछ उल्टा-पुल्टा-सा दिखता है। खासकर आजादी के तीसरे दशक के बाद हालत यह हो गई कि नेताओं के व्यक्तित्व में ऐसा कुछ दिखाई नहीं देता जो लोगों, विशेषकर युवा पीढ़ी को प्रेरित व आकर्षित करे। सरकार चाहे किसी की रही हो बोफोर्स, चीनी, शेयर, दूरसंचार, हवाला, यूनिट ट्रस्ट, बीमा, भूमि तथा चारा घोटालों से लेकर पेट्रोल पम्प तक की लंबी सूची है भ्रष्टाचार की।

जहाँ तक राजनीति के अपराधीकरण का सवाल है आज की तिथि में कोई भी राजनीतिक दल इससे अछूता नहीं है। अपराधिक तत्त्वों का बोलबाला प्राय: सभी दलों में है। आखिर तभी तो एक अँग्रेजी पत्रिका द्वारा आजाद भारत में महान व्यक्तित्व के बारे में आयोजित सर्वेक्षण में किसी राजनेता की बजाए सामाजिक सेवाओं से जुड़ी मदर टेरेसा को शीर्ष स्थान पर चुना गया। अखण्ड भारत के निर्माता सरदार वल्लभ भाई पटेल ही ऐसे राजनेता थे जिन्हें तीसरा स्थान मिला। अपने दल की कारगुजारियों के चलते अटल बिहारी वाजपेयी भी 10वें स्थान पर रहे। नेताओं के प्रति इस प्रकार की वितृष्णा के और चाहे जो कारण हों, पर प्रमुख कारण हैं उनकी कथनी और करनी में अंतर, भ्रष्ट आचरण, अपराधी प्रवृत्ति तथा सादगी से कोसों दूर उनका रहन-सहन और वेष-भूषा। ऐसे में जनता का उनसे मोह-भंग होना स्वाभाविक है। आज देश के जनप्रतिनिधियों के भ्रष्ट और गैर-जिम्मेदाराना आचरण के चलते यहाँ अराजकता का बोलवाला है और इसी कारण लोकतंत्र लट्ठतंत्र में बदलता जा रहा है। हर राजनीतिक दल ने अपना-अपना वोट बैंक सुदृढ़ बनाने के प्रयासों में सांप्रदायिकता, जातिवाद, आतंकवाद आदि को बढ़ावा देने में बढ़-चढ़कर भूमिका निभायी और जनता को सदैव कमजोर करने की कोशिश की गयी। उनके हितों से उनका कोई सरोकार न रहा।

यही देखिए न, जब राजनीतिक अपराधीकरण को रोकने के लिए चुनाव प्रक्रिया में सुधार की बात आई तो सभी राजनीतिक दलों ने एक स्वर से इसका विरोध किया और लचर-पचर इस पर विधेयक लाने की बात कहकर जनता को बरगलाया गया। संसद के मानसून सत्र में विधेयक प्रस्तुत नहीं किए जाने के बाद सरकार ने चुनाव सुधारों से संबंधित जो अध्यादेश लागू किया उसका चुनाव सुधारों से कहीं कोई लेना-देना नहीं। आश्चर्य इस बात पर है कि यह अध्यादेश सर्वोच्च न्यायालय के उन निर्देशों के बिल्कुल विपरीत है जिसके तहत प्रत्याशियों के लिए यह अनिवार्य किया गया था कि वे नामांकन पत्र दाखिल करते वक्त अपनी शैक्षणिक योग्यता, आर्थिक तथा अपराधिक इतिहास का ब्यौरा सार्वजनिक करेंगे ताकि मतदाता विधानमण्डलों अथवा संसद में भेजने के पूर्व अपने प्रतिनिधियों के बारे में जान सकें। इन राजनीतिक दलों ने सर्वोच्च न्यायालय के आदेशों के अनुपालन में निर्वाचन आयोग द्वारा जारी अधिसूचना को यह कहकर खारिज कर दिया कि कानून बनाने का अधिकार संसद का है, सर्वोच्च न्यायालय का नहीं।

अब सवाल यह उठता है कि राजनेता अपनी शैक्षणिक योग्यता, आर्थिक स्थिति और अपने अपराधिक इतिहास को मतदाताओं से क्यों छिपाना चाहते हैं। स्पष्ट है कि राजनेताओं को यह भय सता रहा है कि इन बातों की जानकारी होने पर न केवल अपराधिक चरित्रवाले उम्मीदवारों को मतदाता अपना प्रतिनिधि चुनने से बाज आएँगे, बल्कि प्रतिनिधि चुने जाने के बाद भ्रष्ट आचरण द्वारा जो अपार संपत्ति उनके द्वारा अर्जित की जाती है उसका कहीं पर्दाफाश न हो जाए। यही कारण है कि विपक्ष के साथ-साथ सत्तापक्ष भी चुनाव-सुधार के मामले में तनिक भी गंभीर नहीं है। इसलिए चुनाव सुधार के नाम पर अध्यादेश लागू करने की बात सुधार शब्द की मात्र खिल्ली उड़ाना है और इससे राजनीति के अपराधीकरण पर अंकुश लग सकेगा, यह एक दिवास्वप्न-सा है। केंद्रीय मंत्रिमंडल द्वारा पिछले दिनों सजायाफ्ता को छह वर्ष तक चुनाव न लड़ने देने से मुझे नहीं लगता कि राजनीति के अपराधीकरण पर अंकुश लग पाएगा, क्योंकि जो व्यक्ति एक बार सजायाफ्ता हो गया फिर उसकी आपराधिक मानसिकता बदल जाएगी, इसमें संदेह है। जिस व्यक्ति की सोच ही आपराधिक हो, वह एक अच्छा जनप्रतिनिधि कभी नहीं बन सकता। उसके लिए तो एक सकारात्मक सोच का होना जरूरी है, तभी उसके आचार-व्यवहार भी अच्छे होंगे। इस दृष्टि से नि:संदेह देश के जनप्रतिनिधि होने के पूर्व उन पर अंकुश लगाये जाने की जरूरत है।

दरअसल, वर्तमान दौर में सभी राजनीतिक दलों में मौजूद अपराधी तत्त्वों

से मतदाताओं को डराने, धमकाने, बूथ लूटने, फर्जी मतदान कराने का काम लिया जाता है। नतीजन आज स्थिति यह है कि अब ये अपराधी अपने दलों पर इतने हावी हो गए हैं कि अपने दल के राजनेताओं को सहयोग कर फायदा पहुँचाने की बजाए स्वयं चुनाव लड़ने लगे हैं जिनके बल पर दलों का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाएगा। स्वाभाविक है कि कोई भी राजनीतिक दल चुनाव सुधार लागू कर अपने अस्तित्व को खतरे में डालना पसंद नहीं करेगा।

राजनीति में बढ़ते अपराधीकरण का प्रभाव अब तो समाज के दूसरे क्षेत्रों पर भी तेजी से पड़ रहा है। कॉलेज, विश्वविद्यालयों की राजनीति में आज सक्रिय रूप से जुड़े छात्रनेता अपराध की दुनिया में जो सक्रिय दिख रहे हैं वह भी राजनीति में बढ़ते अपराधीकरण का ही दुष्परिणाम है। क्या हमारा सिर शर्म से नहीं झुक जाता जब हमें यह समाचार सुनने को मिलता है कि राष्ट्रीय राजधानी के सबसे प्रतिष्ठित क्षेत्रों में रहते हुए एक युवती के अपहरण और उससे सामूहिक दुष्कर्म के मामले में दिल्ली विश्वविद्यालय छात्र संघ के एक पूर्व अध्यक्ष की संलिप्तता पायी गयी, जिसके खिलाफ एक डकैती का भी मामला दर्ज है। इसके पूर्व भी एक युवा काँग्रेस नेता द्वारा नयना साहनी को तंदूर में जलाकर मार डालने की घटना देशवासियों को आज भी याद है। इस प्रकार की वारदातें छात्र व युवा राजनीति ही नहीं, बल्कि पूरे समाज के लिए चिंतनीय है। देश के भविष्य का निर्माता कहे जाने वाले युवा समुदाय को आखिर हम किस दिशा में ले जाना चाहते हैं।

सभी राजनीतिक दलों ने अपने निहित स्वार्थ की सिद्धि के लिए सुप्रीम कोर्ट और चुनाव आयोग की पहल को तो निरस्त कर दिया, लेकिन जब जनता हिसाब माँगेगी तब अपना ब्यौरा देना इनकी मजबूरी होगी। सुधारवादी तत्त्वों की ओर से एक ऐसे अभियान की आवश्यकता है जिससे जनता जागरूक हो और राजनीति के भ्रष्ट तत्त्वों को सदन में जाने से रोका जा सके।

कौटिल्य ने कहा था – 'चरित्रहीन राजा, तटस्थ प्रजा, संशययुक्त निर्णय और भयमुक्त अपराधी, ये चारों किसी भी राज्य को पड़ोसी का आहार बना सकते हैं।' तटस्थ प्रजा वह है जो सकारात्मक विरोध से भी स्वयं को बचाए रखना चाहती है। देश जल रहा है, परंतु गलत को गलत नहीं कहना चाहती। कुछ ऐसी परिस्थिति बने कि नेताओं को कुर्सी के अतिरिक्त राष्ट्र की भी फिक्र हो, कोई तरीका बने, नहीं तो ये भ्रष्ट लोग राष्ट्र को भी बेचने से बाज न आयेंगे।

विचार दृष्टि, वर्ष : 4, अंक-13, अक्टूबर-दिसंबर 2002

◈◈◈

आजादी के बाद वैचारिक क्रांति के नए आयाम और हमारा दायित्व

आजादी के पूर्व प्रत्येक देशवासी के दिलोदिमाग में सिर्फ एक ही धुन सवार थी कि देश को अँग्रेजों के चंगुल से कैसे छुटकारा दिलाया जाए। जिस प्रकार आजादी हासिल करने की अवधि में संचार माध्यमों, लेखकों, चिंतकों, विचारकों व दार्शनिकों ने अपने विचारों को लेखन के माध्यम से जन-जागरण अभियान में योगदान किया उसी प्रकार आजादी के पश्चात् आज वैचारिक क्रांति को नया आयाम देने की सर्वाधिक आवश्यकता महसूस की जा रही है और इसका दायित्व पुन: संचार माध्यमों, लेखकों व विचारकों के कंधों पर टिका है।

विश्व इतिहास गवाह है कि वैचारिक क्रांति अन्याय, शोषण, पूँजीवाद, सामंतवाद के विरूद्ध एक हवाई हमला है और क्रांति के लिए यह आवश्यक है। फ्रांस-क्रांति, रूसी-क्रांति एवं चीन की क्रांति इसके उदाहरण हैं। भारत में जहाँ पूँजीवाद अपने में सभी प्रकार के अत्याचार, अन्याय व शोषण समेटे है, देशी-विदेशी पूँजीपति देश की अधिकांश जनता को चिथड़ों में लाने को प्रतिबद्ध हैं, ऐसे में यदि लेखन के माध्यम से उनकी गतिविधियों में हस्तक्षेप नहीं किया गया और उनकी चाटुकारिता करने वाले झूठ को सच बनाने की कोशिश करते रहे तो सच मानिए स्थिति इतनी भयावह हो जाएगी कि चाहकर भी आप संभाल नहीं पाएँगे। देश में लेखक, पत्रकार, दार्शनिक, विचारक एवं चिंतन ही क्रांति को अवश्यंभावी बना सकते हैं, इस देश की विशालता और परंपराएँ यही दर्शाती है। वे ही जनमत के माध्यम से सच्चे मजदूर, किसान और नौजवान तैयार कर सकते हैं। जनमत बनाने वाले कुछ ही लोग होते हैं। बाकी जनता उनके पीछे चलती है। किंतु तकलीफ का मामला यह है कि बौद्धिक वर्ग आज के हालात पर तटस्थ है और देश की ज्वलंत समस्याओं पर हस्तक्षेप को निरर्थक सा मान लिया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि वे जनमानस से कटकर इतने विकल्पहीन हो चुके हैं कि सब कुछ नियति और यथास्थिति पर छोड़ बैठे हैं।

इस देश में जातिवाद, संप्रदायवाद, क्षेत्रवाद तथा भाषावाद का चेहरा अधिक कुत्सित होता जा रहा है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में देश के हर गली-मोहल्ले, घर-दफ्तर व ग्राम पंचायतों से लेकर संसद तक अधिकतर राजनेताओं एवं भ्रष्ट अधिकारियों-कर्मचारियों में जाति के आधार पर दरारें उभरी हुई हैं, जिसे उनके मुँह से निकले जातिवाद के जहर को स्पष्ट देखा जा सकता है। आजादी के पचपन वर्षों बाद भी अँग्रेजों से विरासत में मिली भेद-भाव की कुसंस्कृति की दासता का चोला उतार फेंकने में हम अपने आपको सक्षम नहीं हो पा रहे हैं।

साहित्य का सत्ता से जुड़ने के कारण जातिवाद, वर्ग-विभेद और सामाजिक आयामों के विरूद्ध खड़े न होकर बुद्धिजीवी वर्ग ने एक ऐसा नैराश्य उत्पन्न किया है जो मानवीय मूल्यों के प्रति आस्था को डिगाने वाला है। संप्रदाय के ठेकेदारों ने संप्रदाय के मूल उद्देश्यों को धत्ता बताकर कुप्रवृत्तियों को जन्म दिया है। ऐसी विषम परिस्थिति में जरूरत है सत् की शक्तियों को संगठित करने की ताकि समाज व देश को एक नई दिशा दी जा सके। यह काम लेखकों, पत्रकारों व दार्शनिकों द्वारा ही किया जा सकता है।

सभी जानते हैं कि आज देश बेहद निकृष्ट आतंकवाद का निशाना बना हुआ है। इसके चलते न केवल हजारों मासूमों व निर्दोषों को जीवन से हाथ धोना पड़ रहा है, बल्कि भारी संपत्ति का नुकसान भी हो रहा है। इसी प्रकार वैश्वीकरण के दौर में नई आर्थिक नीतियों के कारण संपूर्ण देश में स्वाभाविक आर्थिक विकास का मार्ग अवरूद्ध होता जा रहा है। रोजगार सृजन पर ताला लग चुका है। जीविकोपार्जन के रास्ते बंद हो चुके हैं। कृषि और उद्योग क्षेत्रों में हाहाकार मचा हुआ है। वैचारिक क्रांति के इस नए आयाम को रचनाकारों द्वारा अपने लेखन में समेटने की आवश्यकता है।

जब देश में हर आदमी गलत काम कर रहा हो, प्रवृत्ति सुविधाभोगी हो गयी हो, लोकतंत्र की ओट में निरंकुश भीड़तंत्र की हुकूमत हो, ऊँची कुर्सियों पर बैठे लोगों के हाथ में कानून हो, प्रशासनिक अधिकारी अपना कर्त्तव्य भूल गए हों, पूरा प्रशासन सिर से पाँव तक आकंठ भ्रष्टाचार में डूब गया हो तथा जनता किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गयी हो तो खूनी क्रांति नहीं, वैचारिक क्रांति जरूरी हो जाती है। लोगों के सोचने का ढंग, विचार करने का ढंग, अन्याय के खिलाफ लड़ने की लचर प्रणाली को बदलने की क्षमता यदि किसी में है तो वह है प्रबुद्धवर्ग, चाहे वे कॉलेज व विश्वविद्यालय के विचारवान छात्र-समुदाय हों या प्राध्यापक, मीडिया के प्रबुद्ध पत्रकार हों या लेखक, सच की लड़ाई लड़ने वाले वे ही हैं।

आज हमारे समाज व देश में ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो स्थिति को भलीभांति समझते हैं और जिनके सक्रिय हस्तक्षेप से व्यापक फेरबदल की गुँजाइश भी है। जरूरत केवल इस बात की है कि वे नकली बौद्धिक कुहासेवाले खोल से बाहर आएँ। खेद है कि जो 20वीं सदी समाज और देश को बदलने और बेहतर बनाने वाली विचारधाराओं को लेकर प्रकट हुई थी, उसी ने विचारधारा की समाप्ति भी की। विचारधारा की समाप्ति के पश्चात् आज विचारणीय केवल यह रह गया है कि कैसे ज्यादा से ज्यादा लोगों को खुश और कम से कम लोगों को नाराज किया जाए। यानी, वोट पाने का जुगाड़ करना अपनी विचारधारा को व्यावहारिक रूप देने से कहीं ज्यादा जरूरी है। विश्वास मानिए विकासशील भारत

की स्थिति आज यह है कि सत्तारूढ़ हुकमरान उन नीतियों तक को लागू करने में असमर्थ हैं जिनका सिद्धांत के स्तर पर व्यापक अनुमोदन किया जा चुका है। उदाहरण के तौर पर हम बढ़ती जनसंख्या को लें। सभी राजनीतिक दल इस बात पर सहमत हैं कि बढ़ती आबादी हमारी भयंकरतम समस्या है। लेकिन बढ़ती आबादी पर रोक लगाने या कोई भी ठोस कदम उठा सकना भी किसी भी दल के बस की बात नहीं है, क्योंकि सिद्धांत रूप में सभी के सहमत होते हुए भी व्यवहार में सभी विरोधी हो जाते हैं। कोई धर्म के नाम पर, कोई संप्रदाय के नाम पर, कोई मानवीयता के नाम पर, तो कोई व्यक्ति स्वतंत्रता के नाम पर।

कभी भाषा ने ही लोकतंत्र की डगर दिखाई थी। आज हमें भाषा ही भटका और संशय में डाल रही है। उत्तर और दक्षिण के बीच भाषा को लेकर आज भी खाई बनी हुई है, जिसकी भरपाई हर हाल में राष्ट्रीय एकता को बरकरार रखने के लिए हमें करनी है। लोकतंत्र में भले ही लोग लगातार धकियाए जाते रहें, आपसी घृणा और निंदा के बीच परस्पर उलझते रहें लेकिन फिर उनमें एक दूसरे के प्रति कहीं अधिक सहिष्णुता और संवेदना बनी रहती है। विषम परिस्थिति तथा विचार-शून्यता की ऐसी घड़ी में अन्याय, शोषण और भ्रष्टाचार के विरूद्ध वैचारिक क्रांति आवश्यक है, क्योंकि यही लोगों को जाग्रत कर आचार क्रांति ला सकती है। कुछ इसी भाव से प्रेरित होकर 'विचार-दृष्टि' और उसके वैचारिक मंच द्वारा राष्ट्रीय राजधानी नई दिल्ली में विगत 16 एवं 17 नवंबर, 2002 को 'आजादी के बाद वैचारिक क्रांति के नए आयाम और हमारा दायित्व' विषय को केंद्र में रखकर दो दिवसीय राष्ट्रीय अधिवेशन का आयोजन किया गया जिसमें देश-विदेश से आमंत्रित चिंतकों एवं लेखकों द्वारा कई सत्रों में देश के निम्नलिखित ज्वलंत मुद्दों पर सार्थक विचार विमर्श हुए।

1. सामाजिक समरसता और सांप्रदायिक सद्भाव के बिना राष्ट्रीय एकता खतरे में 2. वैश्वीकरण और आतंकवाद आज की चुनौती 3. बढ़ती आबादी पर अँकुश में युवाओं की भूमिका 4. भारतीय भाषाओं की वर्तमान स्थिति और राष्ट्रीय नीति।

इन मुद्दों पर प्रबुद्ध रचनाकारों द्वारा अधिवेशन के पटल पर व्यक्त विचारों और कई चिंतकों व विचारकों से प्राप्त सारगर्भित एवं तथ्य परक आलेखों के सारांश का समावेश इस अंक में किया गया है। अधिवेशन के पटल पर देश के तीन विचारवान हस्ताक्षरों को विचाररत्न, विचारभूषण एवं विचारश्री पुरस्कार से सम्मानित किया गया। अधिवेशन के पटल पर व्यक्त विचारों को एक जनांदोलन में परिवर्तित करने का प्रयास किया जायगा, जिससे कि राष्ट्रीय चेतना का निर्माण हो सके।

'विचार दृष्टि' अब पाँचवें वर्ष में

राष्ट्रीय चेतना की इस वैचारिक त्रैमासिकी 'विचार-दृष्टि' ने अपनी यात्रा के चार वर्ष पूरी कर पाँचवें वर्ष में प्रवेश किया है। इस चार वर्ष के सफर में इसने कई उतार-चढ़ाव देखे, किंतु आप पाठकों-लेखकों के सहयोग से इसने यह सफर सफलापूर्वक तय की। क्योंकि व्यवसायिकता के इस दौर में भी इस पत्रिका ने अपने पाठकों के समक्ष स्तरहीन एवं मसालेदार सामग्रियों को न परोसकर रचनाओं के चयन में भी उसकी गुणवत्ता एवं निष्पक्षता का ख्याल करते हुए संतुलन बनाए रखा। साथ ही शोषण और संघर्ष, दु:ख-दर्द और दमन, बढ़ती आबादी, महिलाओं पर अत्याचार, आतंकवाद, जातिवाद, संप्रदायवाद और जीवन-मूल्य-मर्यादाओं के अवमूल्यन के खिलाफ आम आदमी को वाणी देने की अपनी प्रतिबद्धता पर यह अडिग रही। पिछले दिनों दिल्ली में आयोजित राष्ट्रीय अधिवेशन इसका साक्षी है।

वैचारिक अकाल बेला में 'विचार दृष्टि' जैसी साधनहीन-पत्रिका का अनवरत प्रकाशन इस बात का परिचायक है कि परिवर्तन और वैचारिक एकनिष्ठा के प्रति इसके संचालक आस्थावान हैं। यही नहीं, बल्कि वैयक्तिक्-पारिवारिक जीवन से लेकर आज के सामाजिक-राजनीतिक परिवेश तक में नैतिक अध:पतन तथा राष्ट्रीयता की भावना में हो रहे ह्रास की घड़ी में यह पत्रिका अपनी धारदार रचनाओं द्वारा नैतिक एवं राष्ट्रीय चेतना जाग्रत करने में निरंतर प्रयासरत है। यही कारण है कि लेखकों-पाठकों का विश्वास हम प्राप्त कर सके हैं। विश्वसनीयता ही इसकी पहचान है और यही विश्वास हमारी सफलता की असली पूँजी। अपने उद्देश्यों के प्रति प्रतिबद्धता के इन चार वर्षों में हमें संपादक-मंडल के सदस्यों, लेखकों, विज्ञापनदाताओं, राष्ट्रीय विचार मंच के पदाधिकारियों एवं परिवार के सभी सदस्यों का जो सराहणीय सहयोग मिला हम उन सभी के प्रति आभार व्यक्त करते हुए यह अपेक्षा रखते हैं कि भविष्य में भी उनका यह सहयोग हर परिस्थिति में बरकरार रहेगा। अपने सभी शुभेच्छुओं को कोटिश: धन्यवाद और नववर्ष पर हार्दिक बधाई।

विचार दृष्टि, वर्ष : 5, अंक-14, जनवरी-मार्च 2003

◈◈◈

बुरे लोगों को महिमामंडित करने की प्रवृत्ति पर अंकुश लगे

आम तौर पर आज ऐसा देखा जा रहा है कि समाज के विभिन्न क्षेत्रों में बुरे लोगों को महिमामंडित करने की प्रवृत्ति चल पड़ी है। इस पर निश्चित रूप से अंकुश लगनी चाहिए। बुरे लोगों को राजनीति में प्रोत्साहित नहीं किया जाना चाहिए। अच्छे लोगों की सहायता करने से ही पूरे समाज का हित संभव है। पहले बुरे लोगों का समाज में बहिष्कार किया जाता था, जिसके परिणामस्वरूप बुरे लोग हतोत्साह रहते थे और बुराइयों का प्रसार नहीं कर पाते थे। आज की स्थिति यह है कि अच्छे-बुरे का आकलन किए बिना ही जाति, धर्म, संप्रदाय, भाषा व क्षेत्र के नाम पर राजनीतिज्ञों का समर्थन और सहायता हो जाती है जिसका समाज पर खराब प्रभाव पड़ रहा है। आज खुलेआम बुरे लोगों को महिमामंडित किया जा रहा है। विभिन्न कार्यक्रमों में मंचासीन करके एवं वरीयता देकर सम्मानित करने की प्रवृत्ति नागरिकों में तेजी से बढ़ रही है, जो समाज और राजनीति दोनों के लिए घातक है। समाज व मीडिया का यह परम कर्त्तव्य बनता है कि बुरे लोगों को महिमामंडित करने की प्रवृत्ति पर वे अंकुश लगाएँ। उनकी यह जिम्मेदारी है कि वह समाज को अच्छे व बुरे लोगों की पहचान कराए और नागरिकों का कर्त्तव्य है कि खराब छवि के लोगों को तरजीह न दें। आखिर क्या कारण है कि आज राजनीति में आपराधिक तत्त्वों के शामिल होने एवं धनबल का घुन लगने के कारण अब जनता का भरोसा राजनीतिज्ञों पर से उठता जा रहा है। पहले नेताओं को बहुत सम्मान दिया जाता था, लेकिन अब समाज में उन्हें हिकारत भरी नजर से देखा जाता है। ताकत, धन व जोड़-तोड़ के सहारे राजनीति करने वालों की वजह से सियासत का मिज़ाज बिगड़ रहा है।

भारतीय लोकतंत्र के पहरुए बने इस देश के जनप्रतिनिधि आज मतदाताओं की भलाई के लिए कितना काम कर पा रहे हैं, यह किसी से छिपा नहीं है। बल्कि सच तो यह है कि नौकरशाह के सामने वे इतना बेबस हैं कि नौकरशाह रूपी शेर के गले में घंटी बाँधने का साहस कोई जनप्रतिनिधि नहीं जुटा पा रहा है, भले ही सांसद व विधायक निधि द्वारा प्रस्तावित योजनाओं को स्वीकृति देने में नौकरशाहों द्वारा अड़ंगा लगाकर वापस किया जाता रहे तथा निधि का उपयोग न हो पाए। सच तो यह है कि नौकरशाही को भस्मासुर बनाने का काम भी खुद राजनेताओं ने ही

किया है। अपने वैध-अवैध काम करवाने के लिए उन्होंने नौकरशाही का खुलकर दुरुपयोग किया और बदले में नौकरशाही ने अपने लिए 'स्वेच्छाचारिता' का प्रतिदान ले लिया।

अब यही देखिए न, पिछले दिनों उ.प्र. की मुख्यमंत्री सुश्री मायावती ने शाही अंदाज में सरकारी खर्च पर अपने जन्मदिन मनाकर वैभव व ठाठ-बाट से अपना जन्म दिन मनाने वाली तमिलनाडु की मुख्यमंत्री सुश्री जयललिता को भी काफी पीछे छोड़ दिया। पहली बार ऐसा हुआ कि जनता की गाढ़ी कमाई से उगाहे गए कर के पैसों से किसी दलित, पीड़ित व शोषितों की हितैषी मुख्यमंत्री का जन्मदिन डंके की चोट पर सरकार द्वारा मनाया गया और नौकरशाहों ने खुलकर सरकारी धन का दुरुपयोग किया। यहाँ तक बिना बँटे एक लाख लड्डू पर सरकारी कोष का पैसा लगा। राज्य की आर्थिक हालत खस्ता होने पर भी जन्मदिवस समारोह में सभी विभागों के मंत्रियों तथा नौकरशाहों ने बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया था। सरकारी मशनरी का जमकर दुरुपयोग हुआ। नेता के समक्ष पूरा प्रशासनिक तंत्र ही नहीं, बल्कि सहयोगी दल का नेतृत्व भी नतमस्तक था। सभी नेतागण आत्मप्रशंसा में संलिप्त होने के लिए सामाजिक भेद को त्याग चाटुकारिता से अपनी तुष्टि कर रहे थे। उन्हें इसकी परवाह नहीं थी कि उनकी इस ओछी हरकत से करदाताओं की जेब में छेद हो रहा है।

हम सब इस बात से बखूबी अवगत हो चुके हैं कि इस देश में आज जो सामाजिक एवं राजनीतिक परिदृश्य है उसमें सामाजिक-आर्थिक समानता और न्याय के क्षेत्र में संवैधानिक लक्ष्य की प्राप्ति असंभव नहीं, तो कठिन अवश्य है। कारण कि लोगों की सारी शक्ति सत्ता व संपत्ति को प्राप्त करने में लगी हुई है। सत्ता एवं संपत्ति की यह लालसा जबतक कम नहीं होगी तबतक सामाजिक समरसता कायम नहीं हो सकती और ना ही स्वस्थ समाज का निर्माण हो सकता और बिना स्वस्थ समाज के एक स्वस्थ राष्ट्र की कल्पना नहीं की जा सकती। इसलिए सत्ता एवं संपत्ति के प्रति लोभ की प्रवृत्ति को बदलना होगा। इसके लिए सत्ता व धन के महत्त्व को कम करना होगा, क्योंकि उसी से समाज का वातावरण विषाक्त हो रहा है और अनेक बुराइयों की जड़ में यही प्रवृत्ति काम कर रही है। इसलिए जरूरत आज इस बात की है कि सामाजिक जीवन में धन के महत्त्व को कम किया जाए और सत्ता को अनावश्यक सम्मान नहीं दिया जाए। इसके लिए एक ओर जहाँ संगठित होकर अनावश्यक प्रदर्शन और खर्चीले तमाशों का डटकर विरोध किया जाए, वहीं दूसरी ओर योग्यता तथा गुणों के आधार पर लोगों को सम्मान दिया जाए।

समाज के जागरूक नागरिक अपने इस दायित्व के निर्वहन के लिए जन-जन से जुड़ें ताकि जनतंत्र को वस्तुत: प्रतिष्ठित करने का भाव मुखर हो सके और अधिकारों, आदर्शों, मूल्य मर्यादाओं और नियम प्रक्रिया का मजाक उड़ाने वालों को सबक सिखाया जा सके।

आज समाज के तथाकथित हितचिंतक नेताओं का आकर्षण सत्ता-संपति और भोग-विलास की तरफ हो गया है। व्यक्ति संकुचित, स्वार्थ और स्पर्धा से छिन्न-भिन्न हो गया है। महापुरुषों के विचार और चिंतन हाशिए पर चले गए हैं। किंतु यदि समाज और देश का हित सोचना है और मानव-कल्याण करना है, तो अहिंसा और सत्य के मार्ग को अपनाना होगा। उसी मार्ग पर चलकर हम सामाजिक परिवर्तन की दिशा में अग्रसर हो सकते हैं और देश की समस्याओं का निदान भी निकल सकता है।

बुरे लोगों को महिमामंडित करने की प्रवृत्ति राजनीतिक कार्यकर्ताओं एवं छुटभैए नेताओं से लेकर सांसदों व विधायकों तक में है। सच तो यह है कि इससे रचनाकार, पत्रकार, संस्कृतिकर्मी, अभियंता, चिकित्सक, अधिकारी-कर्मचारी से लेकर ठेकेदार तक अछूता नहीं हैं। और तो और साहित्य के क्षेत्र में भी वैसे लोगों को महिमामंडित किया जा रहा है जिनका उस क्षेत्र में कोई योगदान नहीं। इसके पीछे उनका धनबल काम करता है। यही नहीं, बल्कि कई क्षेत्रों में तो आजकल अक्षम व्यक्ति हीं सक्षम बन बैठे हैं। समाचार-पत्र के पन्ने ऐसी खबरों से रंगे रहते हैं जिसमें बुरे लोगों की आरती उतारी जा रही है, नेताओं के बयान आ रहे हैं। अभी पिछले दिनों उ.प्र. के दुर्दम्य अपराधी विधायक उदय प्रताप सिंह उर्फ राजा भैया की पोटा के तहत जब गिरफ्तारी हुई तो इस देश के प्रमुख राजनीतिक दलों एवं उसके बड़े नेताओं का राजा भैया के प्रति जिस प्रकार खुलकर समर्थन मिला वह राजनीतिक मूल्यों की गिरावट का परिचय देता है। इन नेताओं ने पोटा लगाये जाने का विरोध इसलिए किया कि कल कहीं ऐसी गाज उन पर न आ गिरे। विरोध करना ही है तो सब मिलकर राजनीति में बढ़ते अपराधीकरण का करें। ऐसे दोहरे चरित्रवाले नेताओं के उद्‌बोधन युवाओं को न तो प्रेरित करते हैं और न आंदोलित।

आज ऐसा देखा जा रहा है कि समाज में बिना श्रम, बिना त्याग और बिना पुरुषार्थ के धन कमाने वालों की होड़ लगती जा रही है। राजा भैया ही नहीं, अनेक सांसद व विधायक उसके प्रतीक हैं। देश के हर राज्य में ऐसे अनेक राजा भैया हैं, जिन्हें राजनीति में सफलता सिर्फ इसलिए मिल रही है कि मीडिया उनके चरित्र का खंडन नहीं, बल्कि मंडन कर रहा है। शहादत केवल जान देकर

ही नहीं की जाती, कभी-कभी जीवन में तकलीफें उठाकर भी सुख-संपत्ति पाने के अनैतिक प्रस्तावों को ठुकराने वाले भी अपने जीवन में जिंदा शहीद हो जाते हैं।

इधर एक चीज और देखने में आ रही है कि मीडिया-चाहे वह समाचार पत्र हो या इलेक्ट्रॉनिक-समाज की निर्मित की हिमायत कर रहे हैं। परंतु बददिमाग व अपराधी तत्त्वों का अभिनंदन और महिमामंडन कर आखिर वे कैसा समाज बनाना चाहते हैं? यह कहने की आवश्यकता नहीं कि हमारे जीवन पर मीडिया का गहरा प्रभाव पड़ता है तथा हमारे सामाजिक और राजनीतिक जीवन की दिशा तय करने में उसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। यही नहीं, बल्कि हमारी व्यक्तिगत जीवन शैली के निर्माण में भी वह अपना प्रभाव छोड़ती है। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि आज के भारतीय समाज में अपराध और राजनीति का गहरा गठजोड़ हो चुका है तथा अपराध को धीरे-धीरे सामाजिक स्वीकृति और वैधता मिलती जा रही है। ऐसी परिस्थिति में मीडिया द्वारा अपराधियों के बचाव ही नहीं, बल्कि उसे महिमामंडित किया जाना उचित नहीं। समाज की संरचना में एक कानूनी नैतिकता निहित है जो हर प्रकार की अमानवीयता का विरोध करती है। यही नैतिकता किसी भी सभ्य समाज को उदात्तता और दीर्घजीविता प्रदान करती है। इसलिए मीडिया का भी यह सरोकार होना चाहिए कि वह इस नैतिकता की रक्षा करे न कि हर घटना को अर्थ लाभ के नजरिए से देखा जाए। लेकिन आज मीडिया अथवा समाज के लोग अपराधी की प्रशंसा में लहालोट हो रहे हैं। सलमान खान का ही उदाहरण लें, तो आप पाएँगे कि उन्होंने राजस्थान में हिरणों का शिकार कर कानूनी जुर्म किया, शराब के नशे में बिना लाइसेंस के अपनी कार से निर्दोषजन को कुचल डाला। फिर भी मीडिया ने सलमान को बराबर सुर्खियों में रखा, उनकी जमानत होने पर एक चैनल ने सलमान की रिहाई की प्रक्रिया को एक सनसनीखेज कहानी में तब्दील करने में रही, सलमान के घर उसके प्रशंसकों की भीड़ दिखाई जा रही है और वे अपने घर के छज्जे से दर्शन देते हैं। आखिर यह सब किस सभ्य समाज की संस्कृति है। समाज तथा मीडिया को अपनी भूमिका पर इस दृष्टि से विचार करने की आवश्यकता है। आज जरूरत इस बात की है कि मीडिया आम आदमी के सरोकारों को खुद से जोड़े और उसके दुखः-दर्द में भागीदार बने। पत्र-पत्रिकाओं को संवाद का मंच बनना होगा।

विचार दृष्टि, वर्ष- 5, अंक : 15, अप्रैल-जून 2003

◈◈◈

आजादी के छप्पन वर्ष और हमारा संसदीय लोकतंत्र

आजादी के 56 वर्ष पूरे हुए और भारत के संसदीय लोकतंत्र ने पिछले वर्ष अपनी स्वर्ण जयंती मनाई, किंतु इतने वर्ष के बाद भी यहाँ की जनता उन सभी समस्याओं से मुक्त नहीं हो पाई है जो स्वतंत्रता प्राप्ति के दौरान भी मुँह बाए खड़ी थीं। आज भारतीय लोकतंत्र अनेक ऐसी बुराईयों से ग्रस्त हो गया है, देश की प्रगति में बाधक बन रही हैं। भारत ने ब्रिटेन के ढाँचे और तौर-तरीकेवाले लोकतंत्र की जिस संसदीय प्रणाली को अपनाया वह दिन प्रतिदिन विकृतियों का शिकार होती जा रही है।

लोकतंत्र में राजनीतिक दलों की अहम भूमिका होती है। उसका प्रमुख काम है जनता को राजनीतिक तौर पर शिक्षित करना। लेकिन आज राजनीतिक दलों की प्राथमिकताएँ बदल गयी हैं। प्रख्यात जर्मन राजनीतिशास्त्रवेत्ता डमवर्जर का मानना है कि विधायिका और कार्यपालिका मुखौटा है, असली भूमिका राजनीतिक दलों की है। संविधान का शपथ लेकर सत्ता में राजनीतिक दलों के लोग आज जिस प्रकार धर्मनिरपेक्षता का माखौल उड़ा रहे हैं और खुलेआम राजनेताओं का रूझान राजनीति का उपयोग वैयक्तिक एवं पारिवारिक आकांक्षाओं की पूर्ति करने की तरफ होता जा रहा है इससे राजनीति में खानदानशाही लगातार बढ़ रही है। यह मजा सिर्फ काँग्रेस पार्टी में ही नहीं, बल्कि भाजपा, समता एवं वामपंथी पार्टियों को छोड़ प्राय: अधिकतर पार्टियों में दिखाई दे रहा है। चाहे अजित सिंह का राजनीति में अपने पिता का स्थान लेने का सवाल हो या बीजू पटनायक के बाद उनके सुपुत्र नवीन पटनायक का, एन.टी. रामाराव के बाद उनके दामाद चंद्रबाबू नायडू हों या देवीलाल के पुत्र ओमप्रकाश चौटाला। समाजवादी पार्टी के मुखिया मुलायम सिंह यादव के पुत्र अखिलेश सिंह यादव का सवाल हो अथवा लालू प्रसाद यादव के स्थान पर उनकी पत्नी राबड़ी देवी को मुख्यमंत्री की कुर्सी देने का, सभी उसी मर्ज की दवा हैं। इस प्रकार देखा जाए तो जनतंत्र के तहत राज्यों में राजनीति धीरे-धीरे राजतंत्र के साँचे में ढल रही है और इस राजजंत्र के भीतर दरबारीपन का माहौल है। इससे प्रशासनिक प्रक्रिया भी प्रभावित होती है। जनतंत्र भी अपना चरित्र तभी कायम रख सकता है जब शासन और प्रशासन में सभी स्तर पर निर्वैयक्तिकता और निष्पक्षता बनी रहे, किंतु आज जो स्थितियाँ बन रही हैं उसमें लोकतंत्र के अस्तित्व पर गंभीर

खतरा उपस्थित हो गया है। क्योंकि अब सेवा-भाव और जन-कल्याण के स्थान पर सत्तालोलुपता का बोलबाला है। येन केन-प्रकारेण सत्ता हासिल करना राजनीतिक दलों का अभीष्ट बन चुका है।

लोकतंत्र की पहली आवश्यकता है अनुशासन जिसका सर्वथा अभाव यहाँ सर्वत्र नजर आता है। अनुशासन न तो जनता के स्तर पर दिखता है और न ही राजनीति के धरातल पर। भारतीय लोकतंत्र की एक विडंबना यह भी है कि इस देश में चुनावों में वमुश्किल 50 प्रतिशत जनता की ही भागीदारी हो पाती है। यही नहीं, अनेक बार तो 20-25 प्रतिशत वोट पाने वाले दल भी सत्ता पर काबिज हो जाते हैं। सबसे विचित्र बात तो यह है कि यहाँ चुनाव विकास के मुद्दों पर नहीं, बल्कि जाति, संप्रदाय, भाषा, क्षेत्र आदि के आधार पर ही अधिक लड़े जाते हैं और मतदान भी इन्हीं आधारों पर होता है। निश्चय ही इस स्थिति को लोकतंत्र के लिए शुभ नहीं माना जा सकता है।

देश का लोकतंत्र उसके एक अरब लोगों के दिल-दिमाग में बसता है, उसकी रगों में फड़कता है और उसकी सांसों में प्रवाहित होता है। हमारा मानना है कि आज लोकतंत्र के समक्ष सबसे बड़ी चुनौतियाँ भीतरी हैं। भारत के मौजूदा परिदृश्य और उसके स्तर को देखते हुए लोकतांत्रिक प्रणाली की विश्वसनीयता और प्रमाणिकता गहरे संदेह का शिकार हो रही है। संसद तथा विधानसभाओं में आज जिस प्रकार गुंडें, बदमाश, बाहुबली से लेकर बिचौलियों, दलालों, अपराधियों और धनपशुओं तक का बेधड़क प्रवेश हो रहा है उससे समूची राजनीतिक व्यवस्था थर्रा रही है। प्राय: प्रत्येक राजनीतिक दल में तपे-तपाए और सार्वजनिक जीवन के अनुभवी सामाजिक कार्यकर्ताओं की उपेक्षा हो रही है और उनकी जगह बाहुबली और अपराधी तत्त्व के लोग हावी हैं। ऐसे लोग राजनीतिक शक्ति अर्जित करके वैसे सभी सहयोगी लोकतांत्रिक संस्थाओं को नष्ट-भ्रष्ट करने में जुट गए हैं जिससे हमारा लोकतंत्र परिभाषित होता है। यह भीतरी चुनौती दीमक की तरह पूरी लोकतांत्रिक प्रणाली को अंदर से खोखला बना रही है। स्वाभाविक है भीतर से कमजोर और संदिग्ध लोकतंत्र आतंकवाद तो क्या कोई भी 'वाद' बहुत देर तक मुकाबला नहीं कर सकता।

ऐसी भयावह परिस्थिति में लोकतंत्र को अधिक गतिशील, पारदर्शी और जिम्मेदार बनाने के लिए यदि चुने जन-प्रतिनिधियों को वापस बुलाने का विचार बनता है, तो उसका स्वागत किया जाना चाहिए। क्योंकि जो चुना हुआ प्रतिनिधि मतदाता की आकांक्षाओं पर खरा नहीं उतरता हो या प्राप्त जनादेश का दुरुपयोग

कर रहा हो, तो उससे बीच में ही जनादेश छीनने का अधिकार जनता को देकर लोकतंत्र को ज्यादा जबावदेह और परिपक्व बनाया जा सकता है।

इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि पिछले वर्षों में भारतीय लोकतंत्र का आधार पहले की तुलना में ज्यादा व्यापक हुआ है। दलितों, पिछड़ों, आदिवासियों और औरतों की राजनीति में भागीदारी बढ़ी है जिसका असर काफी हद तक राजनीतिक नेतृत्व के सामाजिक चरित्र पर भी पड़ा है। पूरे देश में जनांदोलनों के स्वरूप में बदलाव आया है। आम जनता के दु:ख-दर्द को इन जन-आंदोलनों ने एक नई और सार्थक दिशा दी है। किंतु दुर्भाग्य यह है कि वोट की राजनीति और पद एवं पैसे की लिप्सा ने देश के धर्मनिरपेक्ष ताने-बाने और गंगा-जमुनी संस्कृति को बहुत नुकसान पहुँचाया है। एक नए किस्म के सांप्रदायिक ध्रुवीकरण का प्रयास किया जा रहा है। हाल के वर्षों में जातियों का ध्रुवीकरण एक नए तरीके से होते देखा जा रहा है। अब पहले की तरह जनता को बहला-फुसलाकर नहीं, बल्कि एक दूसरे के खिलाफ भड़काकर वोट हथियाने की राजनीति चल रही है जिसके परिणामस्वरूप समाज छिन्न-भिन्न होता चला जा रहा है। आज लगभग सारे राजनीतिक दल जाति एवं संप्रदाय को राजनीतिक सफलता के लिए एक साधन के रूप में अपना रहे हैं। चुनाव में टिकट आवंटन के समय, मंत्रिमंडल के गठन के समय जिस प्रकार जातीय एवं धार्मिक आधार अपनाए जाते हैं उससे अंतत: जातीयता एवं सांप्रदायिकता को ही बढ़ावा मिलता है। बजाय देश की समस्याओं को हल करने की राजनेताओं को चिंता है केवल अपनी सत्ता सुरक्षित रखने की। यही कारण है कि आम जनता का लोकतंत्र और लोकतांत्रिक संस्थाओं से विश्वास उठता जा रहा है।

वैश्वीकरण, उदारीकरण और निजीकरण के चलते लगातार बढ़ती बेरोजगारी और घटती नौकरियों के अवसर तथा ठेके पर काम करने की मानसिकता ने लोगों में एक नई तरह की असुरक्षा की भावना उत्पन्न की है। यह सत्य है कि साक्षरता के मामले में हमारा प्रतिशत बढ़ा है पर प्रभावी साक्षरता आज भी कम है। एक ओर चीन और कोरिया जैसे देशों ने 1965 में ही पूर्ण साक्षरता हासिल कर लिया था, वहीं हम आज भी इस समस्या से जूझ रहे हैं। जहाँ तक महिलाओं के उत्थान का सवाल है पिछले दस वर्षों में उनकी स्थिति में बहुत फर्क आया है। महिलाएँ, आज अपने अधिकारों के प्रति ज्यादा जागरूक और सतर्क हैं। वे काफी हद तक आजाद हैं और अपने कैरियर के प्रति सजग भी।

हालांकि नई उपभोक्तावादी संस्कृति ने इनका बाजारीकरण भी किया है। नए पूँजीवाद ने स्त्री-स्त्री की गोपनीयता को उघाड़कर बेपर्दा कर दिया है।

पिछले वर्ष भारत के संसदीय लोकतंत्र की स्वर्ण जयंती के एक वर्ष बाद जब हम देश की आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक स्थिति का जायजा लेते हैं तो बहुत आशाजनक तस्वीर नहीं दिखती। यह बात ठीक है कि हमारे अन्न के भंडार भरे हुए हैं और विदेशी मुद्रा का भंडार भी 70 अरब डालर से ऊपर पहुँच गया है। लेकिन इसके बावजूद देश की एक तिहाई आबादी को भरपेट भोजन नहीं मिलता है। उधर देश पर भी 100 अरब डालर से ज्यादा विदेशी कर्ज है। इसके अतिरिक्त हमारी तमाम योजनाएँ विश्व बैंक और अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष की सहायता से चल रही हैं। इस कर्ज की वापसी जनता की जेब से की जानी है जबकि आम जनता पर करों का बोझ पहले से ही ज्यादा है।

इस देश के करोड़ों लोग देश की लोकतांत्रिक प्रक्रिया में लगातार पीछे छुटते जा रहे हैं। कारण कि चुनाव इतने मंहगे हो गए हैं कि आम जनता चाहकर भी उसमें भाग नहीं ले सकती। बिखराव और बर्बादी की अंतहीन श्रृंखला में मजदूर, किसान, गरीब और पढ़े-लिखे बेरोजगार लोग पीसे जा रहे हैं। हर रोज दलित जलाए जा रहे हैं। दूरदर्शन पर जो चकमकाहट दिखती है, वह इस देश की सच्ची कहानी नहीं हैं बल्कि सच तो यह है कि इस पूरे दृश्य में आम जन कहीं नहीं है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि 1950 में भारतीय गणतंत्र के जो वादे थे, उनसे हम भटक गए हैं। मसलन समाज परिवर्तन का हमने जो संकल्प लिया था और संविधान के नीति निर्देशक सिद्धांतों के तहत जन कल्याण की बातें की थीं उससे हम पीछे हटते चले गए। और तो और आम जनता की शिक्षा, स्वास्थ्य, रोटी, कपड़ा और मकान जैसी बुनियादी जरूरतों को भी सरकार पूरा नहीं कर पा रही है। दूसरी ओर देश के एक प्रतिशत धनाढ्य परिवार जनता के पच्चीस प्रतिशत से ज्यादा संपत्ति के मालिक हैं। सात करोड़ लोग बेरोजगार हैं, तीस करोड़ गरीबी रेखा के नीचे हैं और चालीस करोड़ में दस हजार से अधिक किसानों ने आत्महत्या की। लोकतंत्र संपत्ति और सत्ता के कुछ हाथों में सिमट जाने से अपनी असलियत खो बैठा है।

जहाँ तक भ्रष्टाचार का सवाल है भारत का स्थान छियानवें देशों में इकहत्तरवाँ है। भूमण्डलीकरण और निजीकरण के जरिए सत्ताधारियों ने लोकतंत्र को दुर्बल ही बनाया है। जब उच्च-मध्य वर्ग उपभोगवाद में तल्लीन हो जाए, जन संचार माध्यम गाँव-गाँव में विलासी जीवन की चकाचौंध

दिखाकर शोषित-पीड़ितों के दिलों में भारी असंतोष की चिनगारियों को सुलगाते रहें, नेता स्वार्थ व सत्ता-सुख और बुद्धिजीवी परजीवी जीवन के चलते पूर्णत: आत्मकेंद्रीत हो जाएँ तो नफरत के सौदागरों और दुनिया भर के मुनाफाखोरों की साजिशों का मुकाबला करेगा ही कौन? लोकतंत्र और इसकी दीर्घकालिक सफलता के लिए जानकार और सचेत नागरिकों का होना बुनियादी जरूरत है। पूर्वी यूरोप, आयरलैंड, पूर्वी तिमोर और दक्षिण अफ्रीका में मौलिक राजनीतिक बदलाव सिर्फ इसीलिए संभव हुआ कि वहाँ की सरकार लाख कोशिश करके भी समाजों को मिलने वाली आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक सूचनाओं के पैदा होने और लोगों तक पहुँचने पर रोक नहीं लगा सकी।

दूसरी बात यह है कि लोकतंत्र की शक्ति असहमति में है, जो आज हिंसक प्रवृत्ति की ओर बढ़ रही है यह चिंता का विषय है। सहमतियाँ-असहमतियाँ तो अपनी जगह हैं और सहमत-असहमत लोग तो इस देश में रहेंगे ही, किंतु असहमति जताने वालों पर जो आतंकवादी हिंसक संस्कृति पैदा की जा रही है उसका मुकाबला कैसे किया जाएगा? यह प्रश्न अहम और चिंतनीय है। जिस देश की व्यवस्था कमजोर होती है वह देश अपराधियों का गढ़ बन कर विनाश की ओर अग्रसर होने लगता है। आज लगभग ऐसी ही स्थिति हमारे देश की है, क्योंकि यहाँ के लोकतांत्रिक शासन में दंड मिलने का भय खत्म हो रहा है। आखिर तभी तो बेईमानी, भ्रष्टाचार, अपराध व आतंकवाद का भय समाप्त-सा होता जा रहा है। आज अपराधी, भ्रष्टजन आर्थिक, राजनीतिक या मानसिक दबावों के कारण आसानी से कानून की आँखों में धूल झोंककर बच जाते हैं और दूसरी ओर साधारण मुलजिम बिना दोष सिद्ध हुए कई-कई सालों तक जेलों की सलाखों के पीछे बदतर जीवन जीने को अभिशप्त हो जाते हैं। हमारा कानून इतना कमजोर, लचर व गूंगा हो गया है कि अपराधी खुलेआम घूम रहे हैं। अत: अपराधों में कमी लाने के लिए व राष्ट्र-विकास के लिए लोकतांत्रिक प्रणाली में बदलाव व कानूनी दंड व्यवस्था में सुधार व सख्ती आवश्यक है। यदि आवश्यक हुआ तो भारत को नई क्रांति से गुजरने के लिए संविधान में भी उसकी आत्मा और दर्शन के अनुरूप परिवर्तन करना होगा। हमें राष्ट में एक ही गीत गाना होगा, एक ही स्वर में गुनगुनाना होगा।

अनंत यात्रा पर प्रस्थित गीतकार गोपीवल्लभ को प्रणाम

31 मई, 2003 की मनहूस सुबह एक अत्यंत दु:खद खबर लेकर आई। जे. पी. आंदोलन के चर्चित कवि तथा 'विचार दृष्टि' के एक लंबे अरसे तक परामर्शी रहे गोपीवल्लभ सहाय का जमशेदपुर में देहावसान हो गया। कई वर्षों से पार्किंशन की बीमारी से वे पीड़ित थे। उनके असामयिक देहावसान से इस पत्रिका ने एक सच्चा मार्गदर्शक खो दिया। इसके नियमित एवं स्तरीय प्रकाशन में उनका उल्लेखनीय योगदान रहा, विशेषकर इसकी कविताओं की भाषा को संवारने में वे काफी अभिरुचि लेते थे। शब्द-विवेक सिद्ध साहित्यकार की पहली पहचान है। किस शब्द का कहाँ प्रयोग हो, जो सटीक, सक्षम और प्रभावोत्पादक हो, संदर्भ को ज्योतिर्मय बनाने में समर्थ हो, इसके लिए प्रत्येक सिद्ध सर्जक जागरूक एवं प्रयत्नशील रहता है। गोपीवल्लभ जी एक ऐसे ही असाधारण सर्जक थे, जो शब्द-विवेक के द्वारा साधारण शब्दों में नयी प्राण प्रतिष्ठा कर देते थे। इस पत्रिका के प्रति उनकी प्रतिबद्धता तथा इसके उन्नयन के लिए निर्बाध रूप से काम करना पत्रिका परिवार के सभी सदस्यों के लिए प्रेरणादायक रहा। उनकी कमी हमेशा हम सभी को सालती रहेगी। विचार दृष्टि ने गोपीवल्लभ जी को खोकर बहुत कुछ गंवाया है।

हिंदी के मंचों पर गोपीवल्लभ की उपस्थिति कवि सम्मेलन के लिए कामयाबी मानी जाती थी। उन्होंने विगत चार दशक से लगातार भारत के विभिन्न मंचों से न केवल अपने गीतों का सस्वर पाठ कर आम जनमानस को झकझोरा, बल्कि आखिरी दम तक हिंदी साहित्य की सेवा की। गोपीवल्लभ जी स्वयं अपने आप में एक महफिल थे। मित्रों से, सहकर्मियों से, अपने से छोटे व बड़ों तक किससे कैसी बात करनी चाहिए, इस फन से वे भलीभांति अवगत थे। गोपीवल्लभ जी उन गीतकारों में थे, जो अपने सशक्त गीत के साथ ही अपने मानवीय सद्‌गुणों की छाप भी मुझ जैसे कितने ही लोगों के मन पर गहराई तक छोड़ गए। उनके जैसे सरल, सात्विक, आत्मीय और निश्छल व्यक्ति आज की स्वार्थ से भरी और प्रपंचलित भीड़ में इने -गिने ही मिलेंगे। मुझे अच्छी तरह याद है कि वह दिन जब उन्होंने अपनी अस्वस्थता के बावजूद पटना के मेरे 'बसेरा' आवास में आने की जिद्द कर दी थी और हमनें सादर घर ले जाकर उन्हें वापस उनके निवास पहुँचाया था। यह उनकी आत्मीयता का एक ज्वलंत उदाहरण है।

22 मई को जब वे अपनी बेटी के घर जमशेदपुर गये थे मात्र उसके दो दिनों पूर्व ही पटना के गर्दनीबाग आवास में मैं उनसे मिला था। उनके मुँह से निकले शब्द और भाव मुश्किल से पकड़ में आते थे। मुझे उसी दिन ऐसा लगा कि यह शख्स शीघ्र ही अपनी अनंत यात्रा पर निकल पड़ेगा। मुझे 'नूर' की वह पंक्ति याद आई –

जिंदगी मौत तेरी मंजिल है, दूसरा कोई रास्ता ही नहीं।

चाहे सोने के फ्रेम में जड़ दो, आईना झूठ बोलता ही नहीं।

आखिर सुख-दुःख का एक लंबा सफर गीतकार गोपीवल्लभ ने तय कर ही लिया। अनंत यात्रा पर प्रस्थित गीतकार कवि गोपीवल्लभ को प्रणाम और विचार दृष्टि परिवार की ओर से हार्दिक श्रद्धांजलि।

विचार दृष्टि, वर्ष : 5, अंक : 16, जुलाई-सितंबर 2003

◈◈◈

गाँधी और पटेल आज पहले से ज्यादा प्रासांगिक

बापू की जयंती दो अक्टूबर और सरदार पटेल की इक्तीस अक्टूबर को। इन दो महापुरुषों की जयंती पर यह विचार करने के लिए हम विवश हुए कि क्या गाँधी और पटेल आज प्रासंगिक हैं, खासकर तब जब आज के अंतरराष्ट्रीय मंच पर पूँजीवादी अर्थव्यवस्था से हताशा उत्पन्न हो रही है और साम्यवादी अर्थव्यवस्था असफल हो रही है, भारत ही नहीं, विश्व के अन्य भागों में भी संपूर्ण समाज हिंसामय हो रहा है और सांप्रदायिक उन्मेष बढ़ता जा रहा है, शाश्वत-जीवन मूल्यों के ह्रास के साथ-साथ प्राकृतिक संसाधनों का क्रूर विदोहन हो रहा है, गाँधी और सरदार पटेल के विचारों एवं आदर्शों पर एक दृष्टि डालना जरूरी हो जाता है। क्योंकि जहाँ एक ओर सारी दुनिया को विनाश के कगार पर ला खड़ा कर दिया गया है, वहीं दूसरी ओर पर्यावरण असंतुलन और अंतरराष्ट्रीय आतंक ने दुनिया को हिलाकर रख दिया है। आज स्थिति यह हो गयी है कि शक्तिशाली राष्ट्र भी शांति चाहने लगे हैं और अविकसित एवं विकासशील देश अहिंसा का मार्ग अपनाकर आगे बढ़ना चाहते हैं। इस दृष्टिकोण से गाँधी और पटेल आज ज्यादा व्यावहारिक और उपयोगी दिख रहे हैं।

आज जिस प्रकार त्याग की जगह भोग हमारा लक्ष्य होता जा रहा है, शारीरिक श्रम को हम तिलांजलि देते जा रहे हैं, राजनीतिक उठा-पटक हमारी दैनिक दिनचर्या का अंग बनती जा रही है, ऐसे समय में गाँधी और पटेल के आदर्श और विचार ही हमारा मार्गदर्शन कर सकते हैं। उनके सत्य और अहिंसा के मार्ग पर चलकर ही हम आगे बढ़ सकते हैं। आखिर महान वैज्ञानिक आइन्सटाईन ने बापू के संबंध में इसीलिए तो कहा था कि भावी नस्लें मुश्किल से विश्वास करेंगी कि गाँधी सरीखा हाड़-माँस का बना व्यक्ति भी इस संसार में कभी पैदा हुआ था। सच तो यह है कि गाँधीजी न केवल स्वयं अपने पैरों पर चलकर करोड़ों हिंदुस्तानियों की नब्ज पहचानने में सफल हुए, बल्कि भारत के जनमानस को अंतर्मन से समझकर ही उन्होंने धोती और लंगोटी को अपनाया था। आज हमारे देश की स्थिति यह है कि भारतीय बाजार विदेशी सामानों से पटा पड़ा है और प्रतिदिन देश की दौलत विदेशी कंपनियों की झोली में जा रही है। जिस देश में गाँधी ने स्वाधीनता, स्वदेशी और स्वावलंबन की अलख जगाने के लिए विदेशी समानों की होली जलाने का आंदोलन किया था उस देश में न केवल गाँधी को भुलाया जा रहा है, बल्कि उनके स्वदेशी के विचार को भी दफनाया जा रहा है।

सच कहा जाए तो बापू शांति, अहिंसा और सत्याग्रह के पर्यायवाची हो गए हैं। आज देश के समक्ष खड़ी चुनौतियों का सामना गाँधी के बताए मार्ग पर चलकर ही किया जा सकता है, क्योंकि गाँधी जी चाहते थे कि सभी व्यवस्थाओं में मानव केंद्र बिंदु हो, किंतु आज वर्ग, समाज, समूह, संगठन, राजनीतिक पार्टियाँ ही प्रमुख हो गयी हैं और मानव गौण हो गया है। जातियाँ प्रधान हो गयी हैं और उसके सदस्य लोप हो गये। बापू आदर्श समाज चाहते थे जिसमें कर्म की शुद्धता हो। इसी कारण से उन्होंने पंचायती राज की वकालत की थी। उनका मत था कि देश की आर्थिक योजनाएँ ग्राम को केंद्र मानकर बनाई जाएँ। सत्याग्रह गाँधी जी का हथियार था। सत्याग्रह का अर्थ है कि सत्य के लिए अड़ा जाए। आज स्थिति यह है कि सच को सच कहने से लोग कतरा रहे हैं। झूठ का बोलबाला है।

गाँधी के गुण, शक्ति और उनकी कार्य प्रणाली के आधार पर हमें अपनी समस्याओं के हल निकालने में सहुलियतें मिल सकती हैं। जिन चुनौतियों का सामना आज देश को करना पड़ रहा है, उन्हें गाँधी द्वारा प्रस्तावित कार्य प्रणाली के परिप्रेक्ष्य में जाँचा-परखा जा सकता है। बिडंबना यही है कि हमलोगों ने गाँधो के जोवन, अनवरत प्रयोग और चौकसी में भूमण्डलीकरण को परिभाषित किया, जो मानव मूल्यों और समानता पर आधारित था। वे प्रौद्यागिकी प्रगति को कुछ हाथों में सीमित करने के खिलाफ थे। मानव के सम्मान की कीमत पर वे मशीनीकरण के विरूद्ध थे। आज के दौर की अर्थव्यवस्था और वैश्वीकरण बापू द्वारा प्रतिपादित विचारों से मेल नहीं खाती हैं। आज यह देखा जाना चाहिए कि बाजार मनुष्य के लिए है या मनुष्य बाजार के लिए। गाँधी जी किसानों के हिमायती थे। वे मानव-समूह के लिए उत्पादन चाहते थे न कि अत्यधिक उत्पादन। आज यह देखा जा रहा है कि संप्रभुता एवं आम आदमी की आवश्यकताएँ कैसी पृष्ठभूमि में जा रही है। पूरा देश एक बर्बर गैर-बराबरी के बियाबान में तब्दील होता जा रहा है और आए दिन शहरी एवं ग्रामीण क्षेत्रों में आर्थिक बदहाली से तंग आकर लोगों द्वारा आत्महत्या की खबरें आ रही हैं।

इस देश में गाँधी जी को ठीक से समझा नहीं गया। गाँधी की शक्ति, उनकी मौलिकता और उनके रचनात्मक कार्यों में थी। चरखा और खादी जैसे उनके प्रतीकों में एक गहरी रचनात्मकता है। यह सच है कि गाँधी अपनी सीमाओं के शिकार हुए, मगर उनकी निष्ठा पर आज भी किसी को संदेह नहीं हो सकता। उनके अनुभव के सत्य और हृदय परिवर्तन के प्रश्न कभी अप्रासंगिक नहीं हो सकते। देश आज तक एक ऐसे मोड़ पर चला जा रहा है जहाँ तरह-तरह की कठमुल्ला शक्तियाँ उभार पर हैं और लौटना मुश्किल हो

रहा है। मगर जिनके लिए धर्म एक आडंबर है, जातिवाद सामाजिक वैमनस्य का हथियार है, उनके खिलाफ गाँधी आज भी खड़े दिखाई दे रहे हैं। उन्होंने समतामूलन समाज की कल्पना की, साम्राज्यवाद से पिसते हुए समाज में आखिरी आदमी के प्रति अपनी चिंता रेखांकित की। गाँधी जी भारत को समझते थे इसलिए उन्होंने लोकभाषा को महत्त्व दिया और वह बिल्कुल आम लोगों की तरह बातें करते थे। इस प्रकार इस महामानव ने जिस स्पष्टता और गहनता से अपने युग की समस्याओं को समझा और उसका समाधान प्रस्तुत किया वह वस्तुत: अतुलनीय और अद्वितीय है। दुर्भाग्य यह कि हम उन्हें भुलते चले जा रहे हैं। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी के बारे में भारतीयों की रुचि अब केवल परीक्षाओं में पूछे जाने वाले प्रश्नों तक सीमित रह गयी है। बापू के बारे में जानने-समझने और उनकी सोच का लाभ उठाने के मामले में अमरीकी और यूरोपीय देश हमसे काफी आगे निकल गए हैं। यह बात गाँधी पर जारी एक बेबसाइट www gandhi.org से स्पष्ट होती है। क्या हमारे लिए यह लज्जा की बात नहीं है? क्या राष्ट्रपिता की गरिमा और उनके कद को बढ़ाने की बात तो दूर, उसे बरकरार भी हम नहीं रख सकते?

गाँधी ने हमें निर्भीक होने की शिक्षा दी है, हमें अभय होने का वह व्यावहारिक संदेश दिया है, जो बड़े से बड़े संकट पर विजय पा लेने की शक्ति देता है। बापू नहीं चाहते थे कि मनुष्य आधुनिक बनने की चाह में विज्ञान के पीछे-पीछे अपनी आँखें मूंदें भागता चला जाए। वस्तुत: वे चाहते थे कि किसी भी स्थिति में विज्ञान मनुष्य से उसकी मनुष्यता नहीं ले सके और इसी परिप्रेक्ष्य में उन्होंने कहा था कि भारत को पश्चिमी देशों से बहुत कुछ सीखना है, किंतु भारत से भी पश्चिमी देशों को बहुत कुछ सीखना है। वे मानते थे कि विज्ञान का एकांगी रास्ता मनुष्य को वह सब कुछ नहीं दे सकता जो मनुष्य के लिए अनिवार्य है। इसलिए बापू ने सत्य को अपनाने की बात कही थी, क्योंकि सत्य में हमारी आस्था हमें चरित्र की शक्ति देता है। आज देश में रोटी से बड़ा संकट, शायद चरित्र का ही है। राजनीति हो या समाज चरित्र उससे गायब दिखता है। गाँधो ने हमें व्यापक रूप में सारी दुनिया को मानवता के लिए ऐसी राह दिखलाई है जो देश, समाज, राजनीति और दुनिया के लिए शांति और खुशहाली का रास्ता है। गाँधी संघर्ष, जुझारूपन और विप्लव के परिचायक तो हैं ही, वे ऊँची मनुष्यता, शालीनता और राजनीति में उस नैतिकता के भी प्रतिमान है जिसकी आज राजनीति एवं सामाजिक जीवन में काफी जरूरत है। गाँधी का सारा प्रयास राजनीति को संवेदनशील, मानवीय और सबके हित में अर्थपूर्ण बनाने का था जिसका आज की राजनीति में सर्वथा

अभाव है। इस दृष्टि से यदि देखा जाए, तो गाँधी की प्रासंगिकता आज पहले से अधिक है।

ठीक उसी प्रकार लौह पुरुष सरदार वल्लभभाई पटेल भी आज अधिक प्रासंगिक हो गए हैं, क्योंकि आज प्रशासनिक स्तर पर जिस प्रकार अव्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाया जा रहा है तथा प्रशासक के उत्तरदायित्व के निर्वहन में मंत्रियों एवं राजनीतिक नेताओं की दखलंदाजी हो रही है उसमें सरदार पटेल याद आते हैं। पटेल स्मारक व्याख्यान माला के तहत 1987 में भारत के प्रधान न्यायाधीश वाई.वी. चंद्रचुड़ ने अपने आलेख 'दी बेसिक्स ऑफ इंडियन कंस्टीच्यूशन : इट्स सर्च फॉर सोशल जस्टिस एण्ड दी रोल ऑफ जजेज' में पटेल का उल्लेख करते हुए उनके विचार उन्हीं के शब्दों में जो व्यक्त किए वे ध्यातव्य हैं - "आज मेरे सचिव मेरे विचारों के विरूद्ध अपनी टिप्पणी लिख सकते हैं। मैंने यह आजादी अपने सभी सचिवों को दी है। मैंने उनसे कहा है कि यदि आपने ईमानदारीपूर्वक अपना विचार इस डर से प्रकट नहीं किया कि आपके मंत्री आप से नाराज हो जाएँगे, तो इससे बेहतर है कि आप चले जाएँ। मैं दूसरा सचिव लाऊँगा ....। आप उत्तरदायित्व की भागीदारी निभाने को सहमत हुए हैं।" इन पंक्तियों से सरदार पटेल के प्रशासनिक एवं लोकतांत्रिक दृष्टिकोण का सहज अंदाजा लगाया जा सकता है। यदि आज के राजनीतिज्ञ सरदार पटेल की इस टिप्पणी पर गौर करते हुए उस पर अमल करें तो मौजूदा हालात में परिवर्तन की गुंजाइश है, लेकिन चिंता का विषय यह है कि प्रशासनिक अधिकारियों में आज अपने उत्तरदायित्व का अभाव ही नहीं, बल्कि पूरी तरह उनका राजनीतिज्ञों के साथ साठगांठ है जिसका दुष्परिणाम सामने है।

असहमति लोकतंत्र की प्रमुख विशेषता है। सरदार पटेल को अपनी संघर्ष यात्रा में न जाने कितनी बार गाँधी जी तथा अपने अन्य सहयोगियों के साथ असहमति का दंश झेलना पड़ा, फिर भी वे उसका सामना करते हुए अपने रचनात्मक कार्य में तल्लीन रहे तथा आंदोलन, संघर्ष और सत्याग्रह में सबके साथ रहकर अपनी क्षमता का परिचय दिया। वर्तमान दौर में न केवल सत्ता पक्ष एवं विपक्ष के स्तर पर, बल्कि अलग-अलग भी अपने सहयोगियों के साथ नेताओं की असहमति होती है, तो वह हिंसा का रूप ले लेती है। इस दृष्टिकोण से सरदार पटेल के व्यक्तित्व से सीख लेकर आज की कठिन परिस्थितियों का सामना किया जा सकता है। इसलिए सरदार पटेल भी आज उतने ही प्रासंगिक हैं जितने तब थे। भारतीय राजनीति में सरदार पटेल का नाम आज सर्वोपरि है। पिछले दिनों स्वतंत्रता की 57 वीं सालगिरह पर देश के सर्वाधिक लोकप्रिय नेता के लिए हुए एक सर्वेक्षण में यहाँ तक कि महात्मा गाँधी को भी अपनी सीट

सरदार वल्लभभाई पटेल के लिए छोड़नी पड़ी है। एक तरह से इसे आजादी के 56 वर्ष बाद देश की सोच में आए एक बड़े परिवर्तन का सूचक माना जा सकता है।

मुसलमानों को लेकर आए सरदार वल्लभभाई पटेल के विषय में कई सारी गलतफहमियाँ भी व्याप्त हैं खासकर उनकी मृत्यु के बाद यह कहा गया कि उनकी सोच में मुस्लिम-विरोध का पुट मौजूद था। इस संदर्भ में देश के जाने-माने बौद्धिक-चिंतक डॉ. रफीक जकारिया ने अपनी पुस्तक 'सरदार पटेल तथा भारतीय मुसलमान' में बिना किसी आग्रह-पूर्वाग्रह के इस आरोप को खारिज करते हुए कहा है कि देश-विभाजन के दौरान हिंदू शरणार्थियों की करुण अवस्था देखकर पटेल में कुछ हिंदू-समर्थक रूझानात भले ही आ गए हों, पर ऐसा एक भी प्रमाण नहीं मिलता, जिसमें यह पता चले कि उनके भीतर भारतीय मुसलमानों के विरोध में खड़े होने की कोई प्रवृत्ति थी। सच तो यह है कि महात्मा गाँधी के प्रारंभिक सहकर्मी के रूप में सरदार पटेल ने हिंदू-मुस्लिम एकता के जैसे शानदार उदाहरण गुजरात में प्रस्तुत किए थे उन्हें अंत तक बनाए रखने की प्रबल भावना उनमें बार-बार जाहिर होती रही। भारत की एकता और एकात्मकता तथा हिंदू-मुसलमान भाई-चारे के प्रति सरदार पटेल की कट्टर निष्ठा अपने आप में एक उदाहरण है। उनकी देशभक्ति संदेह से परे थी और उनका राष्ट्रवाद भी असंदिग्ध था। गाँधीजी ने उनके बारे में कहा था - 'सरदार पटेल को मुस्लिम-विरोधी कहना सच्चाई का उपहास उड़ाना होगा।' स्वतंत्रता संघर्ष के दौरान सरदार सदैव इस बात पर बल देते रहे कि ''हिंदू-मुस्लिम एकता एक कोमल पौधे जैसी है। इसे हमें लंबे अरसे तक बड़े ध्यान से पालना होगा, क्योंकि हमारे दिल अभी उतने साफ नहीं हैं, जितने होने चाहिए। ''उन्होंने हिंदुओं को याद दिलाया कि उनका कर्त्तव्य है कि वे मुसलमान समुदाय की अच्छाइयों में पूर्ण विश्वास व्यक्त करके मुसलमानों को इस्लाम की रक्षा के लिए हर संभव सहायता प्रदान करें।'' सरदार पटेल जीवन भर एक संयुक्त भारत की संभावनाओं को साकार करने में लगे रहे। वे इस तथ्य को कभी नहीं भुला पाए कि विभाजन मूलत: गलत था। उन्हें लगता था कि यह विभाजन इस वास्तविकता को नष्ट कर देगा कि हम एक और अविभाज्य हैं : ''आप समुद्र या नदियों के पानी विभाजित नहीं कर सकते। जहाँ तक मुसलमानों का प्रश्न है, उनकी जड़ें, उनके पवित्र स्थान और उनके केंद्र यहीं हैं। मैं नहीं जानता कि पाकिस्तान में वे करेंगे क्या?''

विचार दृष्टि, वर्ष- 5, अंक : 17, अक्टूबर-दिसंबर 2003

◈◈◈

सवाल आज बचपन बचाने का

इक्कीसवीं सदी के प्रथम दशक में इस राष्ट्र ने अपने कदम तो रख दिए हैं, किंतु आजादी की अर्द्धशती से अधिक की अवधि की आरेखित कमियों, खामियों, भ्रमों तथा उलझनों एवं समस्याओं का निदान-समाधान दिए बिना भारत की स्पष्ट तस्वीर नहीं दीख रही है। जब बचपन भूखा, निराश, अस्वस्थ हो, कुपोषण का शिकार हो, यौवन अँधकारमय हो, तो उसके उज्ज्वल भविष्य की कामना हास्यास्पद नहीं तो और क्या है? जन्म लेते ही बच्चे के सिर पर कर्ज का बोझ और शुल्क का साया। स्वाधीन भारत के लाखों भूखे भतीजों के चेहरे चाचा नेहरू के मुस्कुराते चेहरे और उनके अचकन के सामने टँगे गुलाब की तलाश कर रहे हैं, जिन्हें दो जून की रोटी भी नसीब नहीं हो पाती। इलाहाबाद का आनंद भवन अपने गौरवमय अतीत की कहानी कहता आज भी शान से सिर ऊँचा किए खड़ा है, पर दु:खद यह कि बच्चों के चाचा के घर का दर्शन करने के लिए टिकट लगने लगा है। तभी तो डॉ. जमीर अहसन कहते हैं-

"लगने लगा है जब से टिकट आनंद भवन में जाने का
सब बच्चों ने नेहरू जी को चाचा कहना छोड़ दिया।"

जिस तरह के बच्चों के गाल थपथपाकर नेहरूजी चाचा नेहरू कहलाए वही बच्चे आनंद भवन के भव्य प्रासाद की ओर टुकुर-टुकुर निहार रहे हैं। बाल-दिवस भी मनाते-मनाते बच्चे भी अब जवानी देखे बिना बूढ़े हो चले हैं और आज भी वे टूटे सपनों की सौगातें संजोते हैं। हम बालश्रम पर लेख लिखकर भले अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं मगर स्कूल जाने की उम्र में ही बच्चे रिक्शा खींचते दिखाई देते हैं, होटलों में प्लेटें धोते-धोते उनके हाथ-पांव भी पानी से उजले नजर आते हैं, स्टेशनों पर बाबुओं के बूट चमकाते देखे जाते हैं और सपनों की दिनभर में जमा हुई थोड़ी-सी रेजगारी गिनते-गिनते शाम को शराबी बाप के सामने जाकर बिखर जाते हैं।

एक बार चाचा नेहरू ने जापानी बच्चों को हाथी भेंट किया था। पूर्वी पाकिस्तान से आया एक शरणार्थी बच्चा तड़प उठा था और उसने भूख से बिलबिलाकर नेहरू जी को एक पत्र लिखा था, जिसे शब्दों में बाँधा था कवि उमाकांत मालवीय ने-

"चाचा जापानी बच्चों को भेजो हाथी
पर मुझे दूध की जगह धान का धोवन ही बस
एक निवाला चावल भेजो खैराती।"

इस राष्ट्र के हजारों-हजार बच्चे आज भी चाउमिन खाने वाले बच्चों को ललचाई आँखों से निहारते एक निवाला चावल के लिए तरस रहे हैं, धूल फाँक रहे हैं। चाउमिन खानेवाले या 'वीडियोगेम' खेलने वाले बच्चे क्या कभी समझ पाएँगे उन बच्चों के दर्द को, जो गहराती हुई भूख से लुकाछिपी खेलते हैं, कुलबुलाती हुई आंतों की ऐंठन से इनका परिचय होता है। इन बच्चों के बारे में भी हमें आज सोचना आवश्यक है क्योंकि इन बच्चों से ही राष्ट्र की एक पूरी शक्ल बनती है और इन बच्चों के सपनों को ही मूर्त रूप देकर 'इंडिया वीजन 2020' का स्वप्न पूरा किया जा सकता है। बच्चों की इस शक्ल का साफ-सुथरा होना, हमारे देश के आइने को धुंधला होने से बचाएगा और इसी से सिद्ध होगी कोई बाल-दिवस की सार्थकता भी।

बड़ों में चाहे जितने भेदभाव हों, पर बच्चों में कोई भेदभाव नहीं होता। काश! बड़े बच्चों से कुछ सीखते तो संभवत: संसार अधिक सुखी होता। तब न आणविक अस्त्रों की होड़ लगती और न युद्ध होते। अँग्रेजी के सुप्रसिद्ध रचनाकार वर्ड्सवर्थ का कहना है कि मनुष्य जैसे-जैसे बचपन से दूर होता गया, वैसे ही वैसे वह विकृतियों का शिकार बनता गया। क्या आपको ऐसा नहीं लगता कि आज बच्चों का बचपन भी छीना जा रहा है? आज सवाल है बच्चों के बचपन बचाने का। जरूरत इस बात की है कि बच्चों का बालमन, उनका बचपन, हिंसा और अपसंस्कृति फैलाती अश्लील फिल्मों और दूरदर्शन के विविध चैनलों की गंदी तरंगों से कैसे बचाया जाए। बच्चों के पास समय का भी अभाव होता जा रहा है। जो समय वे पत्र-पत्रिकाओं को पढ़ने में लगाते थे, वह समय दूरदर्शन ले लेता है। फलत: बाल साहित्य की पठनीयता कम हो रही है और बच्चे अपने साहित्य के आस्वाद से वंचित हो रहे हैं। आज के प्रतिस्पर्द्धात्मक समाज में आशा से अधिक अपने बच्चों से उम्मीद लगाए अभिभावकों के लिए बच्चों को नैसर्गिक प्रकृति से दूर रखने की मानसिकता ने टी.वी. की सार्वभौमिकता को ग्राह्य बना दिया है। बच्चों में आज जिस प्रकार जिज्ञासाएँ बढ़ती जा रही हैं, उनकी बौद्धिक एवं मानसिक खुराक की पूर्ति बाल साहित्य कहाँ तक कर पा रहा है, इस पर विचार किए जाने की आवश्यकता है ताकि बच्चे न केवल समाज-संस्कृति से जुड़ सकें, बल्कि सामाजिक-वैज्ञानिक

बदलावों से भी अवगत हो सकें। ऐसा न हो कि बाल साहित्य के नाम पर कूड़ों की भरमार से बच्चों में ऊब और शिथिलता उत्पन्न हो जाए। वैसे भी अभिभावकों की नासमझी से बच्चे बड़ों के कार्यक्रम देखकर अपना बचपन खोते जा रहे हैं।

सच तो यह है कि आज भी बाल साहित्यकार अपने पुराणपंथी ढरों से उबर नहीं पा रहे हैं। बाल रचनाकारों की कुपमंडूकता एवं सतही ज्ञान की वजह से एक ही बिंबों को घुमा-फिराकर बच्चों के समक्ष परोसा जा रहा है जिसके परिणामस्वरूप बाल पाठक एक खीझ और निराशा से उपजी मिली-जुली प्रतिक्रिया से गुजरता है। उसे तो कुछ नया चाहिए, जिसे वह स्वयं नहीं समझ पा रहा है। इस बात को बाल रचनाकार गंभीरता से समझें और अपनी लेखनी चलाएँ। इस संदर्भ में बांगला साहित्य की अवधारणा औरों से अलग है। बांगला साहित्य में किसी लेखक को तबतक लेखक नहीं माना जाता, जबतक वह बच्चों के लिए कुछ न लिखें।

दरअसल अन्य बाल साहित्य में बार-बार रूढ़ एवं परंपरावादी विचारों को बच्चों पर थोपने के हम आदी हो गए हैं। बच्चों को आदर्श बनाने के चक्कर में हम वही घिसी-पिटी जातक पुराण की कथाओं को बच्चों के समक्ष रखते जा रहे हैं जिससे बच्चे अभिप्रेरित होकर कुछ नहीं बनते। इसकी जगह यदि सामाजिक-पारिवारिक स्थितियों, जिस परिवेश में बच्चा पलता-बढ़ता है, बच्चा अपने ढंग से कुछ करना-सीखना चाहता है, पर रचनाओं को केंद्रीत किया जाए तो वह ज्यादा महत्त्वपूर्ण होगा। इस पर बाल रचनाकारों ने बहुत कम ध्यान केंद्रीत किए हैं। फलत: बाल साहित्य के बदले आज चटपटे कॉमिक्स खरीदकर बच्चे खूब चाव से पढ़ते हैं। इस प्रकार कॉमिक्स की आड़ में दूषित कॉमिक्स चल पड़े हैं। आज बाल पाठक कॉमिक्स से इतने अधिक प्रभावित हो चुके हैं कि स्वस्थ साहित्य पर आधारित पत्र-पत्रिकाओं के प्रति बालकों का लगाव कम हो गया है। जानकारी और उत्सुकता की कमी के चलते घर-परिवार में साहित्य पढ़ने जैसा माहौल नहीं बन पा रहा है। ऐसी स्थिति में बाल रचनाकारों का दायित्व बन जाता है कि श्रेष्ठ तथा संवेदनशील रचनाओं से बाल साहित्य के भंडार को विपुल बनाएं ताकि बच्चे अपना बचपन बरकरार रख सकें। बच्चे रचनाओं में अपना लगाव महसूस कर सकें, ऐसी कालजयी रचनाओं का सृजन जरूरी है।

आवश्यकता अधिकाधिक मौलिक बाल साहित्य के लेखन की है। सामंती कथाओं और अवास्तविक एवं कपोल कल्पनाओं पर आधारित साहित्य

भी अपेक्षित नहीं है। लोककथाओं में निहित बाल साहित्य को नई दिशाओं की ओर भी ले जाना लाजिमी होगा। ग्रामीण बालक, घर में नौकरी करते बाल मजदूरी से संत्रस्त, कूड़े के ढेर पर प्लास्टिक उठाते या ढाबे में प्लेटें धोते बालक भी कथा साहित्य के नायक हो सकते हैं। इससे बालकों का मानसिक विस्तार होगा। अत: बालकों को बाल साहित्य से जोड़ने का काम अभिभावकों को भी करना चाहिए, विशेष रूप से सुरक्षित अभिभावकों को।

इस देश में बाल मजदूरी का दंश भी विचारणीय विषय है। वास्तव में आजादी के छप्पन साल बाद भी देश में बचपन अभी पूरी तरह आजाद नहीं हो पाया है। आज खेत-खलिहानों, होटलों, घरों, दुकानों, गैराजों और औद्योगिक प्रतिष्ठानों आदि स्थानों पर कानून की धज्जियाँ उड़ाकर छोटे-छोटे बच्चों से मजदूरी करवाते खुलेआम देखा जा सकता है। कानून कहता है कि देश में चौदह वर्ष तक की उम्र के बच्चों से मजदूरी कराना जुर्म है। इसका उल्लंघन करने वाले को सजा भी दी जा सकती है। इसके बावजूद बाल मजदूरी धड़ल्ले से जारी है। स्कूल जाने और खेलने-कूदने की उम्र में ही जिम्मेदारियों का बोझ उठाए कुंहलाए बचपन पर नजर डालने की फुरसत न तो सरकार के पास है और न स्वैच्छिक संगठनों के पास। क्या इसी बचपन और उसे ढोते बच्चों से राष्ट्रपति का विजन-2020 का सपना पूरा होगा? यह भी सही है जबतक समाज की इकाई स्तर तक जागरूकता नहीं आएगी, तबतक इस समस्या से निजात पाना आसान न होगा। सरकार के साथ यह देखना समाज के हर व्यक्ति का भी दायित्व बनता है कि कोई निर्धन माता-पिता धन के अभाव में न तो अपने बच्चों को बेचने पाएँ और न ही उनके बच्चे मजदूरी करते देखे जाएँ। जहाँ कहीं भी बच्चे मजदूरी करते दिखें, उसका कड़ा विरोध किया जाए और ऐसे स्थानों का बहिष्कार किया जाए। तभी बाल मजदूरी के दंश से मुक्ति मिल सकती है, अकेले कानून का मुँह ताकने से कुछ होने वाला नहीं है।

पत्रिका का पाँच वर्ष पूरे कर छठे में प्रवेश

जब हम बच्चों के बचपन की बात कर रहे हैं तो इसी वक्त आप पाठकों की पत्रिका **'विचार दृष्टि'** की उम्र की ओर भी हम आपका ध्यान आकर्षित करना चाहेंगे, जिसने अपना पाँचवां वर्ष पूरा कर छठे में प्रवेश किया है। इस बीच आपकी जो प्रतिक्रिया आ रही है उससे ऐसा अवश्य प्रतीत होता है कि इसने आपकी आकांक्षाओं और अपेक्षाओं को बहुत हद तक पूरा करने की

कोशिश की है जिसका सारा श्रेय पाठकों व लेखकों को ही जाता है। ऐसा नहीं है कि इस बीच इसके समक्ष आर्थिक मुश्किलें नहीं आई हैं, किंतु यह भी सच है कि आपने इसे अपना अपेक्षित सहयोग प्रदान कर हमारा हौसला बरकरार रखा है, जो हमारी असली पूँजी है। विश्वास है हम आपका यह सहयोग आगे भी प्राप्त करने में कामयाब होंगे ताकि राष्ट्रीय चेतना जाग्रत करने में यह अपनी ऊर्जा कायम रख सके।

विचार दृष्टि, वर्ष : ६, अंक-१८ जनवरी-मार्च, २००४

◈◈◈

मौजूदा चुनाव की चुनौतियाँ

चौवन वर्ष के भारतीय गणतंत्र में चौथी बार किसी सरकार ने अपना कार्यकाल शेष रहते हुए भी समय से लगभग आठ माह पूर्व लोकसभा भंग करवाकर चुनाव में जाने का फैसला किया है। 13वीं लोकसभा का गठन 13 अक्टूबर 1994 को हुआ था। राष्ट्रपति ने केंद्रीय मंत्रिमंडल की सिफारिश पर 7 फरवरी को लोकसभा भंग करने की अधिसूचना संविधान के अनुच्छेद 85 (2) की उपधारा-दो के तहत जारी की और इस प्रकार लोकसभा के 543 सदस्यों के चुनाव के लिए मार्ग प्रशस्त हुआ।

यह बात किसी से छिपी नहीं रह गयी है कि पिछले दिनों मध्यप्रदेश, छतीसगढ़ तथा राजस्थान विधानसभा चुनावों में अपनी भारी सफलता, सकल घरेलू उत्पाद की वृद्धि दर 8.4 प्रतिशत होने और विदेशी मुद्रा भंडार की रिकार्ड 106 डॉलर तक पहुँचने के चलते भाजपा में आत्मविश्वास बढ़ा और उसने लोकसभा चुनाव का निर्णय आर्थिक 'फील गुड फैक्टर' के नारे के साथ लिया। यह तीसरी बार है जब भाजपा नीत सरकार पाँच वर्षों का अपना कार्यकाल पूरा नहीं करा और कुल चार साल चार महीने सत्ता में रहने पर ही चुनाव में जाने का फैसला किया। इसके पूर्व यह सरकार क्रमशः तेरह महीने और तेरह दिन ही सत्ता का सुख ले पाई थी।

इस संदर्भ में यह सवाल उठना स्वाभाविक है कि जब राजग सरकार सुचारू ढंग से चल रही थी और भाजपा के अनुसार सरकार ने अच्छी खासी उपलब्धियाँ हासिल कीं, तो फिर देश पर अचानक चुनाव आठ माह पूर्व ही क्यों थोप दिया गया? क्या इससे देश की आर्थिक क्षति नहीं हुई? चुनाव कराने के पीछे की राजनीतिक दाँव-पेंच की जितनी समझ राजनीतिकों को है उससे कम जनता को भी नहीं। दरअसल सत्ता अब सेवा के लिए न होकर सुविधाएँ भोगने के लिए हो गई है। आखिर तभी तो 6 फरवरी को लोकसभा भंग होने पर भी सांसदों की गुहार पर उन्हें सारी सुविधाएँ बरकरार रखी गईं।

इसके अतिरिक्त आपने देखा नहीं लोकतंत्र के द्वार पर चुनावी दस्तक होते ही मतदाताओं को सत्तारूढ़ दल की ओर से रिझाने का तानाबाना शुरू हो गया और आवश्यकता से अधिक ढेरों सारी लोक लुभावन घोषणाएँ की गईं और हर तबके के लोगों को रेवड़ियाँ बाँटी गईं। कुछ वस्तुओं के सीमा और उत्पाद शुल्क में कटौती से प्रारंभ केंद्र सरकार ने यह अभियान लगातार जारी रखा। उसने

आगामी चुनावों में जीत हासिल करने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ रखी। इस प्रकार की लोकलुभावन घोषणाएँ करते वक्त उसे इस बात की कोई परवाह नहीं रही कि इससे सरकारी खजाने पर कितना बोझ बढ़ गया। सबसे दिलचस्प बात तो यह है कि यह सब करने का बोध सरकार को चुनाव नजदीक आने पर ही हुआ। यह इस बात का संकेत देती है कि उन्हें आम आदमी की चिंता तभी सताती है जब चुनाव सिर पर आ जाते हैं। इसे चुनावी राजनीति से प्रेरित नहीं तो और क्या कहा जाएगा? सत्तारूढ़ दल के लोगों की यह समझदारी कि उसकी राहतकारी घोषणाओं और विभिन्न विकास योजनाओं के शिलान्यास से मतदाता उसके प्रति मुग्ध हो जाएँगे, तो यह उसकी गलतफहमी है। मतदाता तभी प्रभावित होंगे जब उसे उन योजनाओं का वास्तव में लाभ मिलेगा। इस संदर्भ में सरकार को यह ध्यान रखना चाहिए था कि हर चीज की एक सीमा होती है। आवश्यकता से अधिक लोक-लुभावन और सस्ती लोकप्रियता पाने वाली घोषणाएँ कभी-कभी मतदाताओं पर विपरीत प्रभाव भी डाल सकती हैं, क्योंकि मतदाताओं की दिशा को समझ पाना आसान बात नहीं। मतदाता किस दिन किस करवट लेगा यह कहना सर्वथा मुश्किल होता है। मतदाता अभी खामोश है। राजनीतिज्ञों के तेवर एवं बनते-बिगड़ते समीकरणों पर नजर गड़ाए रखता है और साथ ही उनके कार्यों का लेखा-जोखा भी मन ही मन करते रहता है।

इस संदर्भ में एक और बात काबिलेगौर रहा कि लोकसभा चुनाव के निकट आते ही राजनीतिक उठापटक और जोड़-तोड़ की कवायद शुरू हो गई। सांप्रदायिकता और धर्मनिरपेक्षता के नारे फिर से दिए गए और जिन दलों और नेताओं के विचार पिछले कई दशक से आपस में नहीं मिले वह भी कुर्सी की राजनीति में समान विचार रखने का दावा कर एक जुट हो गए। कल के जो शत्रु थे वे गले मिले और जो मित्र थे वे दूर हो गए। अपने पूर्व में प्रयुक्त किए हुए वाक्यों से पीछा छुड़ाकर द्रमुक काँग्रेस का दामन थाम लिया। यह काँग्रेस ही थी, जिसने जैन समिति की रिपोर्ट में राजीव गाँधी की हत्या की साजिश की सूई सिर्फ द्रमुक की ओर घुमाने पर आई.के. गुजराज की सरकार को चलता कर दिया था। शरद पवार ने काँग्रेस से निकलकर राष्ट्रवादी काँग्रेस पार्टी सिर्फ इसलिए बनाई थी, क्योंकि उन्हें प्रधानमंत्री पद पर विदेशी मूल की सोनिया गाँधी स्वीकार्य नहीं थीं। लेकिन चुनाव की आहट मिलते ही उन्होंने सोनिया का पल्लू यह कहते हुए थाम लिया कि उन्हें सांप्रदायिकता से लड़ना है। इसी प्रकार भाजपा सरकार को गिराने वाली तमिलनाडु की अम्मा जयललिता ने कुर्सी पाने के लिए पुनः भाजपा से गलवाहीं कर ली।

दरअसल सांप्रदायिकता एक ऐसा मुद्‌दा है जिसे राजनीतिक पार्टियाँ मनचाहे तरीके से अपनी सुविधानुसार उठाती हैं और छोड़ देती हैं। सांप्रदायिकता से लड़ने के बहाने विरोधी राजनीतिक दलों द्वारा चुनाव के पूर्व और चुनाव बाद एकजुट होना और कुछ नहीं सिद्धांतहीन राजनीति की पराकाष्ठा ही है। गठबंधन राजनीति के इस दौर में प्राय: सभी राजनीतिक दलों ने सिद्धांतों और विचारों को तिलांजलि दे दी है। इस देश की जनता इस बात से पूर्णत: अवगत हो चुकी है कि चुनाव बाद राजनीतिक दलों की निष्ठाएँ, सिद्धांत और उनके आदर्श सिर के बल खड़े होते रहे हैं। भारत जैसे बहुलतावादी राष्ट्र में विभिन्न दलों की विचारधाराएँ और उनकी प्राथमिकताएँ स्वाभाविक है। राज्य में सरकारों के गठन में स्थानीय हितों और जरूरतों का हावी होना अलग बात है, किंतु केंद्र सरकार के गठन के साथ पूरे राष्ट्र का हित जुड़ा है। इसके रास्ते क्षेत्रवाद, संप्रदायवाद और जातीय समीकरणों से होकर नहीं गुजरते और यदि गुजरते हैं, तो वे देश के हित में घातक सिद्ध होते हैं। लामबंदी के इस दौर में यदि वैचारिक प्रतिबद्धता, आचरण की शुद्धता, घोषणाओं के क्रियान्वयन के लिए संकल्प की दृढ़तायुक्त गठजोड़ से यदि जनता कुछ अपेक्षा करती है तो उसे घोर निराशा इसलिए होगी कि यहाँ तो अभिमन्यु वध और आश्वस्थामा हतो दोनों प्रकार की नीति एक ही खेमे द्वारा अपनायी जा रही है। सिद्धांतहीनता की इस स्थिति में कहा नहीं जा सकता कि कल कौन था, आज कहाँ है और कल कहाँ होगा। यह सोचकर ही जनता उलझन में पड़ेगी। वैसे सच कहा जाए, तो पूरे विश्व में ही सिद्धांत और राजनीति में कोई तारतम्य नहीं है, किंतु भारत में बड़ी बुरी स्थिति है, क्योंकि राजनीति का सार तत्त्व सत्ता ही बनकर रह गई है। इस देश के राजनीतिक कार्यों में यहाँ राजनीतिक दलों एवं उसके नेताओं ने विकारयुक्त रक्त प्रवाहित कर दिया है, जिसके कारण स्वास्थ्यपरक कोशिकाएँ विलुप्त हो गई हैं। राजनेताओं और शासकों ने देश के आर्थिक, सामाजिक और बौद्धिक इन सभी अंगों को प्रदूषित कर दिए हैं जिसके चलते लोकतंत्र के समक्ष चुनौतियाँ उत्पन्न हो गई हैं।

इस संबंध में धारदार कलम की मृणाल पाण्डे का यह मानना सही है कि सभी देश की राजनीतिक पार्टियाँ वैचारिकता को नाजायज शिशु की तरह बराबर चहबच्चे में फेंककर मौकापरस्त गठजोड़ साधती देखी गयी हैं। ऐसे स्वार्थपरक गठजोड़ों की आपाधापी ने उस जनता को बार-बार निराश किया है, जो विकास और नई पहलों के लिए कुर्बानी देने को तैयार थी। इसी के चलते माफिया गुटों के खूनी संघर्षों और सांप्रदायिक-जातीय तनावों द्वारा समाज व परिवारों को निगलने लगती है। देश के कई राज्यों में स्त्रियों एवं कमजोर वर्गों

के खिलाफ जो हिंसक प्रवृत्तियाँ लगातार बढ़ती जा रही हैं उसकी भी यही वजह है। इसी का प्रतिफल है कि जनता की प्रतिबद्धताएँ अथवा उसके रूझान पहले की तरह अब नहीं, बल्कि राजनेताओं के लिए मौसम की तरह अनिश्चित तथा उनकी पकड़ से बाहर है। नफरत की उत्कट चरम समाधि पर पहुँचकर जनता के लावे कब फट पड़ेंगे कहना मुश्किल है। राजनीति की इसी स्थिति को देखते हुए संभवत: अमेरिका के पूर्व राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन ने कहा था कि 'यदि कभी उन्मुक्त लोगों या सरकार का पूरी तरह पतन होगा, तो वह इनके पद की बेताबी और उसके लिए की जाने वाली जद्दोजहद से होगी। दरअसल इनकी कोशिश बिना कोई श्रम किए पद और रूतबा पाने की रहती है।' इसी प्रकार सुप्रसिद्ध रचनाकार विलियम शेक्सपियर ने भी एक बार कहा था कि 'एक राजनीतिज्ञ ऐसा व्यक्ति होता है, जो भगवान को भी मात दे। राजनेता बनने के लिए किसी नियम या स्थायी अथवा परिवर्तन शर्तों की जरूरत नहीं पड़ती या किसी डिग्री की अनिवार्यता की भी दरकार नहीं होती।'

किसी भी लोकतंत्र में चुनाव प्रक्रियाओं और राजनेताओं की आलोचना इसलिए होती है, क्योंकि सरकार या तंत्र का वे सर्वाधिक प्रत्यक्ष रूप होते हैं। जहाँ तक भारतीय राजनीति का सवाल है इसमें आज कानून बनाने वाले की जगह कानून तोड़ने वाले प्रवेश कर गए हैं। आखिर तभी तो दिसंबर 2003 में चार राज्यों में संपन्न विधानसभा चुनावों में प्राय: सभी राजनीतिक दलों ने ऐसे प्रत्याशी चुनावी जंग में खड़े किए जिनके विरूद्ध आपराधिक मामले लंबित थे। आपको यह जानकार आश्चर्य होगा कि मध्य प्रदेश में 153 अपराधिक प्रवृत्ति के खड़े उम्मीदवारों में 43 ने विजय पायी। राजस्थान के विधानसभा के चुनाव मैदान में उतरे 103 अपराधी प्रवृत्ति के प्रत्याशियों में 23 ने जीत हासिल की। छत्तीसगढ़ में अपराधी प्रवृत्ति के 73 उम्मीदवारों में से 11 ने विजय प्राप्त की। इसी प्रकार दिल्ली में 70 में से 25 बाहुबलियों ने विधान सभा में प्रवेश किया।

इस बार के चुनाव में लिंग्दोह फैक्टर की भी कमी खलेगी, क्योंकि पिछले छह साल से हर बार चुनावों के समय नेताओं के सिर पर लिंग्दोह किसी भूत की तरह मँडराते रहते थे। पिछले दिनों राजनीति को लाइलाज कैंसर और भारतीय राजनेताओं को 'अशिक्षित', 'अशिष्ट' और 'ठग' कहकर उन्होंने खुब तालियाँ बटोरी थीं। इसके पूर्व चुनाव आयुक्त शेषन ने भी कहा था कि 'मैं हर सुबह राजनीतिक नेताओं का नाश्ता करता हूँ।' समाजवादी नेता राजनारायण ने भी राजनीति को लोकतंत्र के चेहर पर 'भगंदर' की पदवी देकर भरपूर हंगामा पैदा किया था। भले ही इन टिप्पणियों का राजनीति में सिर्फ 'चटखारा मूल्य' हो,

मगर ऐसी टिप्पणियों की लोकप्रियता से इनकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि वर्तमान भारतीय राजनीति के गर्त और पतन ने आमजन के मन में बहुत ही खराब छवि बनाए रखी है। दंगों, घोटालों, भ्रष्टाचार, आतंकवाद क्षेत्रवाद, आपराधिक प्रवृत्ति और काले धन से बजबजाती आज की राजनीति में 'फीलगुड' और 'फीलबैड' के बीच दुविधा और असमंजस में घिरे मतदाता लोकसभा के इस चुनाव में अपनी सूझबूझ का परिचय दें इसके लिए देश के सजग, प्रबुद्ध एवं विचारवान लोगों को जनमत तैयार करने में अपनी भूमिका निभानी है। ऐसे वक्त में राजनीतिक संचार-प्रक्रिया की भूमिका जनता अथवा मतदाता के मन में छिपी भावनाओं को सक्रिय कर देती है, क्योंकि चुनाव के वक्त मीडिया सबसे अधि क संवेदनशील होता है। अपनी निस्पक्षता और तटस्थता के बावजूद पत्रकार, स्तंभकार, चिंतक-विचारक आदि अपने अधिकार को, अपने प्रिय विचार या दल की ओर झुका देते हैं। विश्वास है कि इस बार के चुनाव की देशहित तथा लोकतंत्र के हित में एक बहुत बड़ी अहमियत है। इस ख्याल से मीडिया की भूमिका निर्णायक हो सकती है। प्रबुद्धजन भी अपने राष्ट्रीय कर्त्तव्य निभाकर लोकतंत्र के पाँचवें प्रहरी के रूप में अपने को सिद्ध कर सकते हैं, क्योंकि किसी भी विशाल समाज में लोग व्यक्तिगत रूप से सार्वजनिक जीवन को प्रभावित नहीं कर सकते, किंतु दूसरों से मिलकर यह संभव हो सकता है। ऐसे चुनाव के वक्त अच्छे जनप्रतिनिधि को संसद में भेजने के उद्देश्य से अभियान चलाने के लिए समान विचारों और हितों के पक्षधरों को एक साथ मिलना समय का तकाजा है। कारण कि एक ओर जहाँ राजनीतिक पार्टियों की खुली स्पर्धा प्रतिनिधिक लोकतंत्र का अभिन्न अंग है, वहीं दूसरी ओर इस लोकतांत्रिक संसदीय प्रणाली की सबसे बड़ी कमजोरी भी है। शासकीय पद की प्राप्ति के लिए खुली स्पर्धा का प्रभाव समाज और राजनीति के लिए विभाजनकारी सिद्ध होता है। स्पर्धा में हिस्सा लेने वालों का इसमें सबकुछ दांव पर लगा रहता है। इसलिए लोकतंत्र की सुरक्षा तभी संभव है यदि चुनाव में हारने वाले दलों और उनके समर्थकों को हार की कीमत ऐसी न चुकानी पड़े जो उनके बूते से बाहर हो। वस्तुतः उनमें यह विश्वास कायम रहना चाहिए कि वे अगले चुनाव में अधिक सफलता पा सकेंगे। इस बात का आश्वासन भी उनको रहना चाहिए कि पराजित होने के बाद भी संगठन करने, आंदोलन करने तथा शासन की आलोचना करने के उनके अधिकार यथावत कायम रहेंगे।

विचार दृष्टि, वर्ष-6, अंक : 19, अप्रैल-जून 2004

◈◈◈

नई सरकार की प्राथमिकताएँ

केंद्र में काँग्रेसनीत संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन की सरकार बनने के बाद राष्ट्रपति डॉ. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम ने संसद के संयुक्त सत्र को संबोधित करते हुए सरकार की प्राथमिकताओं का उल्लेख किया है। यदि सरकार उन्हें अपने कार्यकाल में कार्यान्वित करे तो बहुत बात बन सकती है।

यह बात ठीक है कि राजग सरकार ने आर्थिक सुधार के तहत जिन नीतियों को अपनाया उनसे देश की अर्थव्यवस्था काफी मजबूत हुई, किंतु देश की 70 प्रतिशत जनता को यह मजबूत अर्थव्यवस्था किसी भी तरह का सुखद अहसास नहीं करा सकी। और तो और शहरों में जिस सुखद अहसास(फील गुड) की बातें की जा रही थीं वहां भी 'फील गुड' और 'भारत उदय' के नारे मँहगे पड़े, क्योंकि राष्ट्रीय राजधानी नई दिल्ली की सात संसदीय सीटों में से छह पर भाजपा बुरी तरह पराजित हुई। यही नहीं इलाहाबाद में डॉ. मुरली मनोहर जोशी, पटना में डॉ. सी.पी. ठाकुर, हजारीबाग में यशवंत सिन्हा, रांची में रामटहल चौधरी मुंबई में राम नायक, बाढ़ में नीतीश कुमार आदि की हार ने फील गुड की हवा निकाल दी।

सच कहा जाए तो 'भारत उदय' तथा 'फील गुड' को आम आदमी ने मुंह चिढ़ाने जैसा समझा, क्योंकि यथार्थ में भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में नाम मात्र को भी विकास नहीं हुआ। इन क्षेत्रों में न तो नागरिक सुविधाएँ हैं, न ढंग के अस्पताल और न ही विद्यालय-महाविद्यालय। बिजली भी नाम मात्र की, सड़कों के नाम पर गड्ढे भरे रास्ते हैं जिनपर बैलगाड़ी को भी चलने में कठिनाई होती है। पिछले तीन दशक में ग्रामीण और कस्बों में निवास करनेवाली जनता की आय और शहरी आबादी की आमदनी के बीच का अंतर दुगने से बढ़कर आठ गुना से भी अधिक हो चुका है। इन सबके चलते ग्रामीण एवं कस्बे के लोग खुद को उपेक्षित महसूस करते हैं और एक तरह से कुंठा से वे ग्रस्त हैं।

विश्व बैंक के प्रमुख अर्थशास्त्री निकोलस एच. स्ट्रेन के अनुसार राष्ट्रीय विकास की गति गरीबी उन्मूलन और सामाजिक कल्याण के लक्ष्य को प्राप्त करना तब तक संभव नहीं होगा, जबतक कि पिछड़े राज्यों, क्षेत्रों और समुदायों को विशेष रूप से सहायता प्रदान नहीं की जाती है। अगर क्षेत्रीय विषमता और शहर एवं गाँव के बीच बढ़ती दूरी के चलन को शीघ्र ही समाप्त करने की दिशा में सरकार के द्वारा प्रयास नहीं किया जाता है तो स्वाभाविक रूप से क्षेत्रवाद और सामाजिक कटुता बढ़ेगी।

इस दृष्टिकोण से केंद्र की नई संप्रग सरकार को ग्रामीण क्षेत्रों के विकास

को प्राथमिकता देनी होगी। खुशी इस बात की है कि संप्रग सरकार ने अपने न्यूनतम साझा कायक्रम में ग्रामीण क्षेत्रों की उन्नति के लिए अनेक दूरदर्शी योजनाओं का खुलासा किया है, किंतु इन योजनाओं से ग्रामीण क्षेत्रों में किसी तरह गुजर--बसर कर रही गरीब जनता और वहाँ के किसान-मजदूर की खुशहाली तभी आएगी जब राज्यों की वित्तीय स्थिति में सुधार आए। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि किसानों को जबतक सिंचाई के लिए पानी नहीं उपलब्ध होगा तबतक न तो उनकी स्थिति में सुधार होगा और न ही कृषि उत्पादन बढ़ेगा।

जनसंख्या नियंत्रण भी संप्रग सरकार की प्राथमिकता में रहना चाहिए था पर पता नहीं क्यों, राजग सरकार की तरह इसने भी इस मामले में हाथ खींच लिया। जनसंख्या नियंत्रण के अभाव में देश की अधिकतर जनता जिस नारकीय स्थिति में अपना जीवनयापन कर रही है उसमें कोई भी सरकार सुधार नहीं ला पाएगी।

जहां तक विदेश नीति का सवाल है कांग्रेस राज में गुटनिरपेक्षता की नीति ही अपनाई गई। नेहरू की विदेश नीति अमेरिका और सोवियत संघ के बीच चल रहे तत्कालीन शीतयुद्ध के दुष्प्रभावों से देश को बचाने की थी। मगर आज के वक्त पड़ोसी देशों खासकर चीन और पाकिस्तान के साथ संबंधों को वाजपेयी सरकार द्वारा एक नए सिरे से मजबूत करने की दिशा में बढ़ाए गए कदमों को गति देने की है। जे.एन. दीक्षित और नटवर सिंह की सत्ता प्रतिष्ठान में वापसी नई सरकार की विदेश नीति के लिए एक शुभ संकेत है। ऐसी आशा की जाती है कि नई सरकार विदेश नीति में कोई आमूल-चूल परिवर्तन नहीं करेगी। वैसे भी विदेशनीति ऐसी कोई चीज नहीं जिसे जुराबों की तरह हर दिन बदला जाए। विदेशमंत्री नटवर सिंह ने भारत-पाक के बीच शांति प्रक्रिया के जारी रखने का संकेत देते हुए यह भी स्पष्ट कर दिया है कि दोनों देशों के बीच वार्ता शिमला समझौते के तहत ही होगी।

इसके अतिरिक्त आज जरूरत इस बात की है कि शिक्षा को केंद्रीय सरकार का विषय बनाकर संपूर्ण भारत की शिक्षा में समानता और एकरूपता लाई जाए। इसके बिना समता, एकता, भाईचारा, सामाजिक न्याय का मिलना मुश्किल है। शिक्षा के साथ ही काम यानी रोजगार पाने को मौलिक अधिकार भी बनाया जाए। आज देश में बेरोजगारों की संख्या में जिस प्रकार निरंतर वृद्धि हो रही है यदि समय रहते इस समस्या का निदान निकालने का कारगर उपाय नहीं किया गया तो इससे कई समस्याएं और पैदा होंगी। आज हिंसा, अपहरण, रंगदारी की घटनाओं को भी इसी बेरोजगारी से जोड़कर देखा जा सकता है। राष्ट्रपति ने संसद में कहा है कि नवयुवकों को रोजगार के नए अवसर, ग्रामीण क्षेत्रों में हथकरघा, बागवानी, कृषि आधारित उद्योगों को सरकार प्रोत्साहित करेगी।

विनिवेश के मुद्दे पर नयी सरकार का निजीकरण के प्रति दृष्टिकोण सैद्धांतिक न होकर शुद्ध रूप से व्यावहारिक होगा, ऐसी उम्मीद की जाती है, क्योंकि प्रधानमंत्री डॉ. मनमोहन सिंह ने साफ शब्दों में उल्लेख कर दिया है कि सरकार सार्वजनिक क्षेत्र के मजबूत उद्यमों का निजीकरण नहीं करेगी और सरकार सार्वजनिक क्षेत्र के बैकों में अपनी हिस्सा पूँजी 51 प्रतिशत से कम नहीं होने देगी। 'गेल' और ओएनसीसी जैसे सरकारी क्षेत्र के उद्यम सार्वजनिक क्षेत्र में ही रहेंगे। स्पष्ट है कि विनिवेश पर काँग्रेस नीत संप्रग सरकार की नीति राजग सरकार की नीति के बिल्कुल विरूद्ध होगी जिसने अधिक मुनाफा कमाने वाले सरकारी क्षेत्र के उद्यमों का आक्रामक रूप में विनिवेश किया। सच तो यह है कि संप्रग सरकार के लिए यह वांछनीय होगा कि विनिवेश तय करने के पूर्व साल-दर-साल घाटे में चल रहे प्रत्येक मामले की पृथक रूप से जांच कर घाटेवाली इकाइयों के प्रबंधकों एवं श्रमिकों को साफ-साफ बता दिया जाए कि यदि आगामी तीन वर्षों में वे अपने निष्पादन को बेहतर नहीं करते, तो उन्हें या तो बंद कर दिया जाएगा या उनका विनिवेश कर दिया जाएगा, क्योंकि उन्हें सरकारी खजाने पर बोझ बने रहने की इजाजत नहीं दी जा सकती। मसलन सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों के विवेकहीन विनिवेश की नीति का परित्याग कर इनके विनिवेश को सुधारने के अन्य विकल्प तलाशे जाएँ।

स्वराष्ट्र मंत्री शिवराज पाटिल को जहाँ कश्मीर में आतंकवाद से सख्ती के साथ निबटना होगा वहीं रक्षामंत्री प्रणव मुखर्जी की प्राथमिकता पारदर्शिता, सेना का आधुनिकीकरण एवं सशक्तीकरण के साथ कुछ रक्षा सौदों की जाँच भी होगी।

नई सरकार धर्मनिरपेक्ष ढाँचे को मजबूत करने की दिशा में प्रयास करने के साथ कानून सम्मत व्यवस्था के अंतर्गत समाज के सभी वर्गों विशेषकर अल्पसंख्यकों, कमजोर व पिछड़े वर्गों को न्याय दिलाने की दिशा में ठोस कार्य करेगी। महिलाओं को बराबरी का हक दिलाने के प्रति सरकार की प्रतिबद्धता दोहराई गई है तथा संसद व विधानसभाओं में एक तिहाई आरक्षण का आश्वासन सरकार की ओर से फिर दिया गया है। अनुसूचित जातियों व जनजातियों को निजी क्षेत्र में भी आरक्षण दिलाने के साथ सार्वजनिक क्षेत्र में भी उनके कोटे को शीघ्र भरने का भी आश्वासन नई सरकार ने दिया है।

संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन सरकार की सबसे बड़ी प्राथमिकता घटक दलों के बीच परस्पर सांमजस्य को बढ़ावा देकर स्थिर सरकार प्रदान करना है। हमें नई सरकार से यह अपेक्षा करनी चाहिए कि वह अपने छोटे-मोटे अंतर्विरोध को समझदारी से सुलझाते हुए संप्रग की सरकार अपना कार्यकाल पूरा करेगी।

विचार दृष्टि, वर्ष : 6, अंक-20, जुलाई-सितंबर, 2004

◈◈◈

राष्ट्रीय स्वाभिमान के चरित्र की विडंबना

भारत के पूर्व रक्षा मंत्री और राजग के संयोजक जार्ज फर्नांडीस का अमेरिका के हवाई अड्डे पर वहाँ के सुरक्षा एजेंसियों द्वारा सन् 2002 और 2003 में दो बार जामातलाशी ली गयी। कहा तो यहाँ तक जाता है कि उनके जूते तथा कपड़े भी उतारे गए थे और दोनों हाथों को ऊपर उठाने को कहा गया था, किंतु जार्ज साहब ने कपड़े उतारने की खबर का खंडन किया है। यह वाक्या तब हुआ जब भारत के रक्षामंत्री की हैसियत से वे अमेरिकी सरकार के अतिथि थे और पहली बार जब यह वाक्या हुआ तो उस समय अमेरिका में भारत के राजदूत ललितमान सिंह भी हवाई अड्डे पर मौजूद थे। राजदूत महोदय ने उनके सरकारी अतिथि और रक्षामंत्री होने की दुहाई दी, किंतु तलाशी लेने वालों ने उनकी एक न सुनी। जार्ज साहब का कहना है कि इस आशय की शिकायत उन्होंने भारत के तत्कालीन प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी से की थी, पर अटल जी ने इस बात से अनभिज्ञता जताई।

प्रश्न यह उठता है कि जार्ज साहब ने अपने साथ किए गए इस अभद्र व्यवहार के मामले को अब तक क्यों नहीं देशवासियों के सामने रखा? इस बात का भंडाफोड़ तब हुआ जब अमेरिका के पूर्व उपविदेश मंत्री स्ट्रोब टालबोट की हाल ही में प्रकाशित 'इन्गेजिंग इंडिया डिप्लोमेसी, डेमोक्रेसी एंड दि बम' पुस्तक में इस बात का जिक्र किया गया। देशवासियों के समक्ष इस मामले में अभी तक जबान न खोलने वाले पूर्व रक्षामंत्री ने उक्त पुस्तक में जिक्र होने के बाद स्वीकारा कि उनके साथ ऊपरोक्त व्यवहार हुआ था। यहाँ तक कि उन्होंने कभी अमेरिका न जाने का संकल्प भी ले रखा है। सचमुच उनके साथ वह आहत कर देने वाली घटना है। देश के नेता एवं यहाँ के खासोआम नागरिकों के द्वारा इस देश के रक्षामंत्री के साथ हुए इस व्यवहार को राष्ट्रीय अपमान की संज्ञा देना स्वाभाविक है। भारत के पूर्व प्रधानमंत्री ने तो इस मामले पर अपनी चुप्पी साध ली ही है। दिन-रात राष्ट्रीय स्वाभिमान का बीड़ा उठाने वाली भाजपा और उसके परिवार ने मौन रहना ही उचित समझा।

मामले की गंभीरता के मद्देनजर चाहिए तो यह था कि भारत सरकार के द्वारा अमेरिकी प्रशासन को धमकाया जाता और इस व्यवहार के लिए माफी माँगने

के लए उन्हें बाध्य किया जाता और वैसा नहीं करने पर भविष्य में किसी भी मंत्री को अमेरिका नहीं भेजने की चेतावनी दी जाती और भारत आने वाले अमेरिकी मंत्रियों के साथ भी यही सलूक करने की चेतावनी दी जाती। लेकिन शायद भारत सरकार को अपने रक्षामंत्री के साथ हुआ दुर्व्यवहार न तब नागवार गुजरा था और न अब उसमें कोई बुराई नजर आती है। कारण स्पष्ट है। भूमंडलीकरण के तहत साम्राज्यवादी ताकतें और भारत में उनके समर्थक जो राष्ट्र बना रहे हैं, वह यहाँ की एक अरब से अधिक की आबादी की कीमत पर दो-चार करोड़ लोगों के लिए है। वैसे जो राष्ट्र बम और परमाणु के बल पर ताकतवर होने का भ्रम पाल लेते हैं उनका अपमान निश्चित होता है।

दरअसल सरकारें हों या सरकारी गैर-सरकारी स्वयं सेवी संस्थाएँ या शोध संस्थान, विदेशी पैसा खाने या न खाने की नीयत रखने वालों के राष्ट्रीय स्वाभिमान का यही हश्र होता है। कर्ज पर चलने वाली सरकारें और भाड़े पर लगा बौद्धिक कर्म जिस राष्ट्रवाद का दंभ भरता है वह परीक्षा की घड़ी आने पर वैसे ही नंगा होने के लिए अभिशप्त हैं, जैसे जार्ज साहब को होना पड़ा। नंगा-झाड़ा की जलालत से गुजरने वाले जार्ज एक प्रतीक हैं, इस तरह के स्वाभिमान के।

इस संदर्भ में यह बताने की आवश्यकता नहीं कि अमेरिकी राष्ट्रपति उनके मंत्री और अधिकारी जब किसी दूसरे देश में जाते हैं, तो अपनी निजी सुरक्षा व्यवस्था साथ लेकर चलते हैं। केंद्र में राजग सरकार के दौरान भारत के दौरे पर आने वाले अमेरिकी राष्ट्रपति और उनका दल अपना खुद का सुरक्षा घेरा लेकर आए थे। भारत को यह स्पष्ट कह दिया गया था कि उन्हें यहाँ की सुरक्षा व्यवस्था पर विश्वास नहीं। उन्होंने अपनी सारी कार्यवाईयाँ कूटनीतिक, खाना-पीना और नाच-गाना आदि अपने सुरक्षा घेरे में ही संपन्न किए। भारत की सुरक्षा एजेंसियाँ मात्र तमाशबीन ही बनी रहीं। उस वक्त पक्ष-विपक्ष के न तो किसी नेता ने राष्ट्रीय स्वाभिमान का प्रश्न उठाया और न ही किसी प्रबुद्धजन या सुरक्षा विशेषज्ञ ने ही यह सवाल उठाया कि एक संप्रभुता संपन्न देश की सुरक्षा व्यवस्था का स्थान विदेशी सुरक्षा व्यवस्था कैसे ले सकती है। प्रचलित राष्ट्रीय स्वाभिमान के चरित्र की यह विडंबना काबिलेगौर है।

निश्चित रूप से पूर्व रक्षा मंत्री जार्ज फर्नांडीस की अमेरिका-यात्रा के दौरान कपड़े-जूते उतारकर तलाशी लिया जाना शर्मनाक है। राजनयिक शिष्टाचार की मर्यादाओं का सरेआम उल्लंघन किया जाना यह दर्शाता है कि अमेरिका की

निगाह में भारत की कोई हैसियत नहीं है। सच तो यह है कि यह अपमान किसी व्यक्ति विशेष तक सीमित नहीं है। यह पूरे राष्ट्र पर प्रहार था। अटल जी जैसे अनुभवी नेता ने इस बात को नजरअंदाज कर दिया और जहाँ अमेरिका के संबंधों में विस्तार के प्रयास होते हैं, तो वहीं दूसरी ओर उसी देश में हमारे देश के रक्षामंत्री के साथ ऐसा शर्मनाक व्यवहार किया जाता है। यह पूरे देश का अपमान है।

सच मानिए तो तलाशी लेना साम्राज्यवादी शक्तियों का पुराना रवैया रहा है। जार्ज की तलाशी कोई नई या अलग-थलग घटना नहीं है। यह एक राष्ट्रीय परिघटना है। बापू को भगवान के ओहदे से उतार दें, तो वह अमेरिका जा सकते हैं। आज के भारतवासी डॉलर के लालच में ही हर कीमत पर अमेरिका जाने के लिए संघर्षरत हैं। अमेरिकी दूतावास में वीजा हासिल करने में होने वाले अपमान बोध की कथाएँ अक्सर सुनने को मिलती हैं। पुरानी कहावत है - 'कर्ज या खैरात का पैसा आदमी के आत्मसम्मान को खा जाता है।' आपको याद होगा पिछले दिनों अमेरिका के रिचर्ड आर्मिटेज जब भारत की यात्रा पर आए, तो उन्होंने हँसते हुए जार्ज की घटना पर माफी माँगने की खानापूर्ति की। यह भी साम्राज्यवादी ताकतों की ऐंठन का द्योतक है। तलाशी लिए जाने पर मातहतों को होने वाले अपमानबोध की एक घटना की याद हो आई जिसे आपके समक्ष रखना मैं आवश्यक समझता हूँ। प्रेमचंद की ख्यातिप्राप्त कृति 'गोदान' (1936) में ब्रिटिश साम्राज्यवादी सत्ता का प्रतीक दारोगा होरी के घर की तलाशी का ऐलान करता है। ऐलान होते ही होरी को अपनी इज्जत बचाने की फिक्र पड़ जाती है। वह गाँव के साहूकारों से रुपया कर्ज लेकर तलाशी के अपमान से बचना चाहता है। जैसे ही वह अँजुरी भर रुपया लेकर दारोगा को रिश्वत देने के लिए चलता है, उसकी पत्नी धनिया बीच में कूद पड़ती है। वह धक्का मारकर होरी के हाथ के रुपए जमीन पर गिरा देती है। होरी को ललकारते हुए कहती है, 'ऐसी बड़ी है तेरी इज्जत जिसे कर्ज की घूस से बचाने वाला है।' उसका चंडी रूप देखकर एक बारगी दारोगा भी सकते में आ जाता है और बिना तलाशी के ऐलान को सरेआम सफल चुनौती दे डालता है, लेकिन साम्राज्यवादी ताकतें आजाद भारत के रक्षामंत्री का एक नहीं, दो-दो बार नंगा-झाड़ा तलाशी लेती हैं और वह चूँ तक नहीं करता। यहाँ तक कि आजाद भारत की सरकार कोई प्रतिरोध भी दर्ज नहीं करती। यही है यहाँ के राष्ट्रीय स्वाभिमान के चरित्र की विडंबना।

खैर जो हो, पूर्व रक्षामंत्री के साथ अमेरिकी सुरक्षा एजेंसियों द्वारा की गई

बदसलूकी की घटना अत्यंत शर्मनाक, दुर्भाग्यपूर्ण और राष्ट्रीय स्वाभिमान पर चोट पहुँचाने वाली घटना है। जिस देश में अतिथियों का आदर-सत्कार देवी-देवताओं की भांति किया जाता हो उस देश के शीर्षस्थ नेता के साथ ऐसा व्यवहार इस बात को दर्शाता है कि इक्कीसवीं सदी के दौरान भी अमेरिका में भेदभाव की नीति बरकरार है। जार्ज साहब के मामले से ठीक विपरीत कल्पना करें कि यदि किसी अमेरिकी मंत्री, उद्योगपति अथवा किसी बड़े अधिकारी के साथ इस तरह का व्यवहार भारत में किया जाता तो क्या बुश प्रशासन आसमान सिर पर नहीं उठा लेता? हालांकि जिस प्रकार जार्ज साहब ने कभी अमेरिका न जाने की कसम खाई है, उससे लगता तो यही है कि आपसी टीस भी गहरी है। संभव है कि उस वक्त सोसलिस्ट इंटरनेशनल आड़े आ गया हो या तहलका के बीच बड़ी मुश्किल से दोबारा पकड़ में आई रक्षामंत्री की कुर्सी। अब जब दोनों नहीं है, तो शायद आपका जख्म फिर से हरा हो रहा है। आखिर तभी न 'राष्ट्रीय स्वाभिमान मंच' स्थापित करने की आवश्यकता आपने महसूस की है। ऐसा प्रतीत होता है कि इनका सोया राष्ट्रीय स्वाभिमान अब जागने की स्थिति में आ गया है। खैर आप जानें और आपका ज़मीर जाने।

जहाँ तक अमेरिका का प्रश्न है उसे पूरी दुनिया ही अब आतंकी नजर आ रही है। कभी इसी शक में अफगानिस्तान की पहाड़ियों में सिर पटकता है, कभी इराक के रेगिस्तानों में पिटता है। कभी ईरान, उत्तरी कोरिया को 'शैतान की धूरी' बताता है, तो कभी मेहमानों को भी 'शैतान' समझने लगता है। दरअसल अमेरिका को शक की बीमारी हो गई है। कुल मिलाकर उसका मर्ज-ए-शक बुलंदियों पर है। और आज के दिन, दुनिया ने तमाम मर्जों का इलाज खोज निकाला, पर शक आज भी लाइलाज है। इसके चलते न जाने कितनी तलवारें खींची गईं, लाशें गिरीं, पीढ़ियों के लिए भाई-भाई दुश्मन बन बैठे, पर शक न खत्म होना था और न हुआ। मुझे स्मरण हो आती है, ब्रेख्त की एक प्रसिद्ध कहानी, जिसमें हिटलरी शासन से बेज़ार माँ-बाप काफी देर से लापता अपने ही बेटे पर शक करते हैं कि कहीं वह बदनाम खुफिया-एजेंसी गेस्टापो को उनके बारे में खबर देने तो नहीं चला गया? इसी शक का आज ताजा शिकार अमेरिका है जिसका खामियाजा जार्ज साहब को भुगतना पड़ा और जिसने हमारे देश के राष्ट्रीय स्वाभिमान की पोल खोली। देश के स्वाभिमान की रक्षा हेतु बेहतर तो यह होता कि अपनी जामातलाशी देने की जगह जार्ज साहब हवाई अड्डे से ही भारत वापिस लौट आते। देशवासियों को यह जानने का अधिकार

तो है कि आखिर ऐसी कौन सी मजबूरी थी कि वे देश के स्वाभिमान पर होने वाले इस हमले का साधन बन गए? क्या इससे देश की सेनाओं का मनोबल ऊँचा होगा या देशवासियों का सिर शर्म से झुकेगा? उल्लेख्य है कि रक्षामंत्री देश की तीनों सेनाओं का प्रतिनिधित्व भी करता है। बेशक केंद्र की वर्तमान संप्रग सरकार को भी इससे सबक लेने की जरूरत है ताकि देश के स्वाभिमान को ठेस पहुँचाने वाली ऐसी घटना दोबारा न घटे। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि आजादी के बाद से किसी भी मंत्री का विदेश में इतना घोर अपमान कभी नहीं हुआ। देश के हर दल, हर नेता को यह समझ लेना होगा कि देश के गौरव व गरिमा के साथ कोई समझौता नहीं किया जाना चाहिए। यह बात ठीक है कि 11 सितंबर की घटना के बाद ट्रेड टावर के दूध से जला हुआ अमेरिका यदि जार्ज की छाछ को फूँक-फँक कर पी रहा था, पर उसे यह भी पता होना चाहिए था कि जार्ज उस वक्त सिर्फ सोसलिस्ट फर्नांडीस नहीं, भारत के रक्षामंत्री भी थे। पता नहीं जार्ज साहब का ज़ज़्बा कहाँ चला गया था। उन्हें तो अपने गुरु, लोहिया जी से सबक ले लेना चाहिए था। क्या उन्हें यह स्मरण नहीं कि जब डॉ. लोहिया अमेरिका गए थे, तो उन्होंने कितना हंगामा खड़ा कर दिया था। जरा सी अवहेलना के तिल को ताड़ बना दिया था, क्योंकि वे खुद्दार और सिद्धांतवादी आदमी थे। बापू को जब रेल में से धक्का देकर उतार दिया गया था, तो उन्होंने ब्रिटिश राज को ही सिंहासन से उतार दिया। यदि जार्ज सिर्फ अमेरिकी हवाई अड्डे से ही भारत वापस आ जाते, तो निश्चित रूप से अमेरिकी प्रशासन का बुखार चढ़ जाता और बुश प्रशासन को याहआलम हो जाता।

राष्ट्रीय एकता विशेषांक

'विचार-दृष्टि' का यह अंक 'राष्ट्रीय एकता विशेषांक' है जिसमें राष्ट्रीयता के विविध आयामों को संजोया गया है। देश के नागरिकों में विशेषकर राजनीति के कर्णधारों में जिस प्रकार तेजी से राष्ट्रीयता की भावना का ह्रास होता चला जा रहा है उसमें यदि देश के जाने-माने चिंतक-विचारकों के सारगर्भित देशभक्ति की भावना के उद्घोष लोगों में राष्ट्र-चेतना और राष्ट्रीय स्वाभिमान जगा सके तो इस अंक की सार्थकता सिद्ध होगी।

विचार दृष्टि, वर्ष- 6, अंक : 21, अक्टूबर-दिसंबर 2004

◈◈◈

दहशत के साए में आगामी विधानसभा चुनाव

3, 15 और 23 फरवरी को बिहार, झारखंड और हरियाणा विधान सभा के चुनाव होने वाले हैं। 14 वें लोकसभा चुनाव के बाद केंद्र में बनी काँग्रेस नीत संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन की सरकार जनता में नयी प्राणशक्ति फूँकने में असमर्थ रही है। पेट्रोल व डीजल की कीमतों में लगातार बढ़ोत्तरी हुई है। मँहगाई आसमान छू रही है। हम कहीं भी आगे बढ़ते हुए दिखाई नहीं दे रहे हैं। यथास्थिति बनी हुई है। जिस देश की समस्याएँ अनंत हों, वहाँ यथास्थिति एक नकारात्मक गुण होता है। इससे जनता में मुर्दनी छा जाती है। सरकारों से उसका विश्वास उठ जाता है और वह पहला मौका हाथ लगते ही उस सरकार से पीछा छुड़ाकर किसी नए विकल्प की ओर झुक जाती है। बिहार, झारखंड तथा हरियाणा विधानसभा के आगामी चुनावों में केंद्र के संप्रग सरकार के पिछले छह माह के कार्यकलापों का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है।

जहाँ तक बिहार का सवाल है राजद के साथ तालमेल तथा संप्रग सरकार के दो केंद्रीय मंत्रियों लालू प्रसाद और रामविलास पासवान के आपसी विवाद के चलते काँग्रेस को अंतर्द्वंद्व से गुजरना पड़ा। राजद और लोजपा की आपसी प्रतिद्वंदिता के कारण सरकार को परेशानी भी हुई है। हालांकि यह भी सच है कि पंक्ति लिखे जाने के वक्त तक झगड़ने वाले दोनों सहयोगियों में से कोई भी सरकार को छोड़कर जाने वाला नहीं दिखता। वैसे भी काँग्रेस बिहार में कई सालों से लालू प्रसाद का बगल-बच्चा बनी हुई है। दरअसल गठबंधन की आज की इस संस्कृति में उसका लगभग हर साझीदार सांस रोककर अपने पथ, वर्ग, फिरके, जाति के अतिरिक्त पूरी तरह निजी हितों के पीछे पड़ जाता है। गठबंधन के सामूहिक हित या देश का हित जाए भांड़ में, उसकी बला से।

केंद्र में संप्रग सरकार में शामिल राजद के लालू प्रसाद तथा लोजपा के रामविलास पासवान के बीच उठा विवाद फरवरी 2005 में होने वाले बिहार विधानसभा चुनाव में क्या रंग लाएगा यह तो समय बताएगा, पर इतना जरूर है कि आगामी चुनाव अबतक का सबसे दहशत भरा चुनाव होगा। दहशतगर्दी के खेल में जीतने वाले दल ही सरकार बना पाएँगे। कारण कि अपराधियों एवं बाहुबलियों के सवाल पर कोई भी दल विशेषकर राजद और लोजपा दोनों दल 'को बड़ छोट करत अपराधू' की कहावत को चरितार्थ कर रहे हैं।

कहना नहीं होगा कि 14 वें लोकसभा में राजद के लालू प्रसाद जैसा धर्मनिरपेक्ष मित्र पाकर रामविलास पासवान गदगद हो रहे थे वही आज चारा चोर, नजर आने लगे। ठीक वैसे ही लोकसभा चुनाव के पहले लालू प्रसाद जिस राम विलास पासवान को भावी प्रधानमंत्री के रूप में पेश कर रहे थे वही पासवान जी को आज माफिया सरगना के रूप में देख रहे हैं। दरअसल दोनों एक दूसरे को दागी बताकर अपनी कमीज को एक दूसरे से अधिक साफ और चमकदार बताने की होड़ में लगे जो निश्चित तौर पर संवैधानिक मर्यादा के खिलाफ माना जाएगा। रेल मंत्रालय की जंग ने दोनों दोस्त को दुश्मन तक बना डाला।

27 नवंबर को पटना के गाँधी मैदान में लोजपा के रामविलास पासवान की 'बिहार बचाओ, बिहार बनाओ' रैली की अच्छी खासी भीड़ के जवाब में 23 दिसंबर को उसी गाँधी मैदान में राजद की किसान-मजदूर रैली को रद्द करने के बाद बिहार का रानजीतिक परिदृश्य यह बताता है कि बिहार विधानसभा चुनाव तक दोनों दो ध्रूव पर बन रहेंगे।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि एक ओर जहाँ केंद्र और राज्य दोनों में सत्ताधारी होने का लाभ लालू प्रसाद को जमकर मिलेगा, वहीं दूसरी ओर जब से जद (यू) नेता नीतीश कुमार अपनी पुरानी कटुता भुलाकर अस्थिर चित्त और पाला बदलने में माहिर रामविलास पासवान को अपने बड़े भाई की संज्ञा देकर बिहार के मुख्यमंत्री के रूप में पेश करने लगे तब से श्री पासवान की महत्त्वाकांक्षाएँ ज्यादा उड़ान भरने लगी हैं। हालांकि बिहार के मतदाताओं के अभी तक के रूख पर यदि गौर किया जाए तो ऐसा नहीं लगता कि जद (यू) लोजपा का गठबंधन राजद को आगामी विधानसभा चुनाव में शिकस्त दे सकेगा। लालू प्रसाद की पूरी राजनीति मुस्लिम और यादव वोटों पर टिकी है। जब तक मुस्लिम और यादव उनके साथ हैं तब तक राजद को हरा पाना नामुमकिन-सा है। पिछले लोकसभा में पड़े मत को यदि आधार माना जाए, तो जातीय गुटों में बँटे बिहार के मतदाताओं का राजद गठबंधन को 43 प्रतिशत मत और राजग को 38 प्रतिशत मत मिला था। इसमें 5 प्रतिशत की दूरी को पाटने के लिए दलित तथा मुस्लिम मतों के लिए राजग को प्रयास करना होगा जो आज की परिस्थिति में असंभव तो, नहीं पर कठिन अवश्य है, क्योंकि न तो रामविलास पासवान की पकड़ पूरे दलित मतों पर अभी तक हो पाई है और न जद (यू) द्वारा मुस्लिम मतों को अपनी ओर आकृष्ट करने में सफलता दिखाई देता है। दूसरी बात यह है कि श्री पासवान जद (यू) का साथ चाहते हैं, लेकिन भाजपा का नहीं और जद (यू)

को लोजपा का साथ चाहिए मगर काँग्रेस नहीं। इस प्रकार सच कहा जाए तो पंद्रह वर्षों के लालू-राबड़ी राज को उखाड़ फेंकने के लिए बिहार में विपक्ष के पास अभी तक ठोस रणनीति की कमी दिखती है। हाँ, यदि काँग्रेस और पासवान मिलकर चुनाव लड़ें और नीतीश कुमार को पासवान राजग से तोड़ लें, तो कुछ बात बन सकती है। वैसे भी मात्र दस सीटों की औकात बताकर लालू जी काँग्रेसियों के जले पर नमक छिड़क रहे हैं जिससे काँग्रेसियों में हड़कंप मच गया है। इस बात का कोई आसार नजर नहीं आता कि काँग्रेस लालू का दमन छोड़ने को तैयार होगी, क्योंकि केंद्र में संप्रग सरकार को खतरे में डाले बगैर काँग्रेस बिहार में राजद से किनारा नहीं कर सकती। जाहिर है ऐसा करने का साहस काँग्रेस की सोनिया गाँधी के पास नहीं है।

हालांकि यह भी सही है कि संप्रग सरकार के दो प्रमुख घटक दलों के नेताओं में छिड़े वाक्युद्ध और आरोप-प्रत्यारोप में संप्रग सरकार की छवि थोड़ी धूमिल हुई है जिससे काँग्रेस की उलझनें बढ़ गई हैं फिर भी राजद को दरकिनार करना काँग्रेस के लिए आसान नहीं दिखता। इस प्रकार देखा जाए, तो राजद-लोजपा के विवाद प्रकरण से काँग्रेस की बाजी दांव पर लगी हुई है। मौजूदा चुनावी समीकरण के मद्देनजर काँग्रेस कोई खतरा मोल लेना नहीं चाहेगी। लेकिन बिहार में जिस तरह के जमीनी हालात हैं उनमें काँग्रेस राजद में तालमेल होना आसान नहीं होगा। केंद्र में काँग्रेसनीत संप्रग सरकार बनने के बाद राज्य में भी काँग्रेस कार्यकर्ताओं का मनोबल बढ़ा है और बिहार की प्रदेश इकाई लगातार राजद से संबंध समाप्त करने की वकालत करती रही है।

यह कहने की जरूरत नहीं कि बिहार विधानसभा चुनाव लालू प्रसाद के लिए प्रतिष्ठा का प्रश्न बन गया है। इसलिए अपनी गद्दी को बचाने के लिए वे किसी तरह का कोर-कसर उठा नहीं रखेंगे। उधर भाजपा तथा जद (यू) मिलकर भी अपने बलबूते लालू जी के तिलिस्म को तोड़ने में सक्षम नहीं दिखते, क्योंकि जिस प्रकार जद (यू) के नीतीश कुमार ने रामविलास पासवान को भावी मुख्यमंत्री के रूप में पेश करने की पैरवी की है उससे न केवल उनकी अपनी छवि धूमिल हुई है, बल्कि बिहार के मतदाताओं को भी यह नागवार दिखा है। कारण कि जनता ने अँग्रेजी की एक कहावत 'चेंज फॉर बेटर (Change for better)' को यह चरितार्थ न कर 'चेंज फॉर वर्स (Change for Worse)' समझा है, क्योंकि रामविलास पासवान के अतीत के जुड़े रेल मंत्री से लेकर आज तक के कारनामें को बिहार की जनता अपनी खुली आँखों से देख रही है।

इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि बिहार ही नहीं, पूरे देश के वासियों ने नीतीश कुमार के व्यक्तित्व के साथ-साथ रेलमंत्री के रूप में उनके कार्यकलापों को सराहा है और उनकी पारदर्शिता सामने आई है, यही कारण है कि लालू-राबड़ी सरकार के विकल्प के रूप में बिहार की जनता उन्हें ही स्वीकार करने के लिए आज तैयार है, इसके मद्देनजर उनके कथित बड़े भाई रामविलास पासवान बिहार के लोगों के गले के नीचे उतरेंगे, इसमें संदेह है। दरअसल इधर हाल के महीनों में अपराधियों एवं बाहुबलियों की एक अच्छी-खासी जमायत के लोजपा में इकट्ठे होने से नीतीश कुमार तथा खुद उनका दल एवं भाजपा लालू प्रसाद की पार्टी राजद का मुकाबला करने का साहस नहीं जुटा पा रही है और स्वयं नीतीश कुमार का विश्वास हिल उठा है। कारण कि बिहार को रसातल में जाने से बचाने की कहीं कोई ईमानदार कोशिश विपक्ष की ओर से अभी तक नहीं की जा सकी है। लालू-राबड़ी सरकार की विफलता की चर्चा मात्र से राज्य के विकास को पुनः पटरी पर नहीं लाया जा सकता। उसके लिए तो मंहगाई, बेरोजगारी, अराजकता और अव्यवस्था जैसे जनता के ज्वलंत सवालों के खिलाफ ईमानदार पहल की आवश्यकता है। ''पूरा बिहार जल रहा है। यहाँ कोई सुरक्षित नहीं है। प्रशासनिक तंत्र विफल हो चुका है और अधिकारी पूरी तरह से निष्क्रिय है'' - बिहार में अपराधों पर लगाम लगाने को प्रतिबद्ध पटना उच्च न्यायालय की एक जनहित याचिका पर सुनवाई के दौरान यह टिप्पणी क्या बिहार में निरंतर बिगड़ते हालात को जानने-समझने के लिए काफी नहीं है? बिहार सरकार के कुशासन को दिन-रात कोसते रहने वाले विपक्ष में बैठे राजनीतिक दल क्या यह कहने की स्थिति में हैं कि उपर्युक्त मुद्दों को लेकर अथवा कुशासन को समाप्त करने के लिए उनलोगों ने एकजुट होकर कोई ईमानदार पहल की है? बिहार विधानसभा का यह चुनाव बिहारवासियों के लिए संभवतः आखिरी अवसर आया है जब बिहार को गर्त में जाने से बचाया जा सकता है, अन्यथा यहाँ के लोग फिर अपने हाथ मलते रह जाएँगे।

बिहार तथा हरियाणा राज्यों को इन दिनों कर्त्तव्यहीनता की त्रासदी से जूझना पड़ रहा है। वर्तमान सत्ता के प्रति उकबन और दूसरी ओर किसी मजबूत विकल्प के अभाव की स्थितियों में ऊँट किस करवट बैठेगा यह तय कर पाना फिलहाल मुश्किल है। सच तो यह है कि हरियाणा के प्रत्येक क्षेत्र में जो विकास की गति दिख रही है उसका सारा श्रेय वहाँ के मुख्यमंत्री ओम प्रकाश चौटाला को जाता है, क्योंकि उन्होंने प्रत्येक जिले का सघन दौरा कर विकास के लिए सुविचारित

और ठोस योजना बनाई। मगर वहाँ की जनता को चौटाला के रूखे व्यवहार को लेकर शिकायत अवश्य है और भ्रष्टाचार को निश्चित रूप में इनके समय में बढ़ावा मिला है। फिर भी सच्चाई यह है कि वहाँ मुख्यमंत्री पद के लिए ओम प्रकाश चौटाला के अतिरिक्त कोई दूसरा दमदार, दावेदार नहीं दिखता हालांकि काँग्रेस के भजन लाल, भूपेन्द्र सिंह हुंडा तथा वीरेंद्र सिंह का नाम मुख्यमंत्री पद के लिए आता है किंतु काँग्रेस का अंतर्कलह और गुटबाजी शायद काँग्रेस की नाव को किनारे नहीं लगा पाएगी।

जहाँ तक भाजपा का सवाल है भाजपा वर्णव्यवस्था, मंदिर और मठ के जिस तीन खंभों पर हिंदुत्व की राजनीति चला रही है वह बुरी तरह लड़खड़ाने लगी है। पिछले लोकसभा और महाराष्ट्र विधानसभा चुनावों में भाजपा की उम्मीदों पर पानी फिर गया। ऐसी स्थिति में भाजपा झारखंड सहित बिहार तथा हरियाणा में काँग्रेस से मुकाबला कर पाएगी, इसमें संदेह है। वैसे भी झारखंड में जद (यू) के अध्यक्ष जार्ज फर्नांडीस की उपस्थिति में जद (यू) के कार्यकर्ताओं द्वारा मतदाताओं को रुपये बाँटने की घटना ने पार्टी की छवि धूमिल की है।

मतदाताओं को लुभाने के लिए रुपए बाँटने को लेकर चुनाव आचार संहिता के उल्लंघन के आरोप में फँसने की संभावना की वजह से 23 दिसंबर की प्रस्तावित राजद के महारैला को लालू जी ने स्थगित कर यह संकेत दे दिया है कि विपक्ष लामबंद होकर किसान-मजदूर के खिलाफ साजिश कर रहा है। हालांकि राजद के इस संकेत को राजनीतिक साजिश का नाम देकर चुनाव के वक्त रुपए बाँटने के प्रकरण को जायज नहीं ठहराया जा सकता। इस प्रकरण पर चुनाव आयोग का फैसला तो भविष्य के गर्भ में है, पर इस बात की संभावना अधिक है कि विधानसभा चुनाव के समय ऐसे कई खेल खेले जाएँगे, क्योंकि राजद को घेरने के लिए बिहार में विपक्ष किसी भी हद तक जा सकता है। महारैला को टालने के पीछे लालू प्रसाद की रणनीति बचाव के नाम पर खेला गया एक आक्रामक दांव भी कहा जा सकता है जबकि जद (यू) नेता नीतीश कुमार ने इसे लालू प्रसाद का हताशा करार दिया है।

झारखंड के बारे में कहा जाता है कि भाजपा के एक वरिष्ठ नेता ने केंद्रीय खुफिया एजेंसी और भारतीय प्रशासनिक के अधिकारियों को बुलाकर पूछा कि विधानसभा चुनाव में क्या होने वाला है? सबों ने एक स्वर से कहा कि अगले कई सालों के लिए झारखंड को भूल जाइए। इस बार तो यहाँ किसी

चमत्कार के भरोसे ही भाजपा को बहुमत मिल सकता है।

सबसे दिलचस्प बात यह है कि इन तीनों राज्यों में क्षेत्रीय राजनीतिक दलों का अच्छा खासा प्रभाव है और वे अपने दल-बल से किसी भी कीमत पर चुनाव में विजय प्राप्त कर अपनी हैसियत बरकरार रखना चाहेंगे, क्योंकि अपराधियों पर राजनेताओं की बढ़ती निर्भरता ने कई नामी अपराधियों को राजनेताओं के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया है। मतदाताओं को चाहिए कि सत्ता के नशे में चूर अपने प्रतिनिधियों को सही राह दिखाने के लिए अपने मत का सही इस्तेमाल करें।

जिस आदर्श बिहार के जेल में बंद एक अभियुक्त मोबाइल पर 670 कॉल करता है उसकी अधिकतर बातचीत राज्य सरकार के मंत्रियों और अधिकारियों से होती है, क्या वहाँ राज्य-प्रशासन तंत्र हत्या, दुष्कर्म और अपहरण एवं रंगदारी की घटनाओं पर काबू पा सकता है? उद्योग और रोजगारविहीन तथा रंक्तरंजित बिहार में इस समय बढ़ते अपराध, अपहरण और रंगदारी की वजह से उद्योगपति धंधे समेटने में लगा है और विद्यार्थी पलायन को विवश है। आखिर तभी तो बाहर के राज्य उसकी बेबसी पर आँसू न बहाकर व्यंग्यात्मक टिप्पणी करते हैं।

राजनीतिक दलों के अमर्यादित आचरण ने हमें लोकतंत्र के विघटन के कगार पर पहुँचा दिया है। ऐसी स्थिति में आज सभ्य एवं प्रबुद्धजनों को राजनीति के अपराधीकरण के खिलाफ कटिबद्ध होने की जरूरत है।

लालू प्रसाद इस बार के चुनाव में अपने राजनीतिक जीवन की सबसे बड़ी अग्नि परीक्षा से गुजरने जा रहे हैं। पंद्रह साल पहले, बिहार की सत्ता पर काबिज होने के बाद कभी मजाक में उन्होंने कहा था कि अगले बीस सालों तक उन्हें कोई भी इस सत्ता से हिला नहीं सकता। तब शायद उन्हें स्वयं यह अनुमान न रहा हो कि उनका यह मजाक सच भी साबित हो सकता है। लेकिन आज यह लगता है कि यह सच के काफी करीब पहुँच चुका है। इसलिए लालू किसी भी कीमत पर इस बार बिहार का यह चुनाव जीतना चाहते हैं। यह काम पासवान को दरकिनार किए बिना नहीं हो सकता। इसके मद्देनजर संभव है कि लालू की यह कोशिश हो कि पासवान को संप्रग खेमे से बाहर निकाला जाए और उन्हें राजग खेमे की ओर ठेलने की बजाय पूरी तरह अलग-थलग किया जाए।

बुद्ध और महावीर का तपक्षेत्र बिहार में इस वक्त लगभग एक दर्जन हिंसक नक्सली संगठन हैं। बिहार में निजी सेनाएँ, जातीय, पलटनें और राज्य

संरक्षित अपराधी हैं, दहशतजदा घर-परिवार जेलखाना है। जेलों में घर-परिवार जैसी सुविधाएँ हैं। जहाँ राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' ने संस्कृति के चार अध्याय खोजे, बाबा नागार्जुन और 'मैला आँचल' वाले फणीश्वरनाथ रेणु पैदा हुए। जिस बिहार ने देशरत्न डॉ. राजेन्द्र प्रसाद तथा संपूर्ण क्रांति आंदोलन के प्रणेता जय प्रकाश नारायण को जन्म दिया वही बिहार आज बदहाल है। हिंसा, हत्या, अपहरण, भ्रष्टाचार और रंगदारी के आँकड़ों की चर्चा ही बेमतलब है। पुलिस व्यवस्था मरणासन्न और प्रशासन रूग्न है। ठेकेदार, माफिया और अपराधी पहले की तरह आज भी सत्ता के संचालक हैं। ऐसी अराजकता के बीच राजद किसी भी चुनाव में जीत हासिल करने का एक मजबूत इरादा रखता है।

झारखंड की 81 विधानसभा की सीटों पर राजग और संप्रग का सीधा मुकाबला होने वाला है। कुछ सीटों पर नक्सलवादी संगठनों का भी असर होगा, जो चुनाव बहिष्कार का नारा तो देते ही हैं, चुनाव प्रक्रिया से भारी नफरत भी करते हैं ऐसे में हिंसा की आशंका से इंकार नहीं किया जा सकता।

झारखंड में चार साल तक शासन में रहने वाली भाजपा, जिसने पिछले लोकसभा चुनाव में राज्य की 14 सीटों में से 13 गँवाई है को सत्ता बचाए रखना आसान नहीं होगा। इसलिए उसके लिए यह चुनाव एक चुनौती भरा है। दूसरी ओर अंदरूनी कलह, मुख्यमंत्री की कुर्सी का आकर्षण संप्रग के काँग्रेस व झामुमो के बीच संघर्ष की स्थिति पैदा कर रही है। झामुमो के शिबु सोरेन मुख्यमंत्री पद के प्रबल दावेदार हैं हालांकि उनके केंद्रीय मंत्रिमंडल में दोबारा शामिल होने से राजनीति के आड़े-तिरछे मैदान पर खेल खेलने में माहिर रही काँग्रेस को थोड़ी राहत मिली, पर यह कोई बाध्यता नहीं कि केंद्र में मंत्री बनने पर वह राज्य में मुख्यमंत्री पद का दावेदार नहीं हो सकता।

बिहार-झारखंड या हरियाणा बेहतर तो यह होगा कि जनता कभी न पूरे होने वाले बेसिर-पैर के वादों व खोखले आश्वासनों के पीछे भागने की बजाय विकास की यर्थाथपरक सोच अपनाए और सही विकल्प के रूप में उसे ही चुने जो राज्य के विकास के प्रति कटिबद्ध हों।

विचार दृष्टि, वर्ष- 7, अंक : 22, जनवरी-मार्च 2005

◈◈◈

सार्वजनिक जीवन में 'खोटे सिक्कों' का चलन

देश की आजादी की लड़ाई के वक्त समाज के विभिन्न क्षेत्रों की श्रेष्ठतम प्रतिभाएँ आकर्षित होकर उन्होंने अपना ज्ञान, सम्मान और संपत्ति सब कुछ न्योछावर कर दिया था, किंतु आजादी के बाद सत्ता मोह, दलीय लाभ-हानि, निजी मान-सम्मान, गुण-दोष योग्यता की परख करने वाले विवेक पर हावी और प्रभावी हो गए। नतीजा यह हुआ कि सत्ता और समाज का संचालन करने के लिए योग्यता-संपन्न के स्थान पर मनपसंद व्यक्तियों को वरीयता दी जाने लगी। वैज्ञानिक, अर्थशास्त्री, समाजशास्त्री, साहित्यकार, कूटनीतिज्ञ, राजनीतिज्ञ, विधिवेत्ता, प्रशासक, सलाहकार और सहयोगी ऐसे लोग नियुक्त किए जाने लगे जो योग्य हों या न हों, किंतु नेतृत्व को पसंद हों। परिणामस्वरूप घटिया व्यक्ति सत्ता प्रतिष्ठान का संरक्षण प्राप्त करके सम्मान के अधिकारी बन गए और योग्य एवं प्रतिभावान व्यक्ति अवसर की तलाश में निराश होकर निष्क्रिय हो गए। इसी प्रक्रिया ने अवसरवादी गुंडा एवं अपराधी तत्त्वों को उपर उछाला और अब तो राजनीति का ही अपराधीकरण हो चुका है।

भारतीय राजनीति के मौजूदा दौर में आज चारित्र्यसंपन्न, प्रबुद्ध प्रतिष्ठित, उदारचेता, प्रतिभाशाली एवं समन्वित दृष्टिकोणवाले व्यक्ति आकृष्ट नहीं हो पा रहे हैं, क्योंकि समाज में रचनात्मक और समाज सेवा कार्यों में रत व्यक्तियों एवं संस्थाओं को सम्मान नहीं देता। बल्कि सच तो यह है कि समाज आज उन्हें महिमामंडित कर रहा है जो डंके की चोट पर उन्हें लूटते हैं, उपेक्षा और अपमान की खरीद पर उन्हें तराशते हैं। आज जो जितना ही अधिक तिकड़मी, भ्रष्ट, असामाजिक और आपराधिक प्रवृत्ति का है वह उतना ही प्रतिष्ठित, सफल, कुशल और सम्मानित व्यक्ति है। उसके लिए प्रतिष्ठा और प्रगति के द्वार खुले हुए हैं।

इस प्रकार आज सार्वजनिक जीवन में 'खोटे सिक्कों' का चलन इतना अधिक हो गया है कि अब 'खरे सिक्के' यदि कहीं दिखाई भी देते हैं तो वे नकली होने का भ्रम डाल देते हैं। स्थिति यहाँ तक आ गई है कि आज जिसे अपराधियों, बाहुबलियों तथा डाकुओं की सहायता मिलेगी वही चुनाव जितेगा। जिसे कालेधन की सहायता मिलेगी वही राजनीति का मुखिया होगा। जिसके पीछे कोई जाति, संप्रदाय अथवा मज़हब होता है उसके संकेत पर सत्ता प्रतिष्ठान के

नियंता उठते-बैठते हैं। जो जितना अधिक क्षेत्रीय और संकीर्ण है, वह उतना ही अधिक सबल है। जो मंच पर सदाचारी और घर में भ्रष्टाचारी है उसे महानता की ऊँचाई तक उठा हुआ मान लिया जाता है। गद्दार देशभक्ति का उपदेश देता है और विदेशी धन एवं सम्मान पर पलने वाला स्वदेशी का प्रवक्ता बनता है। देश की अखंडता एवं एकता को खंडित करने के लिए प्रयत्नशील तत्त्व राष्ट्रीय एकता की आवश्यकता का प्रतिपादन करते हैं। जिसे समुचित सम्मान मिलना चाहिए वह आज असम्मानित हो रहा है और जिसे प्रतिष्ठा की सीढ़ी के सबसे निचले पायदान पर होना था वह आज शिखर पर है। जो सत्ता में है और संपत्ति का मालिक बन बैठा है वही समाज का नियंता है। उसके बिना समाज के सभी अनुष्ठान अधूरे माने जाते हैं। पर सच तो यह है कि जब मार्यादाएँ भंग हो जाती हैं तो अमर्यादित जिदंगी कोई भी बँधन नहीं मानती। उसके सामने जिदंगी का नक्शा ही उलट जाता है।

इस वक्त प्रबुद्धजन भी एक खास किस्म की छटपटाहट से गुजर रहा है। राजनीतिक-सामाजिक स्तर पर उनकी कोई भी ऐसी गतिविधि नजर नहीं आती, जो भविष्य के प्रति उम्मीद बँधाती हो। वे बौद्धिक गतिविधियाँ, जो समाज और उसकी नियामक शक्तियों पर सार्थक टिप्पणियाँ प्रस्तुत करती चलती हैं और किसी न किसी रूप में अपनी नेतृत्वकारी भूमिका बनाए रखती हैं, वह भी आज दम तोड़ती हुई दिखाई देती हैं। और अगर आज बुद्धिजीवियों की कोई भूमिका है भी तो वह अपनी-अपनी संरक्षक राजनीतिक-आर्थिक ताकतों के यशोगान तक सीमित होकर रह गई हैं, जिसमें किसी भी तरह के सार्थक परिवर्तन की चिन्गारी मौजूद नहीं है। ऐसे समय में अगर जिनकी प्रतिबद्धता अभी तक सामान्यजन से जुड़ी हुई है और वे उसके लिए चिंतित दिखाई देते हैं, तो यह भी एक शुभ संकेत ही है। अगर बुद्धिजीवियों को प्रासंगिक बने रहना है तो उनकी संवेदनशीलता व रचनाशीलता सामाजिक एवं राजनीतिक आंदोलनों से जुड़नी चाहिए, क्योंकि विचार की दरिद्रता और विचार करने वाले लोगों की कमी के इस दौर में सामाजिक एवं सांस्कृतिक संकट का सबसे ज्यादा अहसास बुद्धिजीवी को ही है। यही नहीं, उसकी मुख्यता इसी में होती है कि वह प्रवहमान धारा को अपनी व्यक्तिगत प्रतिभा और अध्ययन के अनुरूप तथा समय की आवश्यकतानुसार नई दिशा में मोड़ देता है।

कहना नहीं होगा कि ऐसी विषम परिस्थिति में अगर बुद्धिजीवी स्वयं भाववाद से हटकर वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाएँ और समाज में इसके प्रचार-प्रसार की भूमिका निभाएँ तो बहुत-सी समस्याओं का समाधान तलाशा जा सकता है।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण यानी मनुष्य की भौतिक चेतना के साथ-साथ आत्मिक चेतना का परिष्कार किया जाए तो एक व्यावहारिक संस्कृति का विकास होगा जिससे समाज की विघटक, विध्वंसक, हिंसक जैसी प्रवृत्तियों का शमन किया जा सकता है। इसके लिए हमारे राजनीतिक-आर्थिक-सामाजिक ढाँचों से आकस्मिकता और अविश्वसनीयता के तत्त्वों को हटाना होगा।

कहा जाता है कि चुनाव एक महापर्व है, पर चुनाव में निरापराधी तथा योग्य उम्मीदवार अपराधियों से हार जाते हैं। ईमान की मौत और बेइमानी को जीवनदान मिलते रहता है। अच्छे व्यक्तियों के शासन में नहीं आने से भय, आतंक, शोषण और दुर्गति का चमन गुलजार होते रहता है। आखिर अपराधियों को चुनाव मैदान में आने से रोके बिना न तो सज्जनों को जीवनदान मिलेगा और न समाज में सुख-शांति आ पाएगी। निश्चित रूप से जब अपराधमुक्त लोगों का शासन होगा तभी समाज का नक्शा बदलेगा। अतएव स्वच्छ और निश्पक्ष चुनाव के लिए कड़ा कानून का होना आवश्यक है। ऐसे संगीन मामले जिसके विरूद्ध अदालत केस एडमीट कर लिया हो अथवा हत्या, अपहरण, घोटाला आदि के मामले में प्रथम द्रष्टया मिल गया हो, वैसे लोगों को चुनाव लड़ने से वंचित किया जाना चाहिए। ऐसा नहीं होने का ही नतीजा है कि विगत 58 वर्षों से अपराधियों और बाहुबलियों की पीठ थपथपाकर निर्दोषों का गला रेतने का व्यापार अब पहले से कई गुणा अधिक फल-फूल रहा है। अब अपराधी चारों ओर नजर आने लगे हैं और निरापराधी नन्हीं शबनम की तरह सूख रहे हैं। फूल कम काँटे अधिक। ईमानदार कम बेईमान अधिक। संसद हो या विधानमंडल इन लोकतांत्रिक एवं संवैधानिक संस्थानों में जनप्रतिनिधियों के आए दिन गाली-गलौज, अभद्र नारे और अशोभनीय आचरण देखे जा रहे हैं। यदि नियम-कानून सख्त होंगे और उसे सख्ती से लागू किया जाएगा, तो संसद व विधानसभाओं में बेदाग लोग ही जा पाएँगे।

आज का सर्वाधिक दुखद पहलू यह है कि वैसे नेता उँगलियों पर गिने जा सकते हैं, जिन पर कोई बड़ा आरोप न हो। अधिकांश के सिर पर हत्या, अपहरण, बलात्कार और जन-धन की लूट के मुकदमे चल रहे हैं। स्वार्थांध इन नेताओं की वजह से लोकतंत्र राजनीतिक प्रदूषण का पर्याय बन चुका है। इस प्रणाली में सर्वाधिक निरीह कोई है तो वह भूखी फटेहाल जनता ही है, जिसे जाति और मजहब के नाम विभाजित कर दिया गया है। नेता को कुर्सी चाहिए, लेकिन व्यवस्था लोकतांत्रिक है, नेता भीतर में अधिनायक हैं, पर ऊपर से जनसेवक होने का ढोंग रचा रहे हैं। मुझे रघुवीर सहाय की कविता की ये पंक्तियाँ याद आती हैं-

'राष्ट्रगीत में भला कौन वह भारतभाग्य विधाता है,
फटा सुथन्ना पहने जिसका गुण हरचरना गाता है।'

दरअसल इंसान के जब सपने चोरी होते हैं तो उसकी छवियों में सुराख हो जाता है। गरीबी हटाओ और समाजवाद का सपना चोरी हुआ, धर्मनिरपेक्षता को आँच आ गयी। आजादी के बाद आम आदमी की छवियों में अनगिनत सुराख हुए।

पिछले फरवरी में तीन राज्यों के संपन्न विधानसभा चुनावों में पहली बार निर्वाचन आयोग ने अपनी ताकत दिखाकर यह सिद्ध कर दिया कि अगर ईमानदारी का जज्बा हो तो कुछ भी असंभव नहीं है। पर अफसोस तो इस बात का है कि राजनेता इस बात से सरोकार नहीं रखते हैं। उन्हें तो बस किसी प्रकार 'कुर्सी' चाहिए। इस बार के चुनाव को भी बाधित करने का हर संभव प्रयास राजनीतिक दलों एवं उसके अपराधी आकाओं द्वारा कम नहीं किया गया, पर निर्वाचन आयोग की दृढ़ता और निष्पक्ष चुनाव कराने की आकांक्षा के समक्ष उनकी एक न चली। जब बूथ पर इनका ओछापन नहीं चला, तो जाति विशेष मतदाताओं को डराया-धमकाया गया और मतदान केंद्र पर जाने से उन्हें रोकने का प्रयास किया गया। तरह-तरह की अफवाहें फैलाई गईं। समाज को बाँटने और खोखला करनेवाले अवसादों को फैलाकर सत्ता की नकेल थामने से लोकतंत्र निश्चित रूप से कमजोर होगा और जनता का विश्वास उस पर से डगमगाएगा। जिस प्रकार चुनाव आयोग ने इस बार पाठ सिखाए हैं, अगर प्रशासन भी उसे आत्मसात करे तो बेहतर परिणाम आ सकते हैं।

बिहार जैसे राज्य में चुनाव हो-हल्ला, हुड़दंग, बूथ कब्जा तथा हिंसा-प्रतिहिंसा का पर्याय माना जाता है, वहाँ चुनाव आयोग की कड़ी हिदायतों व चाक-चौबंद प्रशासनिक व्यवस्था के शांतिपूर्ण वातावरण में स्वतंत्र व निश्पक्ष चुनाव संपन्न होना सुखद आश्चर्य से कम नहीं है। 'मिशन फेयर पोल' के नाम से पहचाने जाने वाले तथा पूर्व निर्वाचन आयुक्त लिंग्दोह की किताब में 'रियल हीरो' के खिताब से नवाजे गए चुनाव आयोग के विधि सलाहकार के.जे. राव बधाई के पात्र हैं, जिन्होंने बिहार सूबे में बड़ी मुस्तैदी से 'रूल ऑफ लॉ' को स्थापित कर भय व आतंकमुक्त माहौल में मतदान करवाया। पर अब सवाल यह उठता है कि श्री राव व अन्य प्रशासनिक अधिकारियों ने बहरहाल इस राज्य के कराहते लोकतंत्र को पीड़ा मुक्त तो बना दिया, लेकिन क्या नई सरकार, चाहे जब बने जनाकांक्षाओं की कसौटी' पर खरी उतरेगी?

तीन राज्यों के चुनाव परिणामों ने हरियाणा के इनेलो और बिहार के राजद जैसे क्षेत्रीय दलों को गहरा झटका इसलिए दिया है कि जनता के मन में इन दलों के प्रति अच्छी-खासी नाराजगी थी। इन दलों के नेताओं ने सत्ता में रहकर विकास का काम कम और अहंकार का प्रदर्शन अधिक किया। सत्ता मद में अधिकतर जन-प्रतिनिधियों ने जनता के दु:ख-दर्द को समझने की कभी चेष्टा नहीं की जिसका खामियाजा तो उन्हें भुगतना ही था। इसलिए जैसे ही मौका मिला, मतदाताओं ने अपने 'बदले' चुका लिये। इस बात से यह सिद्ध होता है कि लोकतांत्रिक पद्धति के प्रति जनता की समझ लगातार अधिकाधिक पक्की होती जा रही है। जनता अब वादों और आश्वासनों की छलनाओं में फँसनेवाली नहीं है, उसे ठोस काम चाहिए। बड़ी से बड़ी समस्या पर गंभीर न होना और हर बात को मसखरे की तरह हँस कर उड़ा देना बहुत दिनों तक नहीं चल सकता।

हरियाणा विधानसभा चुनाव के नतीजे पर जब हम गौर करते हैं तब एक दिलचस्प स्थिति यह देखने को मिलती है कि जात-पांत की अँधगली से गुजरती आज की भारतीय राजनीति में ओम प्रकाश चौटाला की पार्टी का जनाधार हरियाणा के जाट मतदाताओं में रहने के बावजूद इनेलो के कुल नौ विजयी विधायकों में चौटाला ही एकमात्र जाट हैं। दूसरी बात यह है कि जहाँ चौटाला सरकार के सभी पूर्व मंत्री हारे, तो वहीं भाजपा के सभी पूर्व विधायकों को पराजय का मुँह देखना पड़ा। बिहार में भी जद(यू) और भाजपा दोनों दलों के 14-14 विधायक इस बार नहीं जीत पाये। बिहार और झारखंड के चुनाव परिणाम बताते हैं कि इन राज्यों में स्थापित राजनीतिक नेतृत्व के खिलाफ स्थानीय ताकतों का उभार है। बिहार में राम विलास पासवान की लोजपा का तीसरा पक्ष बनकर उभरना तथा झारखंड में निर्दलीय उम्मीदवारों का उभार इसी बात का द्योतक है। दूसरी ओर चुनाव आयोग की सख्ती, परिवर्तन की हवा, 'माई' समीकरण में दरार के बावजूद राजद का 74 सीटों पर जीत कर सबसे बड़े दल के रूप में उभरना हमें यह सोचने को विवश करता है कि या तो जमीनी स्तर पर लालू प्रसाद की पकड़ कायम है या फिर बिहार की जनता के चाहते हुए भी नीतीश कुमार उनका सही विकल्प नहीं बन पा रहे हैं। आखिर इसके क्या कारण हैं, इस पर नेताओं को गंभीरता से विचार करना उनके अपने तथा बिहार के हक में होगा।

जहाँ तक काँग्रेस का सवाल है उसके लिए ये चुनाव आँखें खोलने

वाले होने चाहिए। पर ऐसा लगता है कि काँग्रेस पार्टी अभी भी पिछले विधानसभा के आम चुनावों में मिली सफलता के नशे में चूर नजर आती है। हरियाणा की शानदार जीत को छोड़ दिया जाए, तो बिहार एवं झारखंड के कुल 324 सीटों में से मात्र 19 सीटें हासिल कर ही उसे संतोष करना पड़ा। यह इस बात सूचक है कि हिंदी भाषी क्षेत्र के बड़े राज्यों में उसका आधार निरंतर खिसकता जा रहा है, फिर भी 10, जनपथ में राजनीतिक हलचल तेज और सोनिया जी का यशोगान जारी है।

इस पूरे चुनाव के नतीजे तथा गठबंधन राजनीति पर जब हम एक नजर डालते हैं, तो पाते हैं कि खंडित जनादेश अब कहीं अधिक गंभीर समस्याएँ लेकर आता है। खंडित जनादेश आते ही राजनीतिक पार्टियाँ जिस प्रकार मौकापरस्ती का परिचय देने लगती हैं उससे जनता के निर्णय का अपमान ही होता है। चुनाव बाद विरोधी दलों से हाथ मिलाना गठबंधन राजनीति नहीं, बल्कि एक प्रकार से मतदाताओं की इच्छाओं का गला घोंटना है। अगर गठबंधन राजनीति के इस गोरख-धंधे को रोकने के लिए कोई कारगर कदम नहीं उठाये गए, तो विश्व के सबसे बड़े भारतीय लोकतंत्र की जगहँसाई ही होगी, क्योंकि पिछले एक दशक से इस देश में गठबंधन राज़नीति का जो दौर चल रहा है उसमें जनादेश की खुलकर खिल्ली उड़ाई जा रही है। जिस तरह जंग और प्यार में सब कुछ जायज माना जाता है उसी तरह की स्थिति आज गठबंधन राजनीति में भी देखने को मिल रही है। आपने देखा नहीं गोवा, झारखंड तथा बिहार में गठबंधन राजनीति के नाम पर अनैतिकता और सिद्धांतहीनता की राजनीति का जमकर प्रदर्शन किया गया और जनता को मूर्ख बनाते हुए चुनाव नतीजों की मनमानी व्याख्या की गई।

विचार दृष्टि, वर्ष : 7, अंक-23, अप्रैल-जून, 2005

◈◈◈

भारत-चीन संबंधों के नये दौर में सतर्कता जरूरी

भारत को यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि 'इतिहास स्वयं को दोहराता है।' भारत ने जब भी चीन के साथ दोस्ती का हाथ बढ़ाया है उसे लाभ के बदले कहीं ज्यादा नुकसान उठाने पड़े हैं। इस वक्त भारत एक बार पुनः उन सारी नुकसानदायी लम्हों को भुलाकर चीन के साथ मधुर रिश्ते बनाने का प्रयास कर रहा है। दो देशों के बीच रिश्तों की मजबूती बहुत जरूरी है, लेकिन इसके साथ ही हमें पिछले कटू अनुभवों से भी सीख अवश्य लेनी चाहिये।

आपको याद होगा सीमा विवाद को सुलझाने के उद्येश्य से सन् 1988 में राजीव गाँधी द्वारा चीन की यात्रा किये जाने के पश्चात् चीन के तत्कालीन प्रधानमंत्री तंग श्याओ किंग ने उस मुलाकात को भारत-चीन के बीच एक नये युग की शुरुआत कही थी और विवाद के हल को लेकर दोनों देशों के बीच एक संयुक्त कार्यदल के गठन के लिये सहमति भी बनी थी, लेकिन तीन साल के भीतर ही चीन ने पाकिस्तान को एम-11 न्यूक्लियर मिसाइल देकर अपनी दोमुंही नीति को दर्शा दिया था। पुनः लाइन ऑफ एक्चूयल कंट्रोल के आसपास शांति बहाली के उद्येश्य से सन् 1993 में नरसिम्हा राव ने चीन की यात्रा की थी, लेकिन दो साल के भीतर ही चीन एक बार फिर पाकिस्तान के परमाणु कार्यक्रम को बढ़ाने के लिये रिंग मैग्रेट तथा परमाणु हथियारों को ढोने की क्षमता रखने वाले एम-9 मिसाइल उपलब्ध कराये। इसी प्रकार सीमा विवाद के समाधान के उद्यश्य से सन् 2003 में अटल बिहारी वाजपेयी द्वारा चीन की यात्रा करने के दौरान ही चीन ने पाकिस्तान को 2000 किलोमीटर की मारक क्षमतावाला शाहीन मिसाइल प्रदान किया था और उसके परमाणु कार्यक्रम को बढ़ाने में हर संभव सहयोग करने को आश्वस्त भी किया था। और इन ऐतिहासिक घटनाओं के काफी पूर्व जवाहरलाल नेहरू के प्रधानमंत्रित्व काल में भारत ने चीन की ओर दोस्ती का हाथ बढ़ाया था और उसकी सार्थक प्रतिक्रिया 'हिंदी चीनी भाई-भाई' के नारे के रूप में विश्व पटल पर उभरी थी, किंतु परिणाम के रूप में सन् 1962 में भारत पर चीनी आक्रमण देखने को मिला।

यहाँ इन बातों की चर्चा मैंने इसलिये की कि भारत की चीन के साथ आज की तारीख में एक ही बात पर कशिश है कि चीन पाकिस्तान को कुछ ज्यादा ही तरजीह देता है। यही नहीं, पाकिस्तान का परमाणु कार्यक्रम चीन के

ही भरोसे है। चीन संभवत इस बात से भी अवगत होगा कि पाकिस्तान की विदेश नीति हमेशा से कुछ इस प्रकार की रही है कि वह सिर उठाकर बराबरी की दोस्ती करने वाला देश नहीं रहा है और खासकर भारत को तो वह शंका की दृष्टि से ही देखता रहा है, क्योंकि कश्मीर पर उसकी गिद्ध-दृष्टि है। उसने हमेशा किसी न किसी महाशक्ति की चाटूकारिता की है और उनका पिट्ठू बनने का प्रयास किया है। साथ ही उसे यह भी डर है कि कहीं भारत एशिया महाद्वीप की महाशक्ति न बन जाय।

अभी-अभी पिछले अप्रैल माह में पाकिस्तान, श्रीलंका और बांग्लादेश का भ्रमण करने के पश्चात् चीन के प्रधानमंत्री वेन जियाबाओ ने भारत की चारदिवसीय यात्रा की, जिसे दोनों देशों के प्रवक्ताओं ने ऐतिहासिक घोषित किया। बताते चलें कि इस दफा श्री वेन ने पाकिस्तान के साथ एक नयी मैत्री संधि के तहत एफ-17 लड़ाकू विमान कारखाने लगाने का वादा भी किया है और एक परमाणु विद्युत शक्ति उत्पादन केंद्र स्थापित करने की भी घोषणा की गयी है। उल्लेखनीय है कि सन् 2003 में श्री वाजपेयी की चीन यात्रा के बाद चीन आश्चर्यजनक तरीके से सिक्किम को भारत का अंग मानने पर राजी हो तो गया था, लेकिन सीमा विवाद का मामला इतना जटिल है कि दोनों ही देश जल्दी किसी खास नतीजे पर नहीं पहुँच पा रहे हैं, क्योंकि भारत की चीन के साथ सीमा को लेकर कई जटिल समस्याएँ हैं जिन्हें आसानी से हल नहीं किया जा सकता है। यह तभी संभव है जब दोनों ही देश जमीनी तौर पर रिश्ते बनाने के इच्छुक हों और सहयोगी भूमिका निभाएँ। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि भारत और चीन दोनों आज एक नये भविष्य की तलाश में हैं। सोवियत संघ के विघटन के बाद उसकी अनुपस्थिति में हमें तीसरी दुनिया में व्यापक सहमति बनाने के लिये एक नयी राह तलाशनी है और इसके लिये चीन का सहयात्री होना हमारे देश के लिये जरूरी है।

इसी ख्याल से इस बार चीन के प्रधानमंत्री श्री वेन की भारत यात्रा के दौरान दोनों देशों के प्रधानमंत्रियों ने राजनीतिक मापदंड और मुख्य दिशा-निदेशक सिद्धांत पर समझौता किया है जिसमें सीमा विवाद का समाधान पंचशील नीति के आधार पर ढूँढ़ा जाना भी शामिल है। 'दोनों देश के नेता शांति और खुशहाली के लिये भारत-चीन सामरिक और सहयोगात्मक रिश्ते स्थापित करने पर सहमत हो गये हैं,-ऐसा दोनों देशों द्वारा जारी संयुक्त बयान में कहा गया है। अन्य बारह समझौतों के अतिरिक्त दोनों देशों के बीच आर्थिक रिश्तों में बुनियादी परिवर्तन

के संकेत भी मिलते हैं। इस संदर्भ में यह कहना यथोचित होगा कि भारत-चीन व्यापार 5 साल में चार गुणा बढ़कर 1360 करोड़ डॉलर तक पहुँच चुका है। अब यह लक्ष्य है कि सन् 2008 तक 2000 करोड़ तक और 2010 तक में 3000 करोड़ डॉलर तक पहुँचाना है। इस बाबत हमें खुले दिल से स्वीकार करना होगा कि आर्थिक प्रगति के क्षेत्र में चीन हमसे आगे निकल चुका है। इसलिये हमें चीन के साथ सहयोग करके उसी रास्ते पर आगे बढ़ना होगा, किंतु इसमें सावधानी यह बरतनी है कि भारत उसके माल का केवल मंडी न बनकर रह जाय। कारण कि चीनी माल का उत्पादन सस्ता हो रहा है, क्योंकि वहाँ मजदूरी की दर सस्ती है और बिजली की कीमतें भी बहुत कम हैं। चीन में ज्यादातर उद्योगों को बैंक बिना ब्याज ऋण देते हैं। दूसरी बात कि चीन का कर्मचारी बहुत परिश्रमी, समय पर अपने कर्त्तव्य का निर्वहन करने वाला तथा निर्धारित ड्यिूटी से अधिक काम करने वाला होता है। वहाँ चोरी और भ्रष्टाचार की गुंजाइश कम है, क्योंकि चोरी, भ्रष्टाचार या अपराध में लिप्त पाये जाने वाले को वहाँ जनता के सामने गोली मार दी जाती है, चाहे वह कितना ही बड़ा अधिकारी क्यों न हो। यही कारण है कि आज पूरे विश्व में चीनी माल की धूम मची है। चीन में सरकार और शासन की जबर्दस्त दहशत रहती है। आखिर तभी तो हमसे बाद यानी सन् 1949 में आजादी पाने के बाद भी चीन आज प्रगति की जिस ऊँचाई पर है हम उसकी अभी कल्पना ही कर सकते हैं। हमारे देश की स्थिति उसके ठीक विपरीत है। माना कि चीन और भारत की राजनीतिक व्यवस्था अलग है। जहाँ वे मार्क्सवाद और लेनिनवाद के विचारों में भरोसा रखते हैं हम भारत के लोग बहुदलीय प्रजातांत्रिक व्यवस्था में यकीन करते हैं जिसमें अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर, चाहे आधे पेट रहकर या फिर 39 फीसदी से अधिक लोग गरीबी रेखा से नीचे गुजर-बसर कर भी यहाँ के लोग फूले नहीं समाते हैं, वहीं हमसे अधिक आबादी होते हुए भी चीन ने अपने वासियों को भरपेट खाना दे रखा है और आज भूख से वहाँ कोई नहीं मरता है। भारत में हम आम आदमी के नजदीक रहते हैं, इसीलिये अभिजात्य वर्ग हमें पसंद नहीं करता। यही कारण है कि इस पाखंड और प्रपंच में आम आदमी को जहालत की जिंदगी जीना पड़ रहा है।

भारत और चीन दोनों देशों की अपनी उम्मीदें और आशंकाएँ हैं जिन पर ईमानदारी से ध्यान दिये जाने की आवश्यकता है। भारत को तरक्की के रास्ते पर ले जाने के लिये चीन से कुछ खास-खास बातें सीखनी ही होंगी। आखिर उसने कैसे अपनी बढ़ती जनसंख्या पर नियंत्रण पा लिया। विदित हो कि चीन अबतक 11 देशों

के साथ अपने सीमा-विवाद का हल खोज चुका है। भारत के साथ भी यह प्रक्रिया एक नयी दिशा ले रही है। अब राजनीतिक प्रतिनिधि उपरोक्त सिद्धांतों के आधार पर एक ढाँचा तैयार करेंगे। इसके बाद सर्वे द्वारा सीमा का निर्धारण किया जायेगा। सिंगापुर के पूर्व प्रधानमंत्री लीन कुआन यू ने एक सेमिनार में चीनी प्रधानमंत्री श्री वेन की भारत यात्रा पर टिप्पणी करते हुये कहा है कि दोनों ही देशों के बीच बढ़ते संबंधों का असर दुनिया के अन्य देशों पर भी पड़ेगा। वे समूचे एशिया में भारत-चीन संबंधों को एक पुनर्जागरण की शुरुआत के रूप में देखते हैं। इसी प्रकार माइक्रोसॉफ्ट के चेयरमैन बिल गेट्स ने हाल ही में कहा है कि अंतरराष्ट्रीय प्रतियोगिता की स्थिति में भारत और चीन के साथ अमेरिका हमेशा पीछे ही रहेगा। 'द वर्ल्ड इज फ्लेट: ए ब्रीफ हिस्ट्री ऑफ द टवेन्टी फर्स्ट सेंचुरी' के लेखक तथा न्यूयार्क टाइम्स के स्तंभकार थॉमस एल फ्रेडमैन के अनुसार भारत और चीन टेक्नोलॉजी और जियो इंफौर्मेटिक्स के क्षेत्र में एक नया इतिहास रचने की तैयारी में है।

चीनी प्रधानमंत्री वेन जियाबाओ की इस भारत यात्रा पर समूची दुनिया की निगाहें लगी रहीं। यकीनन दोनों देशों के रिश्तों को ऊँचाई देने की दिशा में श्री वेन की इस चार-दिवसीय भारत यात्रा को एक नये अध्याय की शुरुआत के रूप में देखा जा सकता है। कहना नहीं होगा कि सन् 1962 के भारत-चीन युद्ध के वक्त दोनों देशों के बीच जो कटूता का माहौल बन गया था उसके मद्देनजर संयुक्त घोषणा पत्र द्विपक्षीय रिश्तों की समग्रता की दिशा में एक बड़ा कदम सिद्ध होगा। चीन और भारत का यह सहयोग विश्व का गुरुत्व केंद्र अटलांटिक से पैसिफिक और भारतीय महाद्वीप में स्थानांतरित कर देगा। ऐसी आशा की जाती है कि श्री वेन की इस यात्रा से उपजे माहौल को मुर्शरफ भी संज्ञान में लेंगे। चीन द्वारा सिक्किम को अंतत: भारत का अंग मानना और अरुणाचल प्रदेश की वास्तविक स्थिति पर बातचीत की रजामंदी को विवाद का समाधान निकालने की दिशा में एक सार्थक कदम समझा जायेगा। दोनों देशों के बीच रणनीतिक और सैन्य क्षेत्र में बढ़ावा देने के लिये जो आम सहमति बनी है, वह बदलाव की जरूरत को रेखांकित करती है।

इन सबों के बावजूद इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि चीन, भारत के साथ दोस्ताना रिश्ता कायम कर अपने लिये भारत जैसे विशाल देश को बाजार-मंडी तैयार करना चाहता है। यही नहीं जब इस वक्त भारत और चीन दोनों अन्य देशों से अपने रिश्ते सुधारने के प्रयास कर रहे हैं, चीन काफी समय से शंघाई कोओपरेशन संगठन, एशियन तथा संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद में भारत की भूमिका का विरोध कर रहा है, हालांकि वेन जियाबाओ ने इस बार की अपनी

भारत यात्रा में यह भी कहा कि चीन संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद में भारत को देखकर प्रसन्न होगा। यद्यपि श्री वेन का यह बयान चीन के इस औपचारिक रुख को नहीं बदलता है कि बीजिंग इस मुद्दे पर आम सहमति का पक्षधर है। यह बात ठीक है कि चीनी बुद्धिजीवी भारत को दक्षिण एशिया में एक महत्त्वपूर्ण देश मानते हैं और इतनी विभिन्नता होते भी भारत चीन के साथ दोस्ती का हाथ बढ़ाने को आतुरता से अग्रसर है फिर भी ऐसा करते वक्त भारत को हर कदम फूँक-फूँक कर रखने और सर्तक रहने की जरूरत है।

बस यात्रा : कश्मीर के खून सने इतिहास में एक नया अध्याय

पिछले दिनों 7 अप्रैल, 2005 को कश्मीर की राजधानी श्रीनगर से पाक अधिकृत कश्मीर की राजधानी मुजफ्फराबाद के बीच बस यात्रा की शुरुआत को कश्मीर के खून सने इतिहास में एक नया अध्याय माना जाएगा। भारत और पाकिस्तान के बीच भाईचारे की इस नयी लहर के बारे में अभी कुछ महीने पहले तक सोचा भी नहीं जा सकता था। इसी प्रकार बस यात्रा शुरू होने के एक सप्ताह के भीतर उधमपुर से नई दिल्ली के लिये रेल सेवा की शुरुआत निश्चय ही एक नये कश्मीर के उदय का संकेत है। बस सेवा जहाँ बिछुड़ों को मिलाने का माध्यम बनी है, वहीं यह रेल सेवा जम्मू-कश्मीर को मुख्यधारा से जोड़ने का निमित्त भी बनेगी। सड़क के किनारे औरत, मर्द और बच्चे बस के यात्रियों को विदाई देने के लिये कतार लगाये खड़े थे और जैसे खुशी की बारिश हो रही थी। सहसा लोगों को इस सब पर यकीन नहीं हो पा रहा था, क्योंकि यात्रियों में आतंकियों का दहशत तो था ही। वे जानते थे, कि इस बस यात्रा में कितना कुछ दांव पर लगा है। यात्रा की शुरुआत के मौके पर श्रीनगर के मध्य में स्थित पर्यटक स्वागत केंद्र की इमारत पर तीन आंतकियों ने धावा बोला था। फिर आपने देखा कि इस इमारत में आग लगा दी गयी। वैसे विगत कई वर्षों से कश्मीर आतंकवाद के जिस चपेट में है और आतंकवाद के उभार ने जिस प्रकार उसे पूरी तरह तहस-नहस कर रखा है, जिसके चलते राज्य के उद्योग-धंधे पूरी तरह ठप्प हैं उसमें इस दिशा में केंद्र और राज्य सरकारों की भूमिका की अपेक्षा थी। ऐसी स्थिति में श्रीनगर-मुजफ्फराबाद बस सेवा ने निश्चय ही नया आयाम दिया है। दोनों देशों को एक साथ जोड़ने का काम वास्तव में चुनौती से भरा है।

हर जगह गोलियों की आवाज और सर्द तेज हवाओं के गर्जन से भरी रात में धू-धू करके जल रही इमारत की आग से यह यकीन कर पाना मुश्किल था

कि यह बस यात्रा खुशी की सौगात लेकर आयेगी और उसमें भी तब जब एक दूसरे के जानी दुश्मन रहे दो देशों के लोग इतिहास नये सिरे से लिखने के लिये एक-दूसरे का साथ हाथ मिला रहे थे। पिछले 50 साल में कश्मीर के निवासी इस तरह सड़क के किनारे कतार लगाकर किसी बात पर खुशी का इजहार करने के बारे में सोच भी नहीं सकते थे। वही कश्मीरियों ने एक ऐसा अवसर देखा, जो उनके इतिहास की चादर पर पड़े खून के धब्बों को धो डाला और कश्मीर के लोगों ने पाकिस्तान से आ रहे मेहमानों का खैर मकदम करने में कोई-कोर-कसर उठा नहीं रखा। अमन के इस कारवां को देखने से ऐसा लगता था कि रास्ते में भावना से भरी भीड़ की खुशी का पारावार न था। झगड़ों, हत्याओं और साल-दर-साल फिदायीन हमलों की यादें अचानक ऐसी लगने लगीं जैसे ये सब बाबा आदम के जमाने की बातें हों। यह दर्रा न जाने कितनी लड़ाईयों का गवाह रहा है, लेकिन इस यात्रा के दौरान दर्रा मिलन की गर्मजोशी से छलछला गया। आसमान में छाये बादलों से झाँकते अस्ताचलगामी सूर्य की किरणों से बिखेरती उम्मीद के रंग ऐसे लग रहे थे जैसे उसमें नहाकर दर्रा का सारा पर्वत उल्लास का पहाड़ बन गया हो।

आज की तिथि में लोग यह सोचने को विवश हैं कि पूर्वी और पश्चिमी जर्मनी की तरह विभाजित भारत और पाकिस्तान के लोगों का विभाजन से कोई भला तो नहीं ही हुआ, बल्कि ठीक इसके विपरीत कश्मीर सहित कई समस्याएँ आ खड़ी हो गयीं। अक्टूबर 2003 में श्रीनगर-मुजफ्फराबाद बस सेवा शुरू करने के प्रस्ताव से लेकर अब तक यह उम्मीद की जा रही थी कि इन परंपरागत रास्तों के खुलने से दोनों देशों के बीच न केवल व्यापार में भारी बढ़ोतरी होगी, अपितु जम्मू और कश्मीर के विभाजित परिवारों की पीड़ा भी कम होगी। नियंत्रण रेखा पर बने अमन सेतु के दोनों ओर खासकर जम्मू के राजौरी और पुंछ के मैदानी इलाकों तथा आजाद कश्मीर के सबसे बड़े क्षेत्र मीरपुर में भीमबेर, कोटली के लोग अपने दोस्तों और रिश्तेदारों से जुड़ने के लिये एक लंबे अरसे से बेताब थे, क्योंकि दोनों की भाषा एक है, संस्कृति एक है, फिर भी एक-दूसरे से मिलने से मजबूर थे और जिसने तीन बड़े युद्ध, करगिल समेत कई अघोषित युद्ध, झड़पों और स्थायी कलहों के नजारे देखे। ऐसे हालात में श्रीनगर से मुजफ्फराबाद तक चले अमन के इस कारवां को पाक अधिकृत कश्मीर के प्रधानमंत्री सिकंदर हयात ने ठीक ही कहा कि यह बर्लिन की दीवार टूटने जैसी घटना है।

भारत और पाकिस्तान धीरे-धीरे अपने सारे गिले-शिकवे भुलाकर एक-दूसरे के करीब आने को उत्सुक हैं जो एक शुभ संकेत है। पाक के राष्ट्रपति

जनरल परवेज मुशर्रफ की हाल की भारत यात्रा निश्चित रूप से इसकी एक कड़ी कही जाएगी। दोनों देशों के बीच बस सेवा और रेल सेवा की शुरुआत सराहनीय है। इस तरह दोनों देशों के बीच कटुता के बीज रोपने वाले कट्टरपंथियों के लिए यह एक संकेत है कि अब उसके नापाक मंसूबे धरे रह जाएँगे। भारत ने पाकिस्तान के साथ शांति और संबंध सुधारने की जो प्रक्रिया शुरू की है वह दोनों देशों को इतिहास के एक नये दौर में ले जा सकती है।

दोनों देश सभी मसलों का हल इस तरह निकालने को इच्छुक हैं जो एक दूसरे को स्वीकार्य हो। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि दोनों देशों के रिश्तों में पहले के मुकाबले जमीन आसमान का बदलाव आया है। अब तो नौबत यहाँ तक आ गयी है कि भारतीय व्यापारी पाकिस्तान जाकर होटल बना रहे हैं, उद्योग-धंधे लगा रहे हैं तथा वहाँ के लोग यहाँ आकर संभावनाएँ तलाश रहे हैं। पाक राष्ट्रपति मुशर्रफ ने हाल की अपनी भारत-यात्रा के दौरान खुद कहा कि 'मैं फिर वही दिल नहीं लाया हूँ जो आगरा के वक्त था, अब तो मैं नया दिल लाया हूँ। इस नये दिल में मोहब्बत है, भाईचारा है, अमन-चैन का पैगाम है और खुशी है।' दरअसल उस समय उनके दिल में तल्खी थी, कड़वाहट थी, एक-दूसरे के प्रति गुस्सा था और नफरत थी। कहना नहीं होगा कि पिछले दो वर्षों में मुशर्रफ का दिल काफी कुछ बदला है। इसका अहसास उस समय सबको हुआ जब दिल्ली के अशोका होटल में प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह द्वारा मुर्शरफ के सम्मान में आयोजित भोज में खुद मुशर्रफ ने फरमाया कि उनका पूरा घर आज भारत का मुरीद हो चुका है।

इस बस यात्रा की सफलता से यही पता चलता है कि राजनीति ने भारत और पाकिस्तान को भले ही 'दूर के पड़ोसी' बना दिया हो, वे दरअसल एक ही परिवार और गंगा-जमुनी तहजीव के वारिस हैं। भारत से जाने वाले उन्नीस तथा पाकिस्तान से आने वाले 30 यात्रियों के लिये यह यात्रा महज एक घर वापसी जैसी घटना ही नहीं, बल्कि एक ऐसी सच्चाई है जिसे राजनीतिक कुटिलता और विवशता सदैव अनदेखा करती या दबाती-छिपाती रही है। सच तो यह है कि फिल्म, संगीत और क्रिकेट से लेकर एटमबम तक दोनों देशों में एक-दूसरे की तरह होने और दिखने की मानसिकता काम कर रही है। आखिर तभी तो समाजवादी चिंतक डॉ. राममनोहर लोहिया ने भारत-पाक की इस बुनियादी समानता के मद्देनजर दोनों देशों के एक महासंघ की अवधारणा सामने रखी थी।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि आजादी से पहले भारत और पाकिस्तान दोनों एक ही देश के हिस्से थे। राजनीतिक हालात की वजह से हमें

अँग्रेजों से स्वतंत्रता दो अलग-अलग देशों के रूप में मिली। भारत और पाकिस्तान के बँटवारे के दौरान यानी सन् 1947-1948 की अवधि में लाखों लोगों को खौफनाक दौर से गुजरना पड़ा। दोनों देशों के लोग, जिन्होंने उस भयंकर त्रासदी का सामना किया है, वे आज तक कटू अनुभव से उबर नहीं पाये हैं। पर अब इतने दिनों बाद लगता है कि भारत और पाकिस्तान के आपसी संबंध निकट भविष्य में बेहतर होने की उंम्मीद है, क्योंकि एक तो दोनों देशों की जनता यह चाहती है और दूसरी तरफ सरकारें भी इस दबाव को समझ रही हैं। मुशर्रफ की हालिया भारत-यात्रा इसी का साक्षी है। वैसे भी हिंदी के वरिष्ठ लेखक एवं मुंबई के मुख्य आयकर आयुक्त वीरेन्द्र कुमार बरनवाल की नयी पुस्तक-'जिन्ना एक पुनर्दृष्टि' के शोधपरक तथ्य पर विश्वास किया जाय तो पाकिस्तान के कायदे-आजम मोहम्मद अली जिन्ना ने अपने जीवन के अंतिम दिनों में अपने चिकित्सक कर्नल डॉ. इलाही वक्श से कहा था-'डॉक्टर, पाकिस्तान मेरी जिंदगी की सबसे बड़ी भूल है।' पुस्तक के अनुसार 19 जनवरी 1940 को लंदन की टाइम एण्ड टाइम पत्रिका में 'हिंदुस्तान में दो राष्ट्र' शीर्षक अपने लेख में जिन्ना ने लिखा था-'हिंदुस्तान हिंदुओं और मुसलमानों दोनों की एक समान जन्मभूमि है।' इस दृष्टि से देखा जाय तो श्रीनगर-मुजफ्फराबाद बस सेवा के द्वारा सीमा के आर-पार लोगों की बेरोकटोक आवाजाही न केवल शांति की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम है, बल्कि भारत-पाक के बीच एक स्थायी शांति स्थापित कर भारत-पाक-बांग्लादेश के महासंघ के लक्ष्य को प्राप्त करने की कुँजी है। आखिर मजहब के नाम पर दो दिलों के बीच सियासतदानों तथा कुछ मुट्ठी भर कट्टरपंथियों द्वारा कब तक नफरत की दीवार खड़ी की जाती रहेगी? जब बर्लिन की दीवार टूट गयी तो नियंत्रण-रेखा भी टूटेगी और आगाज अच्छा रहने की वजह से यह अमन का कारवाँ अंजाम तक पहुँचेगा, ऐसी उम्मीद हमें करनी चाहिये। शांति का रास्ता कठिन जरूर है मगर इसी रास्ते से मंजिल तक पहुँचा जा सकता है।

विचार दृष्टि, वर्ष : 7, अंक-24, जुलाई-सितंबर, 2005

◈◈◈

राष्ट्रीय एकता के समक्ष नई चुनौतियाँ

देशभक्ति राष्ट्रीय भावना की आधारशिला है। देश की आजादी के पूर्व राष्ट्रीयता एक उमंग भर थी, केवल विदेशी शासन और अँगेजी साम्राज्यवाद के विरूद्ध ही वह उमंग सीमित था। उन दिनों राष्ट्रीयता के सामाजिक तथा आर्थिक मूलों की ओर लोगों का ध्यान सामान्यत: नहीं जा सका था, क्योंकि उनके सामने सिर्फ एक ही ध्येय था किसी तरह परतंत्रता की बेड़ी से छुटकारा पाना। केवल उपनिवेशवाद की समाप्ति या सत्ता के परिवर्तन मात्र से ही सामाजिक संरचना में परिवर्तन संभव न हो सकेगा, यह बात उन लोगों में स्पष्ट नहीं हो पायी थी, किंतु स्वातंत्र्योतर भारत में यह बात स्पष्ट हो गई है कि राष्ट्रीयता की भावना, जो सामाजिक तथा आर्थिक मूलों से अनिवार्यत: जुड़ी हुई है, हमारी सामाजिक संरचना एवं हमारी संस्कृति की आंतरिक चेतना को नियंत्रित करते हैं। आज राष्ट्र को एक ऐसी सामासिक संस्कृति की जरूरत है जिसका साँचा राष्ट्रीय हो और जिसका विषय सार समाजवादी या समतावादी हो तथा सच्चे बंधुत्व पर निर्भर हो और जिसमें शोषण नहीं हो। स्वतंत्रता यानी शोषण से मुक्ति ही स्वातंत्र्योतर भारत की राष्ट्रीय भावना का मूल आधार है। इसी के मद्देनजर हमारे संविधान की प्रस्तावना में स्वतंत्रता और समता के साथ बंधुता का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि यह मूल्य व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता सुनिश्चित करने के लिए है।

राष्ट्र की एकता तभी मजबूत हो सकती है जब देश में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति को उचित सम्मान मिले और साथ ही हममें भाईचारे का विकास हो। इसका एक निहितार्थ यह है कि किसी नागरिक अथवा नागरिक समूह को संदेह की नजर से देखा जाएगा तो उसके स्वाभिमान को चोट पहुँचेगी, उसके साथ भेदभाव किया जाएगा तो राष्ट्रीय एकता कभी महबूत नहीं होगी। दुर्भाग्य से आज हमारे राष्ट्र में यही हो रहा है। भारत के अनेक इलाकों में जो असंतोष, विद्रोह और अलगाव की प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं उनके पीछे भी कारण वही है। आजादी हासिल करने के बाद देश में राष्ट्रीय एकता पर खतरा मंडरा रहा है और उसके समक्ष यह एक नई चुनौतियाँ बनकर आ खड़ी हुई हैं। जहाँ एक तरफ हमारे यहाँ लोग राष्ट्रीय एकता की दुहाई देते नहीं थकते, वहीं दूसरी तरफ बेशर्मी से ऐसे काम करते हैं जो राष्ट्रीय एकता की जड़ों पर प्रहार करने वाले हैं। हमारी नई पीढ़ी को राष्ट्रीय एकता के इन अपकारक घटकों की बारीक पहचान रखनी होगी तभी वे पृथकतावादी, विखंडनकारी और विघटनकारी शक्तियों की नई चुनौतियों

का सामना कर सकेंगे।

मुश्किल यह है कि हमारे मन में आज राष्ट्रीयता की कोई स्पष्ट कल्पना ही नहीं है। दरअसल राष्ट्रीय चेतना कोई निश्चेष्ट भावना नहीं है, बल्कि एक अत्यंत गतिमान उत्तेजक तथा स्फूर्तिदायक चेतना है, जो मनष्यों के अपने राष्ट्र के उत्थान एवं समृद्धि हेतु संगठित रूप से प्रयास करने के लिए प्रेरणा प्रदान करती है। अत: राष्ट्रीयता एक विचार है, एक विचार शक्ति है, जो मानव के मस्तिष्क और हृदय को नवीन विचारों तथा मनोभावों से युक्त कर देती है एवं उसे अपने चेतना के संघटन क्रिया के कार्यों में परिवर्तित करने के लिए प्रेरित करती है। अतएव राष्ट्रीयता ऐसी भावना है जिसका संबंध मानव के अंत:करण एवं भीतरी चेतना से होता है। 'राष्ट्रीयता' शब्द मनुष्य की स्वाभाविक वृत्तियों में से एक प्रमुख वृत्ति है जिसके कारण मानव अपने राष्ट्र के प्रति प्रगाढ़ प्रेम एवं अभिन्न लगाव रखता है और वह अपने राष्ट्र को सदा समृद्ध एवं उन्नतिशील देखना चाहता है। इसी भावना से प्रेरित होकर व्यक्ति अपने राष्ट्रहित एवं समग्र समाज-कल्याण के लिए सर्वस्व न्योछावर कर देता है और एक सच्चा देशभक्त इस त्याग और बलिदान पर अपने आपको गौरवान्वित महसूस करता है। यही है सच्चा देश-प्रेम। इसी देश-प्रेम और राष्ट्र-प्रेम के महाभाव को पुरस्कृत करते हुए पुरुषोत्तम राम ने अपने उद्‌गार व्यक्त किए थे-

'अपि स्वर्णमयि न में लक्ष्मण! रोचते।
जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी॥'

इसे विडंबना ही कहा जाएगा कि जिस जन्मभूमि को स्वर्ग से भी बढ़कर कहा गया है आज उस भूमि में जन्म लेकर, यहाँ का अन्न-जल सेवन करते हुए यहाँ की धरती पर धमा-चौकड़ी करने वाले अनेक अपतत्त्व कृतघ्नतापूर्वक जघन्य कारनामे करते रहते हैं। आज यह देश अंत:-वाह्य समग्रत: एक विस्फोटक उथल-पुथल से व्याप्त हो रहा है। इसके अपकारक तत्त्व देश के बाहर ही नहीं, देश के भीतर भी विद्यमान एवं गर्जमान दीख रहे हैं। चाहे राष्ट्रभाषा हिंदी का प्रश्न हो, चाहे मूल भारतीय सांस्कृतिक मूल धारा का प्रश्न हो या फिर राष्ट्रीयता का प्रश्न हो, प्रत्येक स्तर पर केवल विनाशक, विरोध एवं विरोध की ही आग लगी हुई है। अपने देश एवं राष्ट्रीयता के प्रति कृतज्ञता प्रत्येक व्यक्ति का सामाजिक, नागरिक, राष्ट्रीय एवं मानवीय दायित्व एवं धर्म होता है जिसकी रक्षा के लिए उसमें आत्मत्याग करने का महाभाव होना उसी कृतज्ञता को प्रमाणित करता है।

किसी भी राष्ट्र की स्वतंत्रता और एकता को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए वहाँ के नागरिकों की राष्ट्रीय चेतना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है और इस राष्ट्रीय चेतना को बाँधे रखने के लिए वहाँ के लोगों में सांस्कृतिक और भावनात्मक एकता के सूत्र होने चाहिए। राष्ट्रीयता की भावना, अपने राष्ट्र के गौरवमय अतीत

पर गर्व और स्वाभिमान की शक्ति, एकता पर बल इन सबकी चेतना फैलाने में नागरिकों का योगदान होता है बशर्ते कि नागरिकों को उसी तरह की शिक्षा दी जाए।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि आधुनिक शिक्षा, परिवहन और संचार के संजाल के परिणामस्वरूप हुए विकास, उद्योगीकरण और शहरीकरण ने राष्ट्रीय एकता को नए आधार प्रदान किए। इसी वजह से कुछ नई समस्याएँ पिछले कुछ दशकों से उत्पन्न हुई हैं। जातीय आंदोलन, धार्मिक कट्टरपन, अंतर सामुदायिक संबंधों के संरूप में नए मौकों, भाषाई संघर्षों, क्षेत्रवाद तथा उपक्षेत्रवाद ने राष्ट्रीय एकता के समक्ष नई चुनौतियाँ खड़ी की हैं। राष्ट्रीय एकता इस वक्त एक अजीब स्थिति में हैं। वह जातियता, सांप्रदायिकता और क्षेत्रीयता के कई सिरों की ओर खींची जा रही है। ये तीनों घेरों में बँटे इस देश के लोग उसे अपनी ओर विपरीत दिशाओं में खींच रहे हैं। उनकी मुठभेड़ से कुछ अजीबोगरीब नतीजे सामने आए हैं। देश ने एक ओर लोकतंत्र, समानतावाद, धर्मनिरपेक्षता तथा सामाजिक न्याय की विचारधारा स्वीकार की है और उसे प्रोन्नत कर रहा है, तो दूसरी ओर आदिकालीन निष्ठाएँ अब भी कायम हैं, शोषणमूलक संरचनाओं को कभी कोई गंभीर चुनौती नहीं मिली, जातीयता, सांप्रदायिकता तथा परंपरा की विकृत स्मृति को राजनीतिक लाभ के लिए इस्तेमाल किया जाता है। दरअसल व्यक्तिवादी स्वार्थी प्रकृति की वजह से ही जातिवाद, संप्रदायवाद आदि प्रवृत्तियाँ निरंतर बढ़ रही हैं और राष्ट्रीय भावना, नैतिकता तथा आदर्श चरित्र संकट के क्षण की पीड़ा भोग रहे हैं। इससे सामाजिक समरसता भी चरमरा रही है। यही देश की एकता, समानता तथा मानवीय प्रेम और सौहार्द में विषैले बीज बो रहा है। धार्मिक पुनरुत्थानवाद और परवर्ती कट्टरपन से कठोरतापूर्वक नहीं निपटा जा रहा है। भावनात्मक तथा बौद्धिक जागरूकता के स्तर पर वर्ण और जाति के ढाँचे के भीतर अंतर्निहित असमानता तथा अमानवीयता की निंदा की गई है, लेकिन इसे ढाहने का कोई सार्थक या महत्त्वपूर्ण कदम नहीं उठाया गया है। वर्ण और जाति के राजनीतिकरण की वजह से 'निम्नतर' जातियों पर भाँति-भाँति के अत्याचार हो रहे हैं। अपनी दशा सुधारने के लिए उन्हें अपनी चुनावी ताकत का इस्तेमाल करने से रोका जा रहा है। भारतीय समाज और सत्ता पर आसीन सरकारों ने निम्नीकृत, कमजोर तथा असुरक्षितों के हित में केवल जबान हिलाई हैं, लेकिन वे उनकी समस्याओं के निदान का कोई सार्थक व्यावहारिक हल ढूँढ़ पाने में असफल रही हैं। इसका स्पष्ट परिणाम है असंतोष तथा प्रतिरोध। दरअसल उनके प्रति शोषण, असमानता और अन्याय को बरकरार रखने का बहाना नहीं बनाया जा सकता। कानून एक हाथ से देता है फिर सतर्कता में ढीलेपन तथा अप्रभावी अमल की कृपा से दूसरे

हाथ से छीन लिया जाता है। इसी का नतीजा है कि असंतोष और प्रतिरोध आज भी जारी है और यह असंतोष एवं प्रतिरोध स्वाभाविक रूप से राष्ट्रीय एकता में बाधक सिद्ध हो रहे हैं।

दरअसल जाति, मज़हब और राजनीति को देश, काल और परिस्थिति की तीन चुनौतियों से गुजरना पड़ता है और तीनों शक्तियाँ बदलती रहती हैं। परिवर्तन प्रकृति का नियम है। प्रकृति परिवर्तन से देश, काल और परिस्थितियाँ प्रतिपल नया रूप और आकार लेती हैं। मगर जाति, मज़हब और राजनीति बदलाव की इन चुनौतियों का सामना नहीं करतीं। यही कारण है कि राष्ट्रीय एकता के समक्ष भी नित्य नई चुनौतियाँ आ खड़ी होती हैं। और जब चुनौतियाँ नई हैं तो समाधान भी नए ही होने चाहिए। यह युग ज्ञान-विज्ञान, तर्क-प्रतितर्क का युग है। इसी के आलोक में हमें राष्ट्रीय एकता की चुनौतियों का समाधान ढूँढ़ना होगा, क्योंकि इस देश की संस्कृति को उन लोगों के हाथों नष्ट नहीं देखा जा सकता, जो येन-केन प्रकारेण राष्ट्र के भाग्य निर्णायक बन बैठे हैं। यदि यह भूल हो गई, तो राष्ट्रभक्त राष्ट्र को संवारते रहेंगे और राजनीतिक माफिया और देशद्रोही शक्तियाँ अपने हित में उसे नष्ट करते रहेंगे। ऐसे वक्त मुझे याद आती हैं कवि देवराज की कुछ पंक्तियाँ, जिसे उन्होंने अपनी कविता 'तेवर' में कही हैं -

'मरेंगे और मारेंगे मगर कटने नहीं देंगे
कि विरवा देश का हमने बड़े मन से लगाया है।'

अशांत और विछोभ के इस वातावरण में सभ्यता और संस्कृति की पाँच हजार वर्षों की निरंतरतावाले इस देश को आज लौह पुरुष सरदार पटेल, महात्मा गाँधी, शास्त्री जी तथा जय प्रकाश सरीखे महापुरुषों से प्रेरणा लेने की आवश्यकता है, जिन्होंने भारत को न केवल विदेशी दासता से मुक्त कराने के लिए निःस्वार्थ भाव से स्वतंत्रता-संग्राम में योगदान किया, बल्कि स्वतंत्रता के बाद अपनी सूझ-बूझ, दूरदर्शिता और अपने अदम्य साहस से राष्ट्र के एकीकरण को सहज ढंग से पूरा किया। सरदार पटेल के योगदान से बने भारत राष्ट्र पर घिरे अनेक संकटों में से सबसे गंभीर संकट राष्ट्रीय एकता व अखंडता को अक्षुण्ण बनाए रखने का है और उसकी अस्मिता एवं पहचान को बचाए रखने की आज सबसे बड़ी आवश्यकता है। तो आइए, इन महापुरुषों की जयंती पर हम देश के सभी सजग नागरिक आत्म विश्वास, निष्ठा और उम्मीद के साथ राष्ट्रीय एकता व अखंडता को अक्षुण्ण रखने के लिए और स्वतंत्रता, लोकतंत्र तथा सामाजिक न्याय की चुनौतियों का मुकाबला करने के लिए अपने कदम बढाएँ।

विचार दृष्टि, वर्ष- 7, अंक : 25, अक्टूबर-दिसंबर 2005

◈◈◈

बिहार में सत्ता-परिवर्तन

अक्टूबर-नवम्बर, 2005 में संपन्न बिहार विधान सभा चुनाव के बाद जद (यू) नेता नीतीश कुमार ने बिहार के 33वें मुख्यमंत्री का पद संभाला और इस प्रकार आखिरकार बिहार को पंद्रह वर्षों के पश्चात् 'जंगलराज' से मुक्ति मिली। मगर आने वाला वक़्त मुख्यमंत्री श्री कुमार के लिए परीक्षा की घड़ी है, क्योंकि बिहार की बिगड़ी स्थिति को पटरी पर लाना कोई आसान काम नहीं है और उसमें भी तब जब बिहार की राजनीति जातिगत समीकरणों में आकंठ डूबी है। हालांकि यह भी सच है कि बिहार में पहली बार निर्वाचन आयोग के सलाहकार के॰जे॰ राव के अथक प्रयास के चलते निष्पक्ष और शांतिपूर्ण चुनाव हुए और बिहार के मतदाताओं ने जाति, धर्म, वर्ग एवं संप्रदाय से ऊपर उठकर मतदान किया। जिस राज्य में झोपड़ियों के अंदर अपनी चोंच में वोट दबाए सफ़ेद कबूतरों के वोट काले मटमैले गिद्ध छीन ले जाते थे, उस राज्य में एक भी गिद्ध के पंख नहीं फड़फड़ाए। हिंसामुक्त चुनाव किसी रक्तहीन क्रांति से कम नहीं। इस तरह के चुनाव के लिए बिहार के मतदाता सहित के.जे. राव को हार्दिक बधाई। इस प्रयास के लिए के.जे. राव को लंबे समय तक याद रखा जाएगा। यह चुनाव बिहार के लोकतांत्रिक इतिहास में मील का पत्थर साबित हुआ। विश्वास है के.जे. राव से प्रेरणा प्राप्त कर बिहार के नए मुख्यमंत्री नीतीश कुमार बिहार को न केवल उसकी खोई प्रतिष्ठा एवं गरिमा वापस ला सकते हैं, बल्कि तक़दीर बदल सकते हैं। ऐसी उम्मीद की जा सकती है कि राज्य के प्रशासन की लगाम वैसे अधिकारियों के हाथों में सौंपी जा सकेगी जो अपनी ईमानदारी और कर्त्तव्यनिष्ठा के कारण पिछले डेढ़ दशक से प्रशासनिक ज़िम्मेदारियों से दूर थे, अथवा सजा काट रहे थे। नए मुख्यमंत्री ने इसी वजह से नौकरशाहों को खुली छूट देकर उन्हें उनकी ज़िम्मेदारियों का एहसास कराया है। चुनाव आयोग विशेषकर उनके सलाहकार श्री राव ने थोड़े दिनों के लिए ही सही बिहार के 'जंगलराज' को 'मंगलराज' में बदल दिया। नतीजतन अपने ही जंगल में शेर शिकार हो गया और मृदुभाषी, गंभीर और विकास को मुद्दा बनाने में सफल रहे नीतीश कुमार अराजक और विकास विरोधी सरकार से सत्ता छीनने में कामयाब रहे।

बिहार का ताज़ा चुनाव नतीजा इस बात का प्रमाण है कि 1990 के मंडल आंदोलन के साथ लालू प्रसाद ने पिछड़ों में जो उम्मीदें जगाई थी, उन्हें पूरा करने

में वे बुरी तरह विफल रहे और इसकी सज़ा उन्हें पिछड़ों-अति पिछड़ों तथा गरीबों ने इस चुनाव में दे दी। फ़र्ज़ी नेतई, चम्मचई सब धरी की धरी रह गई। जूठन पर कटा बचपन, भीख पर रेंगता बचपन, नंगों को लूटते-नोचते भूखे और कुत्ते से भी बदतर भूख की लड़ाई लड़ते बिहार की यही पहचान बनकर रह गई थी। इसमें कोई शक नहीं कि नीतीश कुमार को काँटों का ताज मिला है। बिहार की मौजूदा हालात में सुधार लाना सहज नहीं है लेकिन परिस्थितियों ने उन्हें एक ऐसा अवसर दिया है कि बिहार को पटरी पर लाकर वे इतिहास पुरुष बन सकते हैं। वैसे भी पूर्व में रेलमंत्री के पद पर रहकर बिहार झारखण्ड के साथ-साथ भारत के प्राय: सभी क्षेत्रों में रेलों का जाल उन्होंने बिछाया और बृहत पैमाने पर रेल-निमार्ण का कार्य किया उससे 'विकासपुरुष' के रूप में उन्होंने ख्याति अर्जित कर रखी है। अब देखना यह है कि बिहार को लेकर जो उनके समक्ष चुनौतियाँ उपस्थित हैं उनपर वे कितना खरा उतरते हैं क्योंकि लालू प्रसाद पराजित तो ज़रूर हुए हैं पर समाप्त नहीं हुए हैं। इसीलिए विधि-व्यवस्था को ठीक करने, विकास की गति को बढ़ाने, बिहारियों को रोज़गार के लिए पलायन रोकने तथा बाढ़-सुखाड़ जैसे मुद्दों पर नीतीश कुमार को काम करके दिखाना होगा, पूँजी निवेश के लिए अपराधियों पर अंकुश लगाना होगा, क्योंकि बिहार की जनता का इस सत्ता-परिवर्तन से काफ़ी आशाएँ और अपेक्षाएँ हैं। इसलिए क्रांतिकारी बदलाव के लिए उन्हें बिहार की ध्वस्त हो चुकी आधारभूत संरचना को ठीक करना होगा। बिहार की जनता अगड़ों और पिछड़ों की राजनीति के साथ-साथ नक्सलियों के आतंक से भी त्रस्त है। इस चुनौती का सामना करने के लिए मुख्यमंत्री को सबसे पहले सामाजिक सद्भाव स्थापित करने की ज़रूरत है। इसके अतिरिक्त उन्हें राजनीतिक चुनौतियों से भी निपटना होगा।

बिहार विधान सभा चुनाव के बाद सत्ता परिवर्तन से यह संकेत मिल गया है कि बिहार की जनता अपनी बदरंग पहचान बदलना चाहती है। बिहार के लोग प्रत्येक पेशे में अपनी मेहनत और प्रतिभा के बल पर खास पहचान रखते हैं लेकिन अपने नेताओं के आचरण और व्यवहार के चलते उन्हें वह सम्मान नहीं मिल पाता है, जिसके वे हकदार हैं। इस दृष्टि से वहाँ की जनता में आयी नवचेतना का खुली बाहों से स्वागत किया जाना चाहिए। साथ ही बिहारवासियों को परिवर्तन की इस व्याकुलता को राजनीति से आगे बढ़कर व्यवहार में भी लाना होगा।

ख़ैर जो हो, भूख, भय और भ्रष्टाचार के भँवर में फँसे बिहार की जर्जर नौका खेने की ज़िम्मेदारी संभालने में नीतीश कुमार सफल होंगे, ऐसा विश्वास

इसलिए भी है कि उनमें बिहार को विकास के पथ पर अग्रसर करने की पूरी इच्छाशक्ति है। आख़िर तभी तो भ्रष्टाचारियों और अपराधियों से मिली चुनौतियों का सामना करने के लिए वे अडिग हैं। आपने देखा नहीं जैसे ही पटना के गाँधी मैदान में शपथ-ग्रहण समारोह के बाद सचिवालय में पधारने पर उन्हें जीतनराम माँझी के शिक्षा घोटाले में संलग्न होने की पत्रकार से सूचना मिली तो श्री माँझी से त्यागपत्र लेने में तनीक हिचकिचाहट नहीं हुई। यह एक उदाहरण इस बात का प्रमाण है कि वे भ्रष्टाचार को ख़त्म करने पर आमादा हैं। इस भूल-सुधार से भ्रष्टाचार को मिटाने की प्रतिबद्धता को बल मिलता है। इस प्रकार मत्रिमंडल में एक भी अपराधी व बाहुबली को शामिल नहीं करके उन्होंने यह दर्शाया है कि राजनीति में अपराधियों के बोलबाला को वे समाप्त करना चाहते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि नए मुख्यमंत्री ने इस बात को पूरी तरह समझ लिया है कि बिहार में सुशासन राजनीतिक बाध्यताओं से समझौता करके स्थापित नहीं किया जा सकता।

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि बिहार के सामंती समाज में लालू प्रसाद का उदय पिछड़ी व दलित जातियों के आत्म-सम्मान और गौरव का प्रतीक बन गया था। सत्तू और लिट्टी-चोखा खाकर गुज़र करने वाले ग़रीब लोगों को लगा था कि लालू प्रसाद और उनकी पत्नी राबड़ी देवी के मुख्यमंत्री बनने के बाद उनके दिन फिरेंगे। लालू को प्रचंड जन-समर्थन भी मिला, लेकिन दूरदृष्टि के अभाव, अनाप- शनाप बोली, समाज के सभी वर्गों को साथ न लेकर केवल मुसलमान-यादव के 'माय' समीकरण पर विश्वास और तत्काल लाभ के लिए परिवारवाद को बढ़ावा देने के चलते उन्होंने सुनहरा मौक़ा गँवा दिया। लालू जी यह भूल गए कि लोकतंत्र में मूल शक्ति जनता की होती है और जनता ही नेता को सत्ता देती और लेती है। जो नेता इस सच्चाई को भूल जाते हैं, उन्हें इसका फल भुगतना ही पड़ता है।

बिना ख़ून बहे बिहार में सत्ता का परिवर्तन हो गया। नीतीश कुमार स्वयं इंजीनियर हैं इसलिए उन्हें अब अपने इस हुनर का इस्तमाल सोशल इंजीनियरिंग में करना होगा। चूँकि बिहार अपराध, शिक्षा, स्वास्थ्य, व्यापार-उद्योग, रंगदारी आदि हर क्षेत्र में समस्याओं की खान है और ये समस्याएँ इसीलिए हैं कि उनका समाधान नहीं निकाला गया, बल्कि ठीक उसके विपरीत उन्हें फलने-फुलने दिया गया। नीतीश कुमार के नेतृत्त्व में बनी नई सरकार को भाई-भतीजावाद, अपराध का राजनीतिकरण, बाहुबलियों एवं धनपशुओं का महिमामंडन, नौकरशाहों की निरंकुशता,

सक्षम और निष्ठावान लोगों को दरकिनार करने की प्रवृत्ति आदि पर ठोस प्रहार करना होगा क्योंकि राज्य की जनता ने किसी स्वप्निल परिवर्तन की आस में मत दिया है। बिहार की जनता में परिवर्तन और विकास की चाहत थी, केवल कोरा आश्वासन और भाषण नहीं। लालू-राबड़ी सरकार ने कोरा आश्वासन दिया। उनके लिए इस चुनाव का स्पष्ट सबक़ है कि जनता को सिर्फ़ लफ़्फ़ाज़ी से खुश नहीं किया जा सकता। लालू प्रसाद को स्वंय को एक गंभीर नेता के रूप में पुनः विकसित करना होगा तभी वे और उनका दल प्रतिपक्ष की भूमिका भी निभा सकेंगे जिसकी लोकतंत्र में ज़रूरत है।

पिछले पंद्रह साल में बिहार ने पहली बार अँधी कोठरी से बाहर पाँव रखा है, इसीलिए बिहार के चुनाव परिणाम से इस देश के सारे लोग खुश हैं, क्योंकि 15 वर्षों की अराजकता ने राज्य प्रशासन के पोर-पोर को ढीला कर दिया है। नए मुख्यमंत्री नीतीश कुमार यदि बिहार के मामले में सारे भारत को खुश देखना चाहते हैं तो उन्हें अपनी प्रचंड इच्छाशक्ति का परिचय देना होगा और इसके लिए उन्हें शख़्त क़दम उठाने होंगे।

'विचार दृष्टि' का आठवें वर्ष में प्रवेश

इस अंक से 'विचार दृष्टि' अपने आठवें वर्ष में प्रवेश कर रही है। यह पत्रिका अपने मूल मिज़ाज में कितनी सामासिक, सुचित्रित एवं प्रगतिशील बन पाई है यह इसके 'पाठकीय पन्ना' में व्यक्त पाठकों की प्रतिक्रियाओं से दृष्टिगोचर तो होता ही है, इससे इस पत्रिका की एक मुकम्मल पहचान भी बनती है। सभी प्रकार की स्थितियों की सार्थक पड़ताल करके इसने एक महत्त्वपूर्ण संकेत किया है कि इसमें हमारे समय के समझने की दृष्टि मिलती है।

सात वर्षों की यात्रा में 'विचार दृष्टि' ने न केवल लोकरुचि को परिष्कृत करने की कोशिश की है, बल्कि राष्ट्रीय चेतना जागृत करने के उदेश्य से राष्ट्रीय चरित्र एवं अनुशासन, पारस्परिक सौहार्द और भावनात्मक एकता को सुदृढ़ एवं परिपुष्ट बनाने के लिए स्वस्थ वातावरण का सृजन किया है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि वर्तमान दौर की बढ़ती नकारात्मक पत्रकारिता के विरूद्ध 'विचार दृष्टि' अपने सकारात्मक लेखन के साथ खड़ी है। हालांकि यह भी सत्य है कि सकारात्मक सोच और अव्यावसायिक दृष्टि की वजह से इसे सदैव अर्थ संकट से जूझना पड़ा है फिर भी इसके नियमित प्रकाशन में कभी रुकावट नहीं आई है और हमेशा व्यावसायिक पत्रकारिता की भीड़ से इसने अपने को अलग रखा है। दरअसल समाज में परिवर्तन लाने और राष्ट्रीय चेतना जागृत करने की

जो ललक 'विचार दृष्टि' में है वही इसे जीवित रखे हुए है, वरना इस भौतिकवादी व्यावसायिक युग में 'विचार दृष्टि' जैसी पत्रिकाओं का प्रकाशन संभव नहीं। समाज के सपनों को धरती पर उतारने का जो संकल्प इस पत्रिका ने ले रखा है इसका समय पर प्रकाशन उसी का परिणाम है। इसीलिए विचार, व्यवहार और संस्कार-समाज रचना के इन तीन मुख्य आधार को इसने अपना मूल सूत्र बनाकर अपने पथ पर यह अग्रसर है। आख़िर तभी तो रूढ़ धारणाओं, मिथ्या मान्यताओं, अँध-विश्वासों, पाखण्ड एवं अर्थहीन मूल्यों को विघटित कर स्वस्थ समाज एवं सबल राष्ट्र के निर्माण के लिए यह पत्रिका नई पृष्ठभूमि प्रस्तुत कर रही है।

इसी के मद्देनज़र साहित्यिक, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा नैतिक विषयों के अतिरिक्त 'विचार दृष्टि' में इस अंक से प्रबुद्ध पाठकों एवं लेखकों की सलाह पर 'अध्यात्म' स्तंभ की शुरूआत कर इसके माध्यम से भारतीय मनीषा के सार्वभौमिक, सार्वकालिक, शाश्वत अभिव्यक्ति को पाठकों तक पहुँचाने का प्रयास किया जाएगा ताकि पाठक अपनी चेतना के दीप को प्रज्ज्वलित कर अँधकार को मिटा सकें। धार्मिक विचार की इस एक रश्मि से न केवल उनका जीवन आलोकित हो सकेगा, बल्कि उनके चिंतन की धारा भी आगे बढ़ सकेगी। इस स्तंभ में व्यक्त विचार चाहे किसी धर्म के नेता या विचारक के हों, सद्विचार सदा सत्य ही होंगे। वैचारिक शाखाएँ चाहे जितनी हों, पर जड़ में कल्याणकारी धाराएँ ही होंगी। विश्वास है इसके लेखक की क़लम की रोशनाई से तलवार की धार भी कुंद हो सकेगी और तमसावृत्त राष्ट्र को उनकी लेखनी से दिशाबोध भी मिल पाएगी। कोशिश यही की जा रही है कि समाज के सभी वर्गों में चारित्रिक आस्था पैदा करने के लिए एक व्यापक अभियान चलाया जाए, क्योंकि व्यक्ति-व्यक्ति का चरित्र ही राष्ट्रीय चरित्र का आधार है।

एक पत्र की यात्रा में इस पत्रिका ने अनेक उतार-चढ़ावों को पार कर अपनी सात साल की उम्र पूरी की है और विचार क्रांति की यह संवाहिका विचारों की कुप्रवृत्तियों को मिटाने और अँधकार से लड़ने का संकल्प लेकर खड़ी है। इस संकल्प को पूरा करने के पीछे संपादन से जुड़े सहयोगियों का हाथ रहा है। मैं उनके प्रति आभार व्यक्त करता हूँ और यह विश्वास रखता हूँ कि उनके सहयोग से अपनी अग्रिम यात्रा में यह पत्रिका अपने दायित्वों को बख़ूबी निभाती रहेगी।

विचार दृष्टि, वर्ष : 8, अंक - 26, जनवरी-मार्च, 2006

◈◈◈

'लाभ के पद' के सवाल पर राष्ट्रीय राजनीति गरमायी

लाभ के पद को लेकर उठे विवाद के बीच सोनिया गाँधी ने जिस प्रकार लोकसभा की सदस्यता और राष्ट्रीय सलाहकार परिषद् के अध्यक्ष पद से त्याग पत्र दिया उससे उन लोगों के समक्ष एक चुनौती बन गयी जो लोग उनकी ही तरह लाभ के पदों पर विराजमान हैं। देखना यह है कि सोनिया की तरह कितने और लोग अपने पदों से त्याग पत्र देते हैं? हालांकि यह भी सच है कि इस बार सोनिया गाँधी के पास इस्तीफे के अलावा कोई दूसरा रास्ता नहीं बचा था। यदि वे इस्तीफा नहीं देतीं तो उन्हें जया बच्चन की तरह से अपनी संसद सदस्यता खोनी पड़ सकती थी, क्योंकि लाभ के पद के मामले में अकेले जया बच्चन नहीं, बल्कि करीब 60 सांसदों एवं अनेकों विधायकों पर उँगली उठ रही है। तेलुगु देशम पार्टी ने सोनिया गाँधी सहित कर्ण सिंह, टी सुब्बारामी रेड्डी और कपिला वात्स्यायन चार नाम, तृणमूल काँग्रेस ने लोकसभा अध्यक्ष सोमनाथ चटर्जी, माकपा नेता नीलोत्पल बसु समेत दस सांसदों के नाम राष्ट्रपति को दिए थे। इस बीच अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व में 62 सांसदों ने राष्ट्रपति ए.पी. जे. अब्दुल कलाम से मिलकर स्पष्ट शब्दों में कह दिया था कि जया बच्चन और सोनिया गाँधी के मामले में एक जैसा नजरिया अपनाया जाए। राष्ट्रपति को यह बताना पड़ा कि सोनिया गाँधी समेत सभी याचिकाएँ चुनाव आयोग को भेज दी है। इसके बाद ही काँग्रेस में खलबली मची और उसे लगा कि वह घिर गई है। राष्ट्रपति के बाद गेंद चुनाव आयोग के पाले में थी। वहाँ से सिफारिश होने से पूर्व सोनिया गाँधी को राजमाता बनाने का एक ही विकल्प बचा था कि इस्तीफा दिलाया जाए।

बोल्कर मामले में भी काँग्रेस पार्टी के नाम पर लिए गए कूपन और क्वात्रोची का खाता खुलवाने के मामले में सोनिया गाँधी पर सीधे उँगली उठी थी। लेकिन उस वक्त उनकी अंतरात्मा नहीं जगी। लेकिन इस बार उन्हें लगा जब यह एहसास हुआ कि सरकार और संसद बचाने में सप्रंग के कदम बढ़ रहे हैं और यह संदेश जनता के बीच जा रहा है तो इस्तीफा देने की रणनीति बनी। उनका यह निर्णय भावनात्मक नहीं, बल्कि उसे दूरगामी रणनीति का हिस्सा है जिसके तार मध्यावधि चुनाव से लेकर आगामी पाँच विधान सभा चुनावों तक जुड़े हैं और इन चुनावों में काँग्रेस की स्थिति अच्छी नहीं नजर आ रही है।

जो भी हो, लाभ के पद पर भी किसी निर्णय आने से पहले ही इस्तीफा देकर सोनिया गाँधी ने देश के उन 60 से अधिक दिग्गजों के सामने संकट पैदा कर दिया है जो इन्हीं आरोपों के घेरे में हैं। उनके इस्तीफे से जहाँ दिल्ली विधानसभा के अंजलि राय, नरेन्द्र नाथ, राजेश लिलोठिया, अशोक आहूजा, राकेश जैन समेत करीब एक दर्जन काँग्रेसी विधायक ऐसे हैं जिनपर लाभ के पद की तलवार लटक रही है, वहीं काँग्रेस, भाजपा, माकपा, सपा सहित कई पार्टियों के सांसद एवं विधायक लाभ के पद पर हैं जिन्हें सोनिया गाँधी वाला रास्ता अपनाना होगा या अध्यादेश अथवा कानून के जरिए अपने बचाव का रास्ता निकालना होगा।

हिमाचल प्रदेश के 12 विधायकों पर भी यह तलवार लटक रही है और लाभ के पद का यह भूत उत्तराँचल विधान सभा में भी घुस गया है। दरअसल संविधान के अनुसार अगर संसद या विधान सभा का कोई सदस्य लाभ का पद धारण करता है, तो वह सदन का सदस्य नहीं रह सकता। ध्यातव्य है कि जया बच्चन के खिलाफ सबसे पहले एक याचिका कानपुर के काँग्रेस नेता मदन मोहन शुक्ला ने दायर की थी।

सोनिया गाँधी के त्याग पत्र से लाभ के पदों को लेकर उपजा विवाद शीघ्र ही सुलझ जाएगा, इसमें संदेह है, क्योंकि एक ओर जहाँ राज्य सरकारें लाभ के पदों की मनमानी व्याख्या करने में लगी हैं, वहीं दूसरी ओर केंद्र सरकार भी, लाभ के पदों को सुरक्षित रखने के लिए अध्यादेश लाने पर विचार कर रही है। आखिरकार तभी तो उ.प्र. में मुलायम सरकार ने आनन-फानन में लाभ के पदों को सुरक्षित रखने के लिए अपने यहाँ कानून में संशोधन कर जया बच्चन तथा अमर सिंह आदि को बचाने का प्रयास किया, किंतु राज्यपाल ने उस पर अपना हस्ताक्षर करना उचित नहीं समझा और शीघ्र ही चुनाव आयोग ने जया बच्चन की राज्यसभा की सदस्यता रद्द कर दी। केंद्र की सप्रंग सरकार को भी जैसे ही यह अहसास हुआ कि काँग्रेस अपने ही डाले इस जाल में फंस गई है तो हड़बड़ी में अध्यादेश लाने की बेशक कोशिशें हुई जबकि संसद के चल रहे सत्र में ऐसा सोचा जाना लोकतंत्र का अपमान है, लेकिन काँग्रेसियों ने शासन चलाना इंदिरा गाँधी से भी सीखा है जिन्हें संवैधानिक संस्थाओं को पैर की जूती बनाने में मजा आता था। यह अभी भी एक रहस्य है कि सरकार ने संसद के बजट सत्र को अनिश्चितकाल के लिए स्थगित क्यों किया? क्या इसलिए की मनमाफिक अध्यादेश लाकर लाभ के पदों पर बैठे लोगों की रक्षा की जा सके या फिर

विपक्ष को निरूत्तर करने के लिए सोनिया गाँधी अपना त्यागपत्र देकर राजनतिक वाहवाही लूट सकें।

सोनिया का यह कदम राजनीति में शुचिता, त्याग का प्रतीक है या सियासती दांव-पेंचों की कोई कूटनीतिक चाल, यह तो वक्त ही बताएगा, लेकिन इतना जरूर है कि अपने विरोधियों से लड़ने के लिए उन्होंने ठेठ भारतीय हथियारों का चयन किया। इस्तीफा जैसा अमाघ अस्त्र फेंककर उन्होंने जन-भावनाओं को अपने पक्ष में मोड़ने की कोशिश की है। जब कोई नेता नैतिकता के आधार पर त्यागपत्र देता है तो जनता स्वत: उसके पक्ष में खड़ी नजर आती है। हालाँकि बजट सत्र अभूतपूर्व ढंग से अकस्मात स्थगित करके अध्यादेश लाने की खूफिया तैयारियों का पर्दाफाश हो जाने के बाद सोनिया और काँग्रेस का एकमात्र सहारा नैतिक पैतरा ही हो सकता था, इस ख्याल से नैतिकता और त्याग की गोली निगलने के लिए कोई तैयार नहीं है। आखिर तभी तो उत्तर प्रदेश के कौड़ी राम विधानसभा के उप-चुनाव में काँग्रेस की करारी हार हुई। केंद्रीय मंत्री महावीर प्रसाद के संसदीय क्षेत्र बारू गाँव के अंतर्गत आनेवाले इस विधानसभा में सोनिया गाँधी के पद छोड़ने को त्याग और बलिदान बताकर मतदाताओं को रिझाने के सारे प्रयासों के बावजूद काँग्रेस को जहाँ मात्र छह हजार वोट से ही संतोष करना पड़ा वहीं सपा उम्मीदवार को करीब 52 हजार मत मिले। मसलन इस उप-चुनाव में सोनिया गाँधी का त्याग भी काम नहीं आया। हाँ इतना हम अवश्य कह सकते हैं कि बहरहाल, सोनिया गाँधी ने कम से कम एक मायने में स्वयं को अपनी सासू माँ से अलग साबित किया है कि इंदिरा गाँधी ने इलाहाबाद उच्च न्यायालय के फैसले के बावजूद इस्तीफा देने से इंकार कर दिया था। उनकी उस निरंकुश जिद का नतीजा आपातकाल के काले अध्याय में निकला था। सोनिया गाँधी को जैसे ही लगा कि वे अपनी राजनीतिक कमाई खोनेवाली हैं, उन्होंने दुरुस्त कदम उठाया। रायबरेली से सांसद तो वे दुबारा बन ही जाएँगी।

प्रश्न उठता है कि सोनिया गाँधी की उदारता और महानता हर इस्तीफे के समय ही क्यों दिखती है? संवाद के जरिये बिना त्यागपत्र दिए भी तो महान हुआ जा सकता है। इतना तो तय है कि इस पूरे प्रकरण ने सोनिया गाँधी की इस 'विराट' छवि को भी धूमिल कर दिया जो प्रधानमंत्री पद ठुकराकर उन्होंने हासिल की थी। लाभ के पद को लेकर जो भ्रम की स्थिति बनी हुई है उसमें लोकसभा के पूर्व महासचिव और संविधान विशेषज्ञ सुभाष कश्यप का मानना है कि लाभ के पद को लेकर राजनीतिक दलों ने अपने फायदे के लिए भ्रम की

स्थिति बना दी है अन्यथा भारतीय संविधान में लाभ के पद को लेकर स्थिति स्पष्ट है। कौन-कौन से लाभ के पद नहीं हैं, इस बारे में संसद की संयुक्त समिति ने एक सूची बनाई है। श्री कश्यप का कहना है कि संविधान की मूल भावना के साथ सभी राजनीतिक दल खिलवाड़ कर रहे हैं। यह एक तरह से संवैधानिक बेईमानी है। उनका तो यहाँ तक मानना है कि लाभ के पद को निर्धारित करने के लिए कोई कानून बनाए जाने की जरूरत नहीं है।

खैर जो हो, सोनिया गाँधी के दोनों पदों से त्यागपत्र देने और रायबरेली से पुनः चुनाव लड़ने का एलान करने के बाद राष्ट्रीय राजनीति गरमा गई है। लाभ के पद को लेकर उठा विवाद दिन-ब-दिन सारे राष्ट्र को अपनी चपेट में लेता चला जा रहा है और चुनाव आयोग के पास लाभ के पद से संबंधित याचिकाओं की संख्या बढ़ती जा रही है। यद्यपि लाभ के पद के मामले में तकरीबन सभी राजनीतिक पार्टियाँ एक ही नाव पर सवार हैं और वे एक-दूसरे को नैतिकता का पाठ पढ़ा रही हैं। इससे उनकी जगहँसाई ही हो रही है। उन्हें आरोपों-प्रत्यारोपों का सिलसिला छोड़कर लाभ के पदों को नए सिरे से परिभाषित करने का प्रयास करना चाहिए। यदि केंद्र में संप्रग की सरकार जमीनी हकीकतों के मुताबिक आचरण नहीं करती है तो उसे सरकार से भी हाथ धोना पड़ सकता है, क्योंकि मौजूदा विवाद से तमाम समीकरणों के गणित गड़बड़ाने की आशंका है।

विचार दृष्टि, वर्ष : 8, अंक-27, अप्रैल-जून, 2006

◈◈◈

मौजूदा लोकतंत्र में नागरिकों का राष्ट्रीय दायित्व

स्वातंत्र्योत्तरकालीन भारत के संकटपूर्ण लोकतंत्र में देश के प्रत्येक नागरिक के मन में राष्ट्र निर्माण की भावना जाग्रत करने के प्रयास में निहित है। यहाँ के नागरिकों का यह स्वाभाविक राष्ट्रीय दायित्व है और उनके सचेत होने की शर्त भी, क्योंकि लोकतंत्र की वर्तमान परिस्थितियों का विश्लेषण करके देश की जनता को वास्तविकता से परिचित कराना यहाँ के सजग नागरिकों का धर्म है ताकि उसे आधार मानकर भविष्य के राष्ट्र का स्वरूप तय किया जा सके।

मौजूदा लोकतंत्र के तीन स्तंभ– कार्यपालिका, विधायिका एवं न्यायपालिका जब संदेह के घेरे में आ चुके हैं और परिस्थितियाँ देश को खंड-खंड करने पर आमादा हैं तो राष्ट्रीय दायित्व का प्रश्न खड़ा होना स्वाभाविक है, क्योंकि देश को संकटों से घिरा हुआ नहीं रहने दिया जा सकता। उसके लिए कदम-कदम पर सजग होना पड़ेगा। फिर विशृंखलता और अराजकता से भरे इस देश को बचाने के लिए स्वतंत्रता आंदोलन के बलिदानियों एवं राष्ट्रसेवियों का दायित्व भी तो ललकार रहा है। उनके त्याग और बलिदान का भी तो एक परंपरागत मूल्य है जो राष्ट्र निर्माण की पहली सीढ़ी है। मनुष्य जिस देश में रहता है, इस दृष्टि से देश के लिए हर प्रकार का कष्ट उठाना और लोकतंत्र की रक्षा करना उसका कर्त्तव्य बनता है। त्याग, तपस्या और श्रेष्ठ चरित्र से व्यक्ति अपने देश को महान बनाता है। यदि व्यक्ति में ये गुण नहीं हैं, तो भौगोलिक और भौतिक उपलब्धियाँ देश नहीं बना पातीं और न ही इसके लोकतंत्र की रक्षा कर पातीं।

आज़ादी के बाद जब यहाँ लोकतांत्रिक संसदीय पद्धति अपनाई गई, तो देश की राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियों में बहुत बदलाव आया। यहाँ की जनता की आवश्यकताएँ और अपेक्षाएँ बढ़ गईं। जीवन-मूल्यों में काफ़ी परिवर्तन आया। देश के विकास में जनता और सत्ता लग गई। लोकतंत्र आ गया, मगर लगभग तीन दशक के बाद ही सब कुछ उल्टा-पुल्टा होने लगा। जनता में असंतोष फैलने से लेकर बेकारी और भ्रष्टाचार बढ़ने लगा। अराजकता और हिंसा की सीमा न रही। रोटी, कपड़ा और मकान के सब सपने धूल-धूसरित होने लगे। लोक पर तंत्र ही हावी होने लगा। ऐसी विषम स्थिति में यहाँ के नागरिकों का यह दायित्व हो जाता है कि वे सामाजिक शक्तियों के विकास में मानवता को दृष्टि पथ में रखे और जनता को अंदर से टूटने न दे। आज के नागरिकों को

भूले-भटके मध्यम वर्ग को उचित मार्ग पर लाकर खड़ा करने की ज़रूरत है। यही नहीं, उन्हें सच्चे मावन संबंधों को स्थापित करने के साथ-साथ जनता की वास्तविक समस्याओं के प्रति प्रतिबद्ध होने और उनके साथ सामंजस्य स्थापित करना होगा। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि मौजूदा लोकतंत्र में लोक के मन में सामाजिक एवं आर्थिक विषमताओं के प्रति पीड़ा और आक्रोश है और नयी पीढ़ी में अँधकार ही अँधकार है, जिनमें जीवन के प्रति आस्था और विश्वास के अँकुर उगने के लिए बीज बोना है। आज के संतप्त जीवन में अस्तित्व और दायित्व बोध उत्पन्न करने के लिए जनता में चेतना जागरित करने की आवश्यकता है। स्वतंत्र भारत के जीवन की विडंबनाओं के फलस्वरूप उत्पन्न मानसिक पीड़ा, मूल्यभ्रष्टता, व्यक्ति की अनैतिकता, साधारणजन की असहाय स्थिति, कृत्रिमता, संस्कारहीनता, असंतुलन और चारित्रिक विघटन की स्थिति में देश के नागरिकों का यह राष्ट्रीय दायित्व हो जाता है कि जनता को केवल रंगीन कल्पनाओं से नहीं, बल्कि उनकी ज़िंदगी में मिठास और रस घोलने के साथ-साथ खुलकर कटूता से संघर्ष करने के लिए प्रोत्साहित करना है। जीवन की जटिलताओं और दुरुहताओं के बीच जनता की आँखों में भरे आँसूओं को पोंछते हुए रक्त-मांस को चूसने वाले व्यक्तियों को कुचलने के लिए हिंसा मुक्त क्रांति के मार्ग पर ले जाने की आवश्यकता है।

इसके अतिरिक्त सामाजिक न्याय के वास्ते लोगों को जगाने के प्रयास सहित दलित समाज को अपने हक़ की लड़ाई लड़ने और उन्हें जगाने की कोशिश करनी होगी। उनके जीवन में बढ़ते संघर्ष और तनाव की स्थिति, उनके बीच राजनीतिक और आर्थिक विषमताएँ, बेकारी से मुक्ति दिलाने के लिए उन्हें संगठित होने और शिक्षित करना समय का तक़ाज़ा है।

बापू भारत की समग्र चेतना के प्रतिरूपक थे। उन्होंने आख़री आदमी के उत्थान को अपना लक्ष्य बनाया था। उनका कथन था- जब कभी तुम्हारे मन में शंका पैदा हो या अपने ही बारे में ज़्यादा विचार करो तब तुम यह कसौटी अपने सामने रखो और अपने दिल से पूछो कि जो क़दम तुम उठाने जा रहे हो, वह उस मनुष्य के लिए किस प्रकार उपयोगी होगा? इससे यह साफ़ दृष्टिगोचर होता है कि गाँधी जी ने आम आदमी के उत्थान का संकल्प लिया था। क्या आज हम उनके इस आदर्श को भुला नहीं बैठे? सर्वत्र हिंसा, आतंकवाद, कालाबाज़ार, सांप्रदायिकता ग़रीबी, शोषण, निरक्षरता, बलात्कार, धोखाधड़ी, जातिवाद, इर्ष्या-द्वेष का आज जो ताण्डवनृत्य हो रहा है, इन विभिषिकाओं के बीच आम आदमी बलि

का बकरा बना हुआ है। समाज में सड़ाँध पैदा होता जा रहा है। मानवता कराह रही है, संस्कृति पर हमला हो रहा है। ऐसी स्थिति में सजग साहित्यकारों का यह राष्ट्रीय दायित्व हो जाता है कि अपनी लेखनी से ऐसा साहित्य सृजन करें जो मानव-समाज को सुवासित करे और उसका सुवास सांस्कृतिक एकता का प्रतिबिंब बने।

मौजूदा लोकतंत्र में सत्ता की कुर्सी पर बैठे राजनेताओं में सामंती प्रवृत्ति पनप रही है। लोकतंत्र में सत्ता के प्रति सामंती प्रवृत्ति बेहद ख़तरनाक और भयानक सिद्ध होती है। कारण कि सामंती मनोवृत्ति के शासकों की चारित्रिक विशिष्टता यह रहती है कि वे अपने-अपने देश की जनता को सिर्फ़ 'प्रजा' ही बनाए रखते हैं, उनमें लोकतांत्रिक चेतना व संस्कार पैदा नहीं होने देते और उन्हें जाति, संप्रदाय, नस्ल, रंग, वर्ग, वर्ण, भाषा तथा क्षेत्र आदि के ज़रिए उलझाए रखकर शासकोश्रित बनाए रखते हैं। इसी वजह से परिवारवाद या ख़ानदानवाद पनपता है। भारत में केंद्र से लेकर राज्यों तक पनपते परिवारवाद के नए सत्ता संस्करण इसी का प्रतिफल है। इस सामंती मानसिकता से मुक्त होने के लिए यहाँ की जनता में चेतना लाने की ज़रूरत को यहाँ के सजग नागरिक अपने दायित्व से इंकार नहीं कर सकते।

आज के लोकतंत्र में न तो श्रम से रोटी मिल पाती है और न सरकार से सुरक्षा। सारे दलों का चरित्र पूँजीवादी और सत्तावादी है। दल हाईकमान नेताओं की प्राइवेट लिमिटेड कंपनियाँ हैं। ग़रीबी-अमीरी के बीच की खाई रोज़बरोज़ बढ़ती जा रही है। क़ानून अमीरों के पक्ष में और ग़रीबों पर आक्रामक रुख़ अपनाए हुए है। सामाजिक न्याय, संवैधानिक न्याय और वास्तविक न्याय एक नहीं दिखाई पड़ते। आख़िर तभी तो आतंकवादियों, नक्सलवादियों की अदालतें लोकप्रिय हो जाती हैं। राजनीति सत्ता के लिए कुछ भी कर सकती है। ऐसी विषम स्थिति में जनसंग्राम व जनांदोलन से ही सबका हित हो सकता है। इसके लिए यहाँ के नागरिकों का राष्ट्रीय दायित्व हो जाता है कि वे लोगों को इसके लिए तैयार करें। नक्सली एवं आतंकी हिंसा को समाप्त करने के लिए एक ओर जहाँ सभी दलों को विचारनिष्ठ होना होगा, वहीं दूसरी ओर प्रतिभाशाली युवकों में आकर्षित करनेवाली परिवर्तनकामी तेजस्विता लाने का प्रयास करना होगा। यही वक़्त का तक़ाज़ा है और लोकतंत्र का अभीष्ट भी।

मौजूदा लोकतंत्र में सरकार और प्रतिपक्ष दोनों के ही मायने बदल गए हैं। जब वे सत्ता में होते हैं, तो उनका व्यवहार अलग रहता है और जब विपक्ष

में होते हैं तो अलग। हमारे संविधान निर्माताओं ने सदन के कामकाज को लेकर जो मूल्य और आदर्श निर्धारित किए थे वे आज कहीं नज़र नहीं आते। पहली तीन लोकसभा तक तो संविधान-निर्माताओं की भावना के अनुरूप सांसदों ने आचरण किया, लेकिन धीरे-धीरे वह आपसी संवाद और सम्मान समाप्त होता गया, जो पक्ष और विपक्ष के सदस्यों के लिए नितांत ज़रूरी था। आज लोकतंत्र की जो स्थिति विद्यमान है वह देश के सभी लोकतांत्रिक नागरिकों की चिंता का विषय बननी चाहिए, यही समय की माँग है।

नेपाल लोकतांत्रिक व्यवस्था में मज़बूती के साथ प्रगति के पथ पर अग्रसर है। सदियों से नेपाल के तानाबाना को राजशाही परिवार नष्ट कर रहा है। माओवादियों का बढ़ता प्रभाव उसी का प्रतिफल है। राजा को विष्णु का अवतार मानने की परंपरावाले देश नेपाल में क़रीब एक शताब्दी तक तो राणाओं का निरंकुश शासन रहा। फिर सन् 1950 ई. में जब वहाँ की जनता ने राजा त्रिभुवन शाह के नेतृत्त्व में राणाओं के ख़िलाफ़ क्रांति की, तब राणाओं का पतन हुआ। मगर उसके बाद राजशाही व्यवस्था के तहत नेपाल में विकास के जो दक़ियानुसी रास्ते अपनाए गए उससे राजशाही की प्रतिष्ठा धुमिल हुई और जनता का नुक़सान हुआ। नेपाली जनता की भावनाओं की क़दर नहीं की गई।

आवश्यकता इस बात की है कि नेपाल में लोकतंत्र बहाली के बाद जो राजनीतिक व्यवस्था क़ायम है, उसमें राजा को संवैधानिक अहमियत न देकर लोकतांत्रिक संसदीय प्रणाली अपनाई जाए। वैसे भी पिछले 55 साल के दौरान राजशाही हमेशा से भारत के ख़िलाफ़ रहा है। हाइड्रोपावर में सहयोग नहीं करना, चीन और पाकिस्तान को नेपाल में प्रश्रय देना उसका उदाहरण है। नेपाल में इस वक़्त दस से बारह हज़ार माओवादी सक्रिय हैं जिसका भय दिखाकर राजशाही की साख बनाए रखने की एक साज़िश भी वहाँ चल रही है। हालांकि यह भी सच है कि माओवादियों का लगभग आधे नेपाल पर वर्चस्व है और नेपाल नरेश ज्ञानेंद्र के विरूद्ध गठित सात दलों के साझा मोर्चा द्वारा पिछले दिनों जो अहिंसक आंदोलन चलाए गए उसमें माओवादियों का समर्थन निर्णायक था। किंतु सात दलों के गठबंधन से माओवादियों ने अपने को इसलिए अलग कर लिया कि नेपाल नरेश उनके द्वारा संविधान सभा और राजतंत्र के उन्मूलन की माँग को मान्यता नहीं देते। दरअसल जी.पी. कोइराला के नेतृत्त्व में बना गठबंधन चाहता है कि नरेश संवैधानिक प्रमुख बने रहें क्योंकि नेपाल की अधिकांश जनता का राजतंत्र से भावनात्मक लगाव है। भारत के प्रधानमंत्री डॉ. मनमोहन सिंह ने भी कहा है कि संवैधानिक राजतंत्र और बहुदलीय लोकतंत्र नेपाल की राजप्रशासन व्यवस्था

के दो स्तंभ हैं। ऐसी स्थिति में माओवादियों की राजतंत्र समाप्ति की माँग को पूरा करना कठिन होगा और माओवादियों को समाधान से यदि परे रखा गया तो नेपाल में पुन: अशांति और असुरक्षा का परिदृश्य उभर सकता है। इसके मद्देनज़र संविधान सभा का गठन और स्वतंत्र एवं निष्पक्ष निर्वाचन ही एकमात्र समाधान का रास्ता दिखता है, क्योंकि लोकतंत्र के संचालन के लिए जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियों का होना आवश्यक है। असल में लोकतंत्र की मूल भावना इस बात में है कि सत्ता पर एक या कुछ विशिष्टजनों का अधिकार न रहकर सामान्यजन की उसमें सक्रिय भागीदारी हो, किंतु जिस प्रकार भारत के प्राय: अधिकांश राजनीतिक दलों में वंशतंत्र अपनी जड़ें जमाता जा रहा है उसे स्वस्थ और सबल लोकतंत्र की दिशा माना जाना क़तई मुनासिब नहीं दिखता। वैसे मुझे तो ऐसा लगता है कि लोकतंत्र की बहाली की लड़ाई की नेपाली लपट कहीं हमारे दूसरे पड़ोसी देश पाकिस्तान में भी इसकी लौ तेज़ न कर दे। कारण की पाक के दो पूर्व प्रधानमंत्री बेनज़ीर भुट्टो और नवाज़शरीफ़ के लंदन में मिलन और चार्टर फॉर डेमोक्रेसी पर सहमति से ज़रूर खिचड़ी पकने के संकेत मिलते हैं। इन दोनों नेताओं ने एलायंस फॉर रेस्टोरेशन ऑफ डेमोक्रेसी में शामिल होने की बात स्वीकार करते हुए न केवल पाकिस्तान की राजनीतिक और आर्थिक दुर्दशा पर आँसू बहाए, बल्कि देश में लोकतंत्र बहाली के लिए एकजुट होने की क़समें भी खाईं। नि:संदेह इन्हें नेपाल से प्रेरणा मिली है। इन्हें इस बात से भी प्रेरणा लेनी चाहिए कि नेपाल के नागरिकों के अहिंसक आंदोलन से वहाँ लोकतंत्र बहाली के रास्ते पर है।

विचार दृष्टि, वर्ष : 8, अंक - 28, जुलाई-सितंबर 2006

◈◈◈

आतंकवाद के साये में हमारी राष्ट्रीय चेतना

नागरिकों में चेतना जागृत करके ही आतंकवाद पर क़ाबू पाया जा सकता है। किसी भी राष्ट्र की समृद्धि और उसकी स्वतंत्रता को अक्षुण्ण बनाए रखने में वहाँ के नागरिकों की राष्ट्रीय चेतना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है और इस राष्ट्रीय चेतना को बाँधे रखने के लिए वहाँ के लोगों में सांस्कृतिक एवं भावनात्मक एकता के सूत्र होने चाहिए। राष्ट्रीय चेतना कोई निश्चेष्ट भावना नहीं, बल्कि एक अत्यंत गतिमान, उत्तेजक एवं स्फूर्तिदायक चेतना है, जो मनुष्यों के अपने राष्ट्र के उत्थान एवं समृद्धि हेतु संगठित रूप से प्रयास करने के लिए प्रेरणा प्रदान करती है।

दरअसल, इस देश के प्राय: प्रत्येक क्षेत्र के नागरिकों में आज जितनी तेज़ी से राष्ट्रीयता की भावना का ह्रास होता चला जा रहा है उतना पहले कभी नहीं देखा गया था। राष्ट्रीयता की भावना अपने राष्ट्र के गौरवमय अतीत पर गर्व और स्वाभिमान की शक्ति, एकता पर बल- इन सबकी चेतना फैलाने में नागरिकों का योगदान होता है।राष्ट्रीयता ऐसी भावना है जिसका संबंध मनुष्य की अंत:करण और भीतरी चेतना से होता है। 'राष्ट्रीयता' शब्द मनुष्य की स्वाभाविक वृत्तियों में से एक प्रमुख वृत्ति है जिसके कारण मानव अपने राष्ट्र के प्रति प्रगाढ़ प्रेम एवं अभिन्न लगाव रखता है और वह अपने राष्ट्र को सदा समृद्ध एवं उन्नतिशील देखना चाहता है। इसी भावना से प्रेरित होकर व्यक्ति अपने राष्ट्रहित और समग्र समाज-कल्याण के लिए सर्वस्व न्योछावर कर देता है और इस त्याग और बलिदान में एक सच्चा देशभक्त अपने आपको गौरवान्वित महसूस करता है। किंतु आज ऐसा लगता है कि इस देश में राष्ट्रीय चेतना की कमी के चलते आतंकवाद और हिंसा के हम शिकार हैं।

आतंकवाद अब केवल जम्मू-कश्मीर तक सीमित नहीं है, बल्कि इसने भारत के अधिकांश क्षेत्रों को अपनी चपेट में ले रखा है। देश की आर्थिक राजधानी मुंबई को अभी-अभी आतंकवादी धमाकों ने हिला दिया और वहाँ के लोगों का जीवन थरथरा गया। मुंबई के लोकल ट्रेन में बम धमाके और उसके हादसे में वहाँ के दो वर्गों के लोगों को अलग-अलग रूप में देखा गया। एक ओर जहाँ शहर का निम्न-मध्य वर्ग सड़कों पर उतर घायलों की मदद कर रहा था, उन्हें अस्पताल पहुँचा रहा था, उनके परिजनों के आँसू पोछ रहा था, बदहवास

लोगों को भोजन-पानी उपलब्ध करा रहा था और उन्हें धीरज बँधा रहा था, तो वहीं दूसरी ओर शहर का दूसरा वर्ग अपने ड्राइंग रूम में टी.वी. देखने व हादसे पर गंभीर बहस करने में व्यस्त था, फिर डिनर के साथ देश की चिंताओं में ग़मगीन था और यह सोचते-सोचते प्रतिदिन की तरह अपने मख़मली गद्दों में मख़मली चादर ओढ़कर नींद के साथ दिन भर की दिमाग़ी क़वायदों की थकान मिटा रहा था। फिर दूसरे दिन सुबह से रोज़मर्रा के कामों में पहले की तरह वे लग गए, जैसे कहीं कुछ हुआ ही न हो। क्या इस लचीलेपन को भयंकर त्रासदी और उससे उपजी पीड़ा के प्रति संवेदनहीनता नहीं कही जाएगी? होना तो यह चाहिए था कि दूसरे दिन लपककर पुनः उसी लोकल ट्रेन को पकड़ने की बजाय हादसे और हादसे के पीछे चेहरों से लड़ने के लिए उठ खड़ा हुआ जाए। आख़िर हम किस मिट्टी के बने हैं? हमारे देश में रोज़ आतंकी हमले कहीं न कहीं हो रहे हैं और हम अपनी 'बहादुरी' पर ही इतरा रहे हैं। इससे भयानक और लज्जाजनक स्थति और क्या हो सकती है?

दरअसल, हम अपने आस-पास से बेख़बर हम किसी भी तरह की चिंता को अपने से दूर रखना चाहते हैं मानो हम पर किसी मुश्किल का साया भी नहीं पड़ने वाला हो। ऐसा लगता है कि संवेदनहीन होने के साथ-साथ हमारी सामाजिक एवं राष्ट्रीय चेतना मर-सी गई है। जिस समाज में सामाजिक प्रतिबद्धता तथा सामूहिकता का भाव न रह गया हो और जिसमें आसन्न संकटों का सामना मिलकर करने की भावना समाप्त हो रही हो, वह समाज किसी भी तरह की असुरक्षा, आतंक, व्यभिचार और लूट के लिए सबसे कारगर वातावरण उपलब्ध कराता है। हम यह भी भूल चुके हैं कि सामूहिक सजगता ही सरकार और प्रशासनतंत्र को अपने कर्त्तव्यों के प्रति सजग होने के लिए मजबूर करती है। हम यह भी नहीं समझ पा रहे हैं कि धीरे-धीरे हम स्वयं इस आतंक और हिंसा की ज़द में आ रहे हैं और उसका अगला निशाना हम ही हैं। यह आत्महनन का रास्ता है। आत्महनन के रास्ते पर चलती हुई सभ्यता के संदर्भ में रघुवीर सहाय के विचार क़ाबिले ग़ौर हैं; ''लोकतंत्र ने हमें इंसान की शानदार ज़िंदगी और कुत्ते की मौत के बीच चांप लिया है। दोनों के अंतराल की ज़मीन पर लोकतंत्र के उपजाए यथार्थ के तनाव में फँसकर आदमी का मन मरने लगता है। आधा ज़िंदा और आधा मुर्दा मन लिए आदमी 'इंसान की शानदार ज़िंदगी' और 'कुत्ते की मौत' के बीच अपनी जीवनयात्रा जारी रखने को विवश होता है।''

हालांकि यह भी सच है कि इस देश की जनता ने प्राकृतिक आपदाओं के वक्त हिम्मत दिखाई और हौसलाअफ़ज़ाई की है। न जाने कितनी बार यहाँ के नागरिकों ने अपने कर्म से यह साबित कर दिया है कि हम हिंदुस्तानी कुछ अलग ही मिट्टी के बने हैं। आँधी-तूफ़ान चाहे जैसे भी आएँ, फीनिकस पक्षी की तरह हर बार हम अपनी राख़ से जी उठेंगे। आपने देखा नहीं मुंबई हादसे के वक्त भी शहर के एक वर्ग ने विस्फोटों के सिर्फ़ तीन घंटों के भीतर ख़ून देने वालों की लंबी-लंबी क़तारें उन तमाम अस्पतालों के बाहर लग गई जिनमें विस्फोटों से घायल हुए ज़्यादातर लोग भर्ती थे। आधी रात होते-होते अस्पतालों को यह सूचना जारी करनी पड़ी कि सारे ब्लडबैंक पूरी तरह भर चुके हैं और अब उन्हें ज़्यादा ख़ून की ज़रूरत नहीं है। यह इस बात का द्योतक है कि ऐसे विपदा के वक्त हम सभी एक-दूसरे के साथ भाई की तरह पेश आते हैं और हमारी आत्मा बहुत शक्तिशाली हो जाती है। इसी संदर्भ में हरियाणा के हल्देरी गाँव में घटी घटना भी काफ़ी रोमांचकारी है, जिसे यहाँ प्रस्तुत करना यथोचित जान पड़ता है। घटना यूँ है कि एक पाँच साल का वह बच्चा प्रिंस, जो पिछले दिनों खेलते हुए 16 इंच व्यास के 60 फुट गड्ढे में गिर गया और 50 घंटे तक जीवन और मौत से जूझते हुए संघर्ष करता रहा, किंतु ऐसे वक्त सेना के अदम्य साहस, दृढ़ इच्छाशक्ति, आधुनिक तकनीक और इस देश की समस्त जनता सहित दुनिया के करोड़ों लोगों ने उसकी सलामती के लिए दुआ माँगी और अंततः बच्चे को बिना खरोच के बाहर निकालने में सेना सफल रही। इस घटना को टी.वी. चैनलों के ज़रिए लोग देश भर में मंदिरों, मस्जिदों, गुरुद्वारों और गिरजाघरों में प्रार्थनाओं का नज़ारा देखते रहे। सीधे दूरभाष और एसएमएस के माध्यम से लोग टीवी चैनलों पर प्रिंस को शुभकामनाएँ देते रहे। इन दो घटनाओं के आधार पर ही हम कह सकते हैं कि देशद्रोही एवं असामाजिक ताक़तों की कोशिशों को नाक़ामयाब करने में हम सक्षम होंगे, यही है हमारी राष्ट्रीय चेतना और सामूहिक सजगता, जिसके ज़रिए आतंकवाद से मुक़ाबला किया जा सकता है।

दूसरी ओर सच्चाई यह है कि आतंक के सवाल के यथार्थ से हमने अपनी आँखें मूँद ली हैं। आतंकवाद और ख़ास तौर पर सीमा पार से प्रायोजित आतंकी कार्यवाइयों को किस तरह रोका जाए इस मुद्दे पर गंभीरता से विचार नहीं किया जा रहा है। आतंकवाद से लड़ने के लिए न केवल देश के नागरिकों में राष्ट्रीय चेतना जागृत करने की ज़रूरत है, बल्कि राष्ट्रीय सहमति बनाने की

कोशिश भी जरूरी है और पाकिस्तान पर दबाव बनाए रखने के साथ-साथ हमें खुद पर भी भरोसा रखना होगा तथा अपनी आंतरिक सुरक्षा को मज़बूत बनाना होगा, क्योंकि सीमा पार से आतंकवादी कार्रवाइयों को खुले शह का नापाक खेल खेला जा रहा है और हम लगातार शांति प्रक्रिया जारी रखने की बात करते हैं। ऐसा लगता है कि भारतीय नेतृत्व आतंकवाद से मुक़ाबला करने के प्रति आवश्यक प्रतिबद्धता से लैस नज़र नहीं आता। प्रत्येक आतंकवादी घटना के बाद संकल्प और चेतावनी रूपी कुछ शब्दवाण छोड़े जाते हैं, लेकिन यहाँ धरातल के स्तर पर कुछ भी नहीं किया जाता। अभी तक भारत में ज़रूरी इच्छाशक्ति का परिचय भी नहीं दिया है। हम केवल तरह-तरह के भाषणों, बयानों, संकल्पों और प्रस्तावों के ज़रिए आतंकवाद से लड़ने का प्रयास करते हैं और देश लगातार आतंकवाद के साए में जीने को बाध्य होता है। मुंबई में पिछले बम बलास्ट के पीछे प्रतिबंधित सीमी का हाथ बताया जाता है, जो भारत की पंथनिरपेक्षता, संप्रभुता और अखण्डता को स्वीकार नहीं करता। फिर भी इन राष्ट्रद्रोही तत्त्वों से न निपटकर भारतीय राजनीति के अगुआ अपनी तुष्टिकरण नीति के तहत आज भी इन जयचंदों का मानसिक और भौतिक सहयोग कर रहे हैं। वे राष्ट्रहित की तुलना में वोट-बैंक को अधिक महत्त्व दे रहे हैं। ज़रूरत तो इस बात की है कि जो समाज व राष्ट्रविरोधी तत्त्व जिस समुदाय के बीच जाने-अनजाने संरक्षण पाते हैं, उन्हें बेनक़ाब किया जाए। यह तभी संभव है जब समुदाय जागरूकता का परिचय दे और लोगों में राष्ट्रीयता की भावना जागृत की जाए।

पिछले दिनों छत्तीसगढ़ में दंतेवाड़ा जिले के एर्राबोर गाँव में नक्सलियों ने योजनाबद्ध तरीक़े से नरसंहार कर जिस पाशविकता का परिचय दिया वह निंदनीय तो है ही सरकार के लिए चुनौती भी है। जिस तरह से नक्सलियों ने बीस लोगों का गला रेता, तीन को ज़िंदा जलाया और छः को गोली मारी, उससे उनकी क्रूरता और निर्ममता झलकती है। इतना ही नहीं, उन्होंने तीन सौ घरों में आग लगा दी, महिला पुलिस अधिकारी सहित 23 का अपहरण किया और हमले के बाद से 250 व्यक्ति लापता हैं। देश भर में नक्सली हिंसा और उसका आंदोलन कितना व्यापक हो गया है, यह इस तथ्य से साफ़ ज़ाहिर होता है कि इनकी गतिविधियाँ पहले जहाँ13 राज्यों तक सीमित थीं, उसका दायरा बढ़कर अब 21 राज्यों के 160 जिलों तक फैल गया है। इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि पश्चिम बँगाल के नक्सलबाड़ी गाँव से उपजा यह आँदोलन पिछले तीन दशकों में काफ़ी व्यापक रूप ले चुका है। स्वाभाविक रूप से इस राष्ट्रीय समस्या के

यथार्थ पर जब हम नज़र डालते हैं तो इसके पीछे सामाजिक, आर्थिक और भूमि सुधार के अधकचरे प्रयास की विसंगतियाँ तो हैं ही, साथ ही भूमिहीन किसानों और नौजवानों की बेकारी और लाचारी जिसकी ओर केंद्र सरकार को विशेष ध्यान देना होगा। आतंकी और नक्सल से प्रभावित संवेदनशील इलाक़ों की सुरक्षा के लिए सरकार को कड़े क़दम उठाने होंगे।

ऐसी विकट स्थिति में सभी राजनीतिक दलों एवं उसके नेताओं को भी अलग-अलग बयानबाज़ी, एक दूसरे पर आरोप-प्रत्यारोप, अपने-अपने स्वार्थों में खींचातानी, राजनैतिक बेईमानी को अनिवार्यतः त्याग करके एकमतीय निश्चय एवं प्रयास करना होगा। ऐसे वक़्त जब हम राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी, राष्ट्रीय एकता व अखण्डता के प्रतीक लौहपुरुष सरदार वल्लभभाई पटेल, 'जय जवान जय किसान' के प्रणेता लाल बहादुर शास्त्री तथा लोकनायक जय प्रकाश नारायण जैसे महापुरुषों की जयंतियाँ मना रहे हैं, हम सभी देशवासियों का यह राष्ट्रीय एवं नैतिक दायित्व बनता है कि हम अपने राष्ट्रहित से जुड़े कर्त्तव्य का निर्वहन ठीक ढंग से करें। हम अपनी रक्षा तभी कर पाएँगे जब हर स्थिति के लिए हम चौकन्ना रहें और हममें सामूहिक जवाबदेही और सजगता का भाव मज़बूत हो। आतंकवाद और हिंसा से लड़ने के लिए चाहिए सामाजिक एवं राष्ट्रीय चेतना और प्रेम। ऐसा करके ही हम इन महापुरुषों के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि अर्पित कर सकते हैं। भारत सरकार को भी इस आतंकवाद का मुक़ाबला उसी निर्णायक तरीक़े से करना होगा जैसा पंजाब के आतंकवाद को कुचलने में सामने आया था। जबतक आतंकवाद के मूल स्रोतों को नष्ट नहीं किया जाएगा तबतक निर्दोष एवं बेक़सूर लोगों की हत्याओं के सिलसिले को भी पूरी तरह समाप्त नहीं किया जा सकता। अतएव देश के सभी नागरिकों को अपनी मज़हबी संकीर्णता को त्याग कर इंसानियत के रास्ते पर अग्रसर होना होगा और भाईचारे एवं सद्‌भाव का वातावरण बनाने का प्रयास करना होगा तभी आतंकवाद की इस दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति से निपटा जा सकता है।

विचार दृष्टि, वर्ष : 8, अंक-29, अक्टूबर-दिसंबर 2006

◈◈◈

जनता में जागरूकता जगाने की जरूरत

देश की वर्तमान राजनीतिक तथा विकास प्रक्रियाओं पर नजर डालने से ऐसा प्रतीत होता है कि वे सामूहिक पतन के लिए उत्प्रेरक का काम कर रही हैं। आज समाज परिवर्तन तथा विकास प्रक्रिया में निग्रह के स्थान पर शक्ति-संचय, नैतिकता की जगह धन-संपति का अर्जन, मानवता के स्थान पर ज्ञानार्जन, सबकी भागीदारी और सहभागिता की जगह जनोत्तेजन को अधिक महत्त्व देता है। अंत: उसे सामूहिक विवेक के अभाव में भारी कीमत चुकानी पड़ती है। दिन-ब-दिन बढ़ती हिंसा, बलात्कार, अत्याचार, दुराचार, लूट-डकैती, अपहरण, रंगदारी और अशांति की घटनाएँ इस बात के संकेत हैं कि हमारे नैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक मूल्य-मर्यादाएँ ध्वस्त हो रही हैं। परस्पर विश्वास, योद्धा, व्यक्ति-व्यक्ति तथा समुदाय-समुदाय के बीच परस्पर सौहार्द एवं एक दूसरे की चिंता का अभाव इस बात का सूचक है कि सहिष्णुता, न्याय, नैतिकता और सामाजिक समरसता का जो सुपरिचित मार्ग हमारे पूर्वजों, नेताओं, मनीषियों, समाजसुधारकों एवं चिंतक-विचारकों ने दिखाया था, उसे आज के अधिकांश नेताओं तथा देशवासियों ने त्याग दिया है।

दूसरी ओर आम जनता के मन पर अमीर गरीब के बीच बढ़ती खाई, जनसंख्या का तीव्रगति से बढ़ना और जातिभेद के कारण इन दवाबों को कम करने की प्रक्रिया में एक आत्मकेंद्रीत समाज उभरकर आया है। यह समाज केवल अपना संकीर्ण स्वार्थ, अपनी प्रगति तथा अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की परवाह करता है। यह अपवाद नहीं नियम बन गया है, जिसके भारी बोझ से सामान्य नागरिक दबे जा रहे हैं। वे अनुभव करने लगे हैं कि यदि हमने जमता के मन में दूसरों की चिंता करने वाली जीवन-पद्धति में विश्वास न जगाए तो समाज व राष्ट्र बर्बाद हो जाएगा। वैसे भी आज राष्ट्रीयता सीमा, भाषा, जाति, क्षेत्रियता और मजहबी हितों की मोहताज हो रही है। सच तो यह है कि यह स्थिति तब आई जब आजादी के बाद देश के पहरुओं और नेताओं ने अपनी विरासत एवं अपने पूर्वजों द्वारा अर्जित आत्मबोध की ओर से मुँह मोड़ लिया।

इस संदर्भ में यह भी काबिले गौर है कि आजादी के बाद अपने देश को सुचारू ढंग से संचालन के लिए जिस संसदीय लोकतांत्रिक प्रणाली (Parliamentary democratic System) को हमने अपनाई उसमें

व्यक्तियों के तीन हिस्सों शासक, प्रशासक और जनता में बँट जाने से जो प्रक्रिया प्रारंभ हुई वह थमने की बजाय और अधिक विभाजन कर रही है। जनता को भी राजनीति द्वारा इतने वर्गो में बाँट दिया गया है कि नीचे की श्रेणी में आने वाले को आदमी ही नहीं माना जा रहा है। दरअसल असंतोष पैदा करना और उसे बनाए रखकर खास समय में उसके इस्तेमाल के राजनैतिक खेल में जब शासन-प्रशासन शामिल हो जाता है, तब जनता की तकलीफ और समस्याएँ और बढ़ जाती हैं। एक तरफ तो मूल्यों और आदर्शों की बड़ी-बड़ी बातें हो रही हैं, तो दूसरी तरफ जिस वर्ग से नैतिकता की सबसे ज्यादा उम्मीद की जाती है, वही छद्म ओढ़े हुए है। परिणाम यह है कि समाज में हमेशा एक भ्रामक स्थिति बनी रहती है। इस भ्रामकता से कोई अछूता नहीं रह गया है। न शहर और न गाँव ही। गाँव में भी इधर हाल के वर्षों में जो परिवर्तन हुए हैं - उसमें सबसे पहले व्यक्ति के विश्वास की हत्या हुई है और दूसरे कि शहर की सारी गंदगियों के नाले गाँव की ओर मुड़ गए हैं। गली के हर मोड़ पर शराब का बिकना आखिर किस बात का सूचक है। जिस दलान पर ढोल-मंजीरों के स्वर सुनाई देते थे वहाँ बंदूकों की आवाजें गूँज रही हैं। जिस गाँव पर हम-आप कभी नाज करते थे और उसकी खुबियों का बखान करते थकते नहीं थे वह अब गर्व करने लायक कहाँ रहा? राजनीति ने सभी को अपने आगोश में समेट लिया है। स्कूल, पंचायत, प्रखंड समिति तथा जिला परिषद पर कब्जा करने और विरोध का बंदूक से मुकाबला करने का साहस और मनोवृत्ति अचानक नहीं आई। नई पीढ़ी नैतिकताओं का मज़ाक उड़ाकर पैसा बटोरने के धंधों का समर्थन कुछ देख-सुन और सीख कर ही कर रही है। पश्चिम की अपसंस्कृति ने आज समाज को छिन्न-भिन्न करके रख दिया है। आखिर कौन है इसके लिए जिम्मेदार? इस प्रश्न का उत्तर मौजूदा भारतीय समाज के हर सजग, संपन्न और विचारवान नागरिकों को आज खोजने की जरूरत है। सच मानिए यदि आप सजग नागरिकों ने इस ओर से मुख मोड़ा तो आगे आने वाली पीढ़ी आपको भी कभी माफ नहीं करेगी।

समाज के लोगों में आज जिस कदर उदासीनता की घातक मनोवृत्ति देखी जा रही है उससे भी संकट और समस्या उत्पन्न हो रही है और उसका निदान नहीं निकल पा रहा है। दरअसल, जब तक आग व्यक्ति के अपने घर को जलाने नहीं लगती, जब तक उसके खुद के शरीर में खतरे का खंजर नहीं घुस जाता, तब तक वह किसी खतरे को मानता ही नहीं। अकाल हो या सूखा, बाढ़ हो या शीतलहर, अग्निकांड हो या दंगा, घर और सड़क से लेकर देश के स्तर तक यही

मनोवृत्ति कि पड़ोसी मर रहा है, मरने दो, हम तो जिंदा हैं। दंगाइयों की भीड़ पड़ोसी की जान ले रही होगी या फिर चोर-डकैत पड़ोसी के घर डाका डाल रहे होंगे, तो हम दरवाजा बंद करके बैठ जाएँगे। जब दंगाई या डकैत हमारे दरवाजे पर दस्तक देने लगेंगे, तो सामाजिकता, दायित्व और भाईचारे की दुहाई देकर गुहार लगाएँगे। यह स्थिति परिवार, पड़ोस, गाँव, शहर सभी स्थानों में देखी जा रही है। वही खंडित मनोवृत्ति, विभाजित भावना और अलग-अलग जीने का अंदाज। समाज के लोग अपने-आप में सिमटते जा रहे हैं। इसी मनोवृत्ति की वजह से तो इस देश के निवासियों का सुख, वैभव, आत्म-सम्मान और आजादी कुछ मुट्ठी भर हमलावरों एवं कुछ सौदागरों ने सब कुछ छीन लिया था और सैकड़ों साल तक शासन भी किया।

सच कहा जाए तो सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि शासक प्रवृत्तियाँ मानसिक बनावट को जिस प्रकार जड़वत स्थिति में बनाए रखना चाहती हैं, उसमें हस्तक्षेप करने वाली बहुत थोड़ी होती हैं। उनकी पहुँच समाज के बड़े हिस्से तक तब तक नहीं हो पाती, जब तक कि वे शक्तियाँ एवं आंदोलन के रूप में स्वयं को विकसित नहीं कर लेती हैं। वैसे वास्तव में प्रकृति में भी एक स्वाभाविक आंदोलन होता है। मानव आंदोलन भी प्रकृति की तरह ही एक गति प्रदान करने के बाद स्वत: चलते और विकास करते रहते हैं और अगर वह शिथिल हुआ तो स्वत: ही उसके अंदर से एक या अनेक अन्य गतिमान शक्तियों का उदय होगा। इस देश में इस सिद्धांत के अनुरूप न केवल आने वाले दिनों में, बल्कि आज भी उन गतिमान शक्तियों का उदय होते देखा जा रहा है, क्योंकि पानी अब सिर से ऊपर चढ़ने लगा है। आपको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि राष्ट्रीय राजधानी नई दिल्ली सहित देश के अनेक राज्यों की राजधानियों में गठित ऐसी गैर-सरकारी स्वैच्छिक संस्थाओं के रूप में उन गतिमान शक्तियों का उदय हुआ है जिसके द्वारा एक मन के लोगों और समान धर्मी संस्थाओं की शक्तियों को एकत्रित कर उनके सामूहिक निर्णय के पश्चात साझे कार्यक्रमों को मूर्तरूप देने का प्रयत्न किया जाता है ताकि समस्याओं का समाधान हो सके।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि ऐसी संस्थाएँ समाज के सजग लोगों को देश व समाज की ज्वलंत समस्याओं पर विचार-विमर्श के लिए एक अच्छा खासा मंच प्रदान करती हैं। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि विचारों से ही व्यक्ति एक दूसरे के निकट आता है, विश्वास बढ़ता है और एक दूसरे

को सहयोग करने की भावना का उदय होता है। विचारों का साम्य समाज की सामूहिक प्रगति के लिए जरूरी है। कभी हम दूसरों के विचार से प्रभावित होते हैं, तो कभी हमारे विचारों से दूसरे भी प्रभावित होते हैं। विचारों की संप्रेषणियता का अपना महत्त्व है, क्योंकि विचारों का जन्म हमारे मस्तिष्क में निरंतर होता रहता है, लेकिन उन विचारों को अनूकूल समय पर ही व्यक्त करना बुद्धिमत्ता का परिचायक है, तभी उसका प्रभाव दूसरे पर पड़ता है। शालीनता, सादगी, सात्विकता, सहृदयता, उदारता आदि गुण उत्कृष्ट विचारों के ही परिणाम हैं। ऐसी संस्थाएँ इन्हीं उत्कृष्ट विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम होती हैं, क्योंकि इनके जरिए अधिक से अधिक विशिष्ट, सुलझे एवं सुधिजनों का सान्निध्य प्राप्त होता है और इनके मंचों से व्यक्त विचार समाज व देश को स्वस्थ्य एवं सबल बनाने की प्रक्रिया के दौरान उपभोगी सिद्ध होते हैं, क्योंकि ये विचार जनमानस को झकझोरते और आंदोलित करते हैं।

इस संदर्भ में एक और बात की यहाँ चर्चा करना प्रासंगिक होगा कि मौजूदा दौर में सभी धर्म, जाति, वर्ग, क्षेत्र, भाषा, व्यवसाय या विचार के लोग स्वयं को विशिष्ट और दूसरों को निष्कृष्ट समझते हैं। कोई यह स्वीकारना नहीं चाहता कि उसके संकट स्वयं उसकी अपनी कमजोरी की वजह से भी हो सकते हैं। सब अपना गुणगान कर रहे हैं, सब अपनी खाज छिपा रहे हैं, दूसरों की खुजली की ओर इशारा कर रहे हैं, पर कोई अपने गिरेबान में झाँकना नहीं चाहता, कोई अपने श्रेष्ठताबोध की निकृष्टता को नहीं पहचानना चाहता। सभी अपने-अपने पूर्वाग्रह और दुराग्रह गले में लटकाए रहते हैं। ये सब एक बीमार समाज और भटके हुए लोकतंत्र के लक्षण हैं। इधर एक चीज और देखने को मिल रही है कि समाज के अधिकांश लोग इस आपाधापी के युग में इतने स्वार्थी और एकांगी होते जा रहे हैं कि कुछ कहना नहीं। सामाजिक मानसिकता और समाज के प्रतिबद्ध लोगों को ऐसे स्वार्थी लोगों पर दया इसलिए आती है कि जब उन्हें अपना काम लेना होता है तो समाजसेवियों की चाटूकारिता करने में कुछ भी छोड़ नहीं रखते हैं, लेकिन सामाजिक कार्यों के वक्त जब उन्हें याद किया जाता है, तो वे कहीं नजर नहीं आते। दरअसल ऐसे स्वार्थी एवं चाटुकार लोगों में हया की भी कमी हो जाती है और सम्मान से तो खैर, उन्हें दूर-दूर तक उनका कोई वास्ता नहीं रहता। यही कारण है कि ऐसे लोगों को आज के दौर में और अधिक दुःख, तकलीफ एवं पीड़ा से गुजरना पड़ रहा है। जिन संस्थाओं की चर्चा की जा रही है उनके लोग भी अपनी समझदारी में आत्म विश्लेषण और आत्मालोचन करते वक्त इन बातों

को ख्याल रखें अन्यथा समाज के जरूरतमंद, ईमानदार, निष्ठावान लोग उनकी सेवाओं से वंचित हो जाएँगे और स्वार्थी लोग बाजी मार ले जाएँगे। यही कारण है कि समाज के बूरे, बेईमान, चोर उच्चके, तस्कर तथा धन-पशु एवं बाहुबली महिमा मंडित हो रहे हैं और निष्ठावान, प्रतिभावान, ईमानदार तथा नेक इरादे रखने वाले लोगों की अनेदखी की जा रही है और वही आज के दौर में ज्यादा पीड़ित हैं। हालाँकि यह सत्य है कि जो लोग केवल स्वार्थ की बात सोचते हैं कुछ समय तक तो वे ठीक रह सकते हैं, किंतु अवस्था परिवर्तन के बाद उन्हें बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। लब्बोलुआब यह कि जिस प्रकार स्वतंत्रता सग्राम के दिनों में राजनीति ही हमारी प्राथमिकता थी, उसी प्रकार आज के दिन हम देशवासियों का अपनी सेवा अथवा व्यवसायिक सीमा में रहते हुए और अपने-अपने कार्यों को यथावत करते हुए यह राष्ट्रीय एवं सामाजिक दायित्व बनता है कि हम अपनी जिम्मेदारियों के प्रति और संवेदनशील हों और सामाजिक सरोकारों को ज्यादा महत्त्व दें। भारत जैसे विकासशील देश का समाजिक ढाँचा ऐसा है कि सारी चीजें न तो सरकार कर सकती हैं और न उसके द्वारा बनाए गए कानून ही सामाजिक समस्याओं का समाधान निकाल सकते हैं। ऐसी स्थिति में जरूरत इस बात की है कि सारी चीजें समग्र रूप से सोची जाएँ और इन पर गंभीर चिंतन किए जाएँ।

हम देशवासी आखिर क्यों आत्मकेंद्रीत (Self Centered) होते जा रहे हैं? इस सवाल के जवाब हैं राष्ट्रीय तथा राज्य स्तर पर गठित कई ऐसी संस्थाएँ, जो हमें घरौंदे को संसार मानकर जिंदगी जीने का अँदाज बदलने की प्रेरणा देती हैं, पड़ोसी के घर में आग लगी आग को बुझाने का प्रोत्साहन देती हैं और अलग-अलग रहकर मरने की अपेक्षा एकात्म होकर सम्मान की जिंदगी जीने की ओर हमें अग्रसर करती हैं। मिली-जुली कार्य संस्कृति को विकसित करने तथा समाज को सही दिशा प्रदान करने में प्रयासरत संस्थाओं से जुड़कर समाज के सजग एवं सुलझे लोग सुख के साथ-साथ आम जन के बोझिल दु:ख को भी बाँटने का प्रयत्न करें, यही समय की माँग है। इतिहास भी साक्षी है कि बहेलिए के षड्यंत्रपूर्ण जाल को खगवृंद ने सामूहिक प्रयास से उड़ाकर विफल किया था। खगवृद के सामूहिक प्रयास ने ही सभी पक्षियों की जान बचाई थी। समाज व देश की समस्याओं के साथ भी यह बात लागू हो सकती है। क्यों न हम अपनी चुनौतियों का मुकाबला मिल-जुलकर करें और अपने तथा समाज के हित के प्रति चेतना उत्पन्न करने का प्रयास करें? ऐसा करके समाज के विचारवान एवं सजग नागरिक न केवल अपने राष्ट्रीय एवं

सामाजिक दायित्व का निर्वहन कर पाएँगे, बल्कि यह उनकी गरिमा के अनुरूप भी होगा।

वैसे भी सच कहा जाए तो आज व्यक्ति अपनी पहचान खोता जा रहा है और दिन-ब-दिन बढ़ते उपदेशकों के उपदेश व प्रवचन भी समाज को सुधारने में कारगर सिद्ध नहीं हो पा रहे हैं। भारत में लोगों ने राजनेताओं की बातों को गंभीरता से लेना बंद कर दिया है। राजनेताओं के भाषण की भाँति उनके उपदेशों का भी जनता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ रहा है। इस दृष्टिकोण से खुद की पहचान जरूरी है और खुद की पहचान के लिए व्यक्ति को अपने में विश्वास जगाना होगा, कारण कि आज आदमी आत्मविश्वास भी खो बैठा है। इस विश्वासहीनता की वजह से आज आदमी संघर्ष से डरता है। दूसरों की उसे कोई चिंता नहीं। वह स्वार्थी हो गया है। सकारात्मक सोच के कवि डॉ. देवेन्द्र आर्य की ये पंक्तियाँ आज के ऐसे स्वार्थी लोगों की आँखें खोलती हैं -

'जिंदगी छोटी बड़ी मत सोचिए
हो सके तो प्यार की बातें करो
आज तक अपने लिए जीते रहे
हो सके तो और की बातें करो।'

इस दृष्टिकोण से आज जरूरत है निषेधात्मक भावों से अप्रभावित रहने का संकल्प लेकर अपने भीतर झाँकने की, भावों का दर्पण सामने रखकर अपना चेहरा देखने की, वह भी चेहरा बाहरी नहीं भीतरी और पुरुषार्थ का दरवाजा खटखटाने की जिसके लिए इच्छाशक्ति जरूरी है।

'विचार दृष्टि' का नौवें वर्ष में प्रवेश

दिल्ली से प्रकाशित राष्ट्रीय चेतना की वैचारिक पत्रिका 'विचार दृष्टि' ने अपने आठ वर्ष सफलतापूर्वक पूरे कर नौवें वर्ष में प्रवेश किया है। यह राष्ट्रीय चेतना की वैचारिक संस्था 'राष्ट्रीय विचार मंच' का मुख पत्र है। अपने आठ साल की अवधि में इसने कितने उतार-चढ़ाव देखे, पर न तो कभी यह अनियमित हुई और न इसका कोई संयुक्त अंक निकला। यह इस बात का द्योतक है कि इसके संपादक-मंडल की निष्ठा, लगन और सक्रियता काम आ रही है और इसका श्रेय इसके पाठकों एवं लेखकों को जाता है। मैं तहेदिल से इन सबों के प्रति शुक्रगुजार हूँ।

यह पत्रिका पूरी तरह अव्यवसायिक है। इसका मकसद लाभ कमाना नहीं, अपितु समाज व साहित्य को मानसिक खुराक प्रदान करने के साथ-साथ आम

जन में राष्ट्रीय चेतना जाग्रत करना है। पाठकों एवं लेखकों से यह अपेक्षा की जाती है कि इन उद्देश्यों के मद्दे नजर समय-समय पर पथ-प्रदर्शक की भूमिका निभाते हुए इसकी कमियों व कमजोरियों की ओर इसका ध्यान अवश्य आकृष्ट कराते रहें।

हमने क्षेत्रवाद की दीवारों को ध्वस्त कर उत्तर और दक्षिण के बीच की खाई को दूर करने की कोशिश की है। भाषा के सवाल पर की जा रही राजनीति से दूर रहकर पाठकों एवं लेखकों को राष्ट्रभाषा हिंदी को संपर्क भाषा बनाने एवं उसे समृद्ध करने के साथ-साथ सभी भारतीय-भाषाओं के उन्नयन की लगातार कोशिश की है। इसके साथ ही समय, समाज व देश के ज्वलंत मुद्दों पर विश्लेषणात्मक और विवेकपूर्ण आलेख प्रकाशित कर इसने लोगों के अनुभव और चिंतन के बीच पहुँचकर उन्हें झकझोरने और आँदोलित करने का प्रयास किया है। समाचार-विश्लेषण के क्रम में यह निर्वैयक्तिक होकर बिना पूर्वाग्रह के उपलब्ध तथ्यों के आधार पर तर्क के माध्यम से समाचार का सम्यक विश्लेषण करने में सदैव सतर्क और चौकस है। देश व समाज के उत्थान के लिए खरी से खरी तथा सही बातें कहने में यह पत्रिका कोताही नहीं करती, क्योंकि हमें यह विश्वास है कि प्रजातंत्र का भविष्य पत्र-पत्रिकाओं की निश्पक्षता, निर्भीकता और मजबूती से ही उज्ज्वल हो सकता है। यही कारण है कि समाज की रूढ़ियों एवं अँधविश्वासों पर हमला करने, राजनीतिक दलों एवं उनके नेताओं की पोलें खोलने और समाज विरोधी तत्त्वों एवं देशद्रोही ताकतों के विरूद्ध आवाज उठाने में यह पत्रिका कभी कँजूसी नहीं करती और इसी क्रम में यह प्रबुद्धजनों को नकली कुहासेवाले खोल से बाहर लाकर और उनके सोचने का अंदाज बदलकर वैचारिक क्रांति लाने का प्रयास करती है तथा पाठकों को सस्ती एवं मसालेदार चीजें न परोसकर एक अच्छी खासी और स्तरीय मानसिक खुराक प्रदान कर रही है। यह पत्रिका नवोदित रचनाकारों को प्रोत्साहित करती है। यह पत्रिका अपने दायित्व के निर्वहन कर उद्देश्यों के अनुरूप नियमित रूप से प्रकाशित होती रहे इसके लिए जरूरी है कि पाठकों एवं लेखकों का अपेक्षित सहयोग इसे मिलता रहे तथा इसके सदस्य अपनी सदस्यता का नवीनीकरण कराकर अपनी सहृदयता एवं उदारता का परिचय दें। नववर्ष पर सभी पाठकों, लेखकों एवं शुभच्छुओं को 'विचार दृष्टि' की ओर से हार्दिक शुभकामनाएँ।

विचार दृष्टि : वर्ष - 9, अंक-30, जनवरी-मार्च, 2007

◈◈◈

भाषाई गुलामी से कब होगा मुक्त हमारा राष्ट्र

बात की जाती है हिंदी को विश्व-संस्था संयुक्त राष्ट्र में स्थान दिलाने की। मुझे तो लगता है कि जब हमारा अपना ही राष्ट्र परतंत्र की भाषा अँग्रेजी के जाल में बुरी तरह जकड़ा हुआ है तो विश्व-संस्था में हिंदी को स्थान दिलाने की बात बेमानी लगती है। इस संदर्भ में यहाँ यह कहना कदाचित अनुचित नहीं होगा कि सर्वसत्ता संपन्न हमारा लोकतांत्रिक गणराज्य का स्वरूप महजं कागजी बनता जा रहा है, कारण, इस गणराज्य की अभिव्यक्ति स्वभाषा में न होकर विदेशी भाषा अँग्रेजी में हो रही है। इसकी अभिव्यक्ति और परिणति अभी भी भाषाई गुलामी का शिकार है।

कहना नहीं होगा कि फ्रेंच, जर्मन, स्पैनिश और रूसी भाषा संयुक्त राष्ट्र की अधिकृत भाषा है, जबकि सच्चाई यह है कि फ्रांस, जर्मनी, स्पेन और रूस में इन भाषाओं के बोलने-समझने वालों की तुलना में न केवल हिंदी, बल्कि तमिल, तेलुगु तथा बांग्ला इन तमाम भारतीय भाषाओं के बोलने-समझने वालों की संख्या अधिक है, फिर भी हमारी ये भारतीय भाषाएँ विश्व संस्था संयुक्त राष्ट्र में स्वीकृत नहीं हैं। हिंदी तो विश्व में सबसे अधिक बोली और समझी जाने वाली भाषा है, लेकिन संयुक्त राष्ट्र में वह मान्यता प्राप्त नहीं है।

दरअसल हम अभी तक अँग्रेजी की गुलामी का जुआ उतार फेंकने में इसलिए समर्थ नहीं हो पा रहे हैं, कि आजादी के बाद भी जिन लोगों पर अँग्रेजियत का भूत सवार है उन लोगों के लिए स्वभाषा का प्रयोग हीनता का प्रतीक बन गया है। हमारे देश के जो अंग्रेजी है उनमें स्वाभिमान की भावना न होकर हीनता का भाव भर गया है। यही कारण है कि दुनिया भर में प्रत्येक देश के महत्त्वपूर्ण लोग औपचारिक एवं महत्त्वपूर्ण अवसरों पर जहाँ अपनी भाषा का प्रयोग करते हैं, वहीं हमारे देश के राजनेता सहित नौकरशाह तथा महत्त्वपूर्ण पदों पर बैठे लोग अपने देश की स्वभाषा में बोलना पसंद नहीं करते हैं, वे अँग्रेजी भाषा का ही धड़ल्ले से प्रयोग करते हैं, क्योंकि वे अँग्रेजी भाषा से ही चिपके रहने में गर्व महसूस करते हैं। हिंदी अथवा अन्य भारतीय भाषाओं को वे आम आदमी की भाषा समझकर उन्हें अपनी गरिमा के अनुरूप नहीं समझते हैं। आपने देखा नहीं देश में गठित ज्ञान आयोग के अध्यक्ष सैम पित्रोदा ने पिछले दिनों प्रधानमंत्री डॉ. मनमोहन सिंह को पत्र लिखकर सलाह दी है कि देश भर के

विद्यालयों में प्राथमिक कक्षा से ही अँग्रेजी की पढ़ाई अनिवार्य कर दी जाए। उन्होंने तर्क यह दिया कि ज्ञान के क्षेत्र में मौजूदा दौर में जैसी प्रतिस्पर्धा चल रही है उसमें हमारे देश के युवा अँग्रेजी के सम्यक् ज्ञान के अभाव की वजह से पिछड़ रहे हैं। निश्चित रूप से सैम पित्रोदा की यह अभिव्यक्ति पाश्चात्य सोच पर आधारित है जो मात्र तकनीकी विकास को ज्ञान मानने वाली अवधारणा है, भारतीय आधारित नहीं। तकनीकी विकास ने ज्ञान की सोच को अत्यधिक सीमित कर दिया है।

राष्ट्र का अर्थ सरकार नहीं होता। भूमि और संस्कृति के प्रति सर्वोपरि आग्रही श्रद्धा से राष्ट्र बनते हैं। जिस प्रकार राष्ट्र विरोधी तत्त्वों को कुचलने और नागरिकों की हिफाजत से सरकार के जिंदा या मुर्दा होने की पहचान होती है, उसी प्रकार स्वभाषा तथा अपनी संस्कृति से भी राष्ट्र की पहचान बनती है। सैम साहब ने संभवत: स्वभाषा तथा भारतीय संस्कृति की अनदेखी कर मात्र तकनीकी ज्ञान की दौड़ में पीछे रह जाने के भय से भयभीत हैं। हालांकि तकनीकी विकास के भाषा से प्रभावित होने का जहाँ तक संबंध है देश की संचार सेवा अँग्रेजी भाषा से प्रभावित जरूर है, लेकिन ऐसा नहीं कहा जा सकता कि भाषा के मामले में वह अँग्रेजी पर निर्भर है, क्योंकि विश्व की तमाम भाषाओं सहित समस्त भारतीय भाषाओं में संचार तकनीकी का अद्यतन स्वरूप उपलब्ध है।

इस देश में जहाँ सौ करोड़ से अधिक लोग रहते हैं उनमें से मात्र पाँच प्रतिशत लोग ही ऐसे हैं जो सैम पित्रोदा जैसे लोगों की तरह अँग्रेजी की प्राथमिकता के प्रति प्रतिबद्ध होंगे। अब तो स्थिति यह होती जा रही है कि जन राज्यों के वोट बैंक को रिझाने या तुष्टीकरण के लिए हिंदी को केंद्रीय सरकार की राजभाषा को भाषा के रूप में स्वीकार करने की बजाय अँग्रेजी को अनिश्चित काल तक राजभाषा रखने का प्रस्ताव संसद द्वारा स्वीकार किया गया था, आजकल उन्हीं राज्यों में अँग्रेजी हटाओ का नारा बुलंद हो रहा है, क्योंकि वहाँ के स्वस्थचित्त लोगों ने यह महसूस किया कि बिना स्वभाषा अथवा मातृभाषा के ज्ञान के बच्चों को अनुभूति संबंधी नींव खोखली होती जा रही है। आपने देखा नहीं तमिलनाडु के मुख्यमंत्री करुणानिधि की सरकार ने पिछले दिनों मद्रास उच्च न्यायालय से यह अपेक्षा की कि वह अपनी कार्यवाही तमिल भाषा में संपन्न करे। और तो और स्वयं करुणानिधि द्वारा तमिलभाषा में लिखी पुस्तकों का अन्य भारतीय भाषाओं सहित हिंदी में अनुवाद कराने का कार्यक्रम जोर-शोर से चल रहा है। इन राज्यों के राजनेताओं को यह भी अहसास हो गया है कि बिना हिंदी

बोले-समझे वे अखिल भारतीय स्तर के न तो नेता बन सकते हैं और न केंद्र सरकार पर विराजमान हो सकते हैं। नरसिम्हा राव केंद्र में यदि प्रधानमंत्री के पद पर आसीन हुए भी तो और कारणों के अतिरिक्त कई भारतीय भाषाओं का ज्ञान भी उनमें से एक कारण रहा। फिर इसी प्रकार जब एच.डी. देवगौड़ा भारत के प्रधानमंत्री हुए, तो हिंदी सीखने और समझने की उनकी बेताबी देखने लायक रही। करुणानिधि के पहले जयललिता ने भी तमिलनाडु के सभी विद्यालयों में प्राथमिक शिक्षा मातृभाषा में देने का आदेश निर्गत किया था, हालांकि उसे मद्रास उच्च न्यायालय द्वारा अवैध घोषित कर दिया गया था। फिर करुणानिधि ने नए सिर से मद्रास उच्च न्यायालय को घेरना प्रारंभ कर दिया है। इधर कर्नाटक में भी विद्वज्जनों ने कन्नड़ की अनिवार्य शिक्षा का सवाल उठाया है और सरकार को बाध्य किया है कि वह कन्नड़ को अनिवार्य करे। उर्दू के प्रचलन से आँध्र प्रदेश में तो वहाँ के लोगों को हिंदी बोलने-समझने में न तो कोई कठिनाई होती है, और न कोई अड़चन। आखिर तभी तो वहाँ की राजधानी हैदराबाद में 'स्वतंत्र वार्त्ता', 'हिंदी मिलाप' और 'दक्षिण समाचार ' जैसी हिंदी के समाचार-पत्र नियमित रूप से प्रकाशित हो रहे हैं और वहाँ हिंदी बोलने-समझने वालों की संख्या काफी है।

इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि पूरे विश्व में अँग्रेजी भाषा का प्रयोग बढ़ा है। जिस यूरोप ने कभी अँग्रेजी भाषा को अपनी धरती पर पैर रखने नहीं दिया वहाँ यूरोपीय संघ बनने के बाद अँग्रेजी, फ्राँस, जापान जैसे विकसित देशों में जहाँ कभी अँग्रेजी का प्रयोग वर्जित था, वहाँ व्यापार के लिए अँग्रेजी धड़ल्ले से व्यवहार में आने लगी है। इससे यह पता चलता है कि सिर्फ व्यापार के लिए अँग्रेजी भाषा मात्र बाजार की भाषा बनती जा रही है और बाजार की भाषा न तो कभी ज्ञान की भाषा हो सकती है और न अधिक दिनों तक टिकाऊ हो सकती है, क्योंकि पहले केवल काम चलाने के लिए होती है। पिछले वर्षों में हमें यह भी देखने को मिला है कि जब मारवाड़ी व्यापार पर हावी थे तो सारे देश में मड़िया लिपि का प्रयोग खूब होता था, किंतु अब शायद ही कहीं उस लिपि का प्रयोग होता है। इस प्रकार देखा जाए तो बाजार की भाषा कभी भी टिकाऊ नहीं होती है।

आश्चर्य तो तब होता है जब इस देश में कुल आबादी के मुश्किल से पाँच प्रतिशत लोग ही अँग्रेजी का प्रयोग करते हैं, यहाँ तक कि संसदीय लोकतांत्रिक पद्धतिवाले इस देश की सर्वोच्च संवैधानिक संस्था संसद तथा विधान मंडलों में यहाँ की जनता का प्रतिनिधित्व करने वाले एक प्रतिशत ही ऐसे

लोग होंगे जिन्हें अँग्रेजी कहा जा सकता है, फिर भी अँग्रेजियत का भूत देश के संचालकों पर सवार है, मैं यह नहीं कहता कि भारतीय भाषाओं के अतिरिक्त अँग्रेजी भाषा का ज्ञान होना खराब है। मगर इतना तो जरूर है कि अपनी ही भाषा में अपनों को समझा जा सकता है। इसीलिए हिंदी सहित सभी भारतीय भाषाओं का उन्नयन आवश्यक है। स्वभाषा ने केवल राष्ट्र के लोगों को वहाँ की मुख्य धारा से जोड़े रखती है, बल्कि वहाँ का साहित्य, वहाँ की संस्कृति और वहाँ के धर्म को भी जिलाए रखती है। इसलिए भाषायी गुलामी से मुक्ति आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। पर पता नहीं कब हमारा राष्ट्र इस भाषाई गुलामी से मुक्त हो पाएगा।

हिंदी काव्य, हिंदी साहित्य दर्शन विज्ञान, प्रीति और प्रेम की सहज अभिव्यक्ति है, यह व्यापार की सशक्त भाषा नहीं हो सकती। हिंदी राष्ट्रभाषा व राष्ट्रीय अभिव्यक्ति है। इन्हें रोजगारपरक बनाना राज्य व्यवस्था का काम है, मगर दुःखद स्थिति यह है कि जो केंद्र सरकार स्वयं अंतरराष्ट्रीय बाजार की सामान्य प्रबंधक बनी हुई है, उससे क्या उम्मीद की जा सकती है?

विचार दृष्टि, वर्ष : 9, अंक-31, अप्रैल-जून, 2007

◈◈◈

देश में बढ़ती धार्मिकता या आदमी की बीमार मनोवृत्ति

कहा जाता है कि इस देश की सौ करोड़ से अधिक आबादी में 40 करोड़ से ज्यादा लोग बेहद धर्म-परायण हैं और 50 करोड़ से ज्यादा लोग धार्मिकता की तरफ कुछ न कुछ झुकाव रखते हैं यानी धर्म-कर्म में विश्वास रखने वालों की संख्या 90 करोड़ से ज्यादा है। इसकी संपुष्टि इस बात से भी होती है कि धर्माधिकारियों, सन्यासियों तथा धर्म के ठिकेदारों द्वारा देश के विभिन्न क्षेत्रों में आयोजित धर्म सम्मेलनों, प्रवचनों, उपदेशों आदि में श्रद्धालुओं एवं भक्तों की संख्या हजारों में नहीं, बल्कि लाखों में होती है। यही नहीं, पर्व-त्योहारों, धार्मिक अनुष्ठानों तथा कुछ विशेष तिथियों एवं अवसरों पर वैष्णव देवी, देवघर, हरमंदिर, तिरूपति, म.प्र. के राजिम कुंभ, इलाहाबाद कुंभ, महाबालेश्वरम् 'कुंभकोणम' मक्का-मदीना, केदारनाथ, बद्रीनाथ जैसे धार्मिक स्थलों पर जाकर लाखों की तादाद में इस देश के लोग पूजा-अर्चना करते हैं। यह इस बात का द्योतक है कि यहाँ के लोग अधिक से अधिक संख्या में धार्मिक होते जा रहे हैं।

धर्म की सामान्य परिभाषा है -धारयते इति धर्म: अर्थात् जो समाज धारण करता है, बेहतर ढंग से चलाए रखता है वह धर्म है। यानी बुराइयों से दूर रहना, संवेदनशील होना, परोपकारी भाव रखना, दया, धर्म, क्षमा, करुणा, प्रेम जैसी प्रवृत्तियाँ बढ़ रही है? और यदि सद्प्रवृत्तियाँ बढ़ रही हैं तो प्रश्न उठता है कि घर से बाहर कदम रखते ही हर तरफ दुष्प्रवृत्तियाँ ही क्यों पांव पसारे दिखती हैं? यह कैसी धार्मिकता है कि मंदिर में घंटा बजाते और मस्जिद में पाँचों वक्त नमाज़ अदा करते लोग भी व्यवहार की दुनिया में एक दूसरे के खिलाफ नफ़रतों का समंदर लिए फिरते हैं? बढ़ती हुई धार्मिकता का क्या लाभ, जबकि समाज में भले आदमी का जीना, मुश्किल होता जा रहा है? उफनती धार्मिकता के इस दौर में जिंदगी कहीं ज्यादा तनावग्रस्त हो गई है और समाज निरंतर असुरक्षा में सांस ले रहा है। आम लोगों को परिस्थितियों से जूझने या ठंडे दिमाग से विचार करने की बजाय मर जाने की तरफ धकेला है। तेजी से दौलत कमाने की होड़ व भोग-विलास की संस्कृति लोगों में अवसाद व आत्महत्या की प्रवृत्ति बढ़ा रही है। जल्दी से जल्दी और ज्यादा से ज्यादा पैसा कमाने का लोभ और ऐशोआराम का जीवन इन्हें इस कदर आकृष्ट करता है कि उनकी सोचने-समझने की क्षमता

पर जैसे पर्दा पड़ जाता है। कठिन परिश्रम करने वालों की चर्चा करने की बजाय अब लोग अधिक धन कमाने वालों से प्रभावित हो उन्हें ही अपना आदर्श मानते अधिक दिखते हैं और लोगों में तर्क एवं विवेक की क्षमता को कुंद करने के साथ ही अय्याशो, विलासिता और पश्चिमी संस्कृति को बढ़ावा दे रही है, जिसके परिणामस्वरूप लोगों में मानसिक तनाव, कुंठा व अवसाद उत्पन्न हो रहे हैं।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि ग्लैमर और चकाचौंध जब किसी व्यक्ति की तर्क क्षमता और सोचने-समझने की शक्ति पर हावी हो जाती है, तो वह तेजी से नकारात्मकता की तरफ बढ़ने लगता है। इसी नकारात्मकता का परिणाम है कि एक स्त्री दिन-दोपहर और भरे बाजार में भी अकेले निकले तो अनगिनत शिकारी निगाहें उसे घूरने लगती हैं। यह कैसा धार्मिक वातावरण है जिसमें निठारी जैसी वीभत्स घटनाएँ कहीं ज्यादा आसानी से संभव होने लगी है? क्या यही धर्मपरायणता है कि हम हिंसा, बलात्कार, भ्रष्टाचार में दिन-दूनी रात-चौगुनी प्रगति करें? बढ़ती आत्महत्या की घटनाएँ इस बात का ही संकेत देती हैं कि बेतहाशा बढ़ती जनसंख्या की अपार भीड़ में भी आदमी इतना तन्हा हो गया है कि उसे अपने दु:ख-दर्द में शरीक होने वाला कोई नहीं मिलता! सिकुड़ते परिवार और काम के बोझ के चलते कमजोर पड़ता दोस्ती का दायरा तथा टूटते रिश्ते एकाकीपन को बढ़ाते जा रहे हैं। मन की बात कहने-सुनने वाला कोई इर्द-गिर्द नजर नहीं आता। घबराहट में उदासीनता तेजी से दिमाग को जकड़ती जाती है। समूचे परिवार को मारकर खुद भी मर जाने वाली खबरें हमेशा यह बता रही हैं कि उनमें से अधिकतर आर्थिक तंगी और मानसिक तनाव के शिकार थे। यह बढ़ती धार्मिकता है या आदमी को आत्मकेंद्रीत करती स्वार्थपरता की सीमाएँ लाँघती एक बीमार मनोवृत्ति, जो आँखों के सामने हो रहे अत्याचारों का भी मुखर प्रतिरोध करने से कतराती है।

इससे ऐसा प्रतीत होता है कि देश में तूफान मारती धार्मिकता काफी हद तक नकली किस्म की है। आखिर तभी तो धार्मिक प्रवचनों और उपदेशों का असर भी श्रद्धालुओं पर नहीं देखने को मिलता है। लाखों की तादाद में धार्मिक स्थलों पर पूजा-अर्चना कर जब लोग पुन: अपने-अपने घर वापस लौटते हैं तो वैसी ही दृष्प्रवृत्तियों से वे घिरे पाए जाते हैं। इसका सीधा अर्थ यह हुआ कि पूजा-अर्चना से न तो उनका दिल बदला और न ही उनकी मानसिकता में कोई बदलाव आया, यानी उनमें अधर्म तत्त्व तब भी विद्यमान रहे। अधर्म इसलिए कि इसकी प्रवृत्ति धर्म के उदात्त भावों के विपरीत है। मसलन यह धार्मिकता

सद्वृत्तियों के उभार का परिणाम नहीं, इस दौर के तनावों और बढ़ते असुरक्षा भाव का प्रतिफल है। दरअसल इस धार्मिकता में विपरीत परिस्थितियों के सामने तनकर खड़ा होने का संघर्ष भाव नहीं, बल्कि पलायन मनोवृत्ति है। सच तो यह है कि यह धर्मपरायणता समाज-निर्माण की प्रेरणा-स्रोत बनने की बजाए बुराइयों के खिलाफ संघर्ष की धार को कुंद करती है। यह धार्मिकता गैर-जिम्मेदार आदतों के प्रति जवाबदेही से मुँह छिपाने का बहाना है। यह धार्मिकता अपने-अपने निजी या जातीय जगन्नियंता गढ़ती है और उन जगन्नियंताओं अथवा भगवानों से मुसीबतों से उबार लेने की मिन्नतें करती है, ठीक वैसे ही जैसे रेत में सिर छिपाकर शुतुरमुर्ग खतरे से बच जाने का भ्रम पालता है।

वर्तमान दौर की धार्मिकता का अधर्म और उच्छृंखलता तो तब और देखने को मिलती है जब आए दिन कस्बों, नगरों और महानगरों में आयोजित देवी जागरणों, भिन्न-भिन्न अवसरों पर देवी-देवताओं के पूजा-पंडालों में होने वाले नाच-गानों की अश्लीलता और मूर्ति-विसर्जनों के दौरान दारू पीकर हुड़दंग करती, लड़कियों पर फब्तियाँ कसती, मुर्गे की दावत उड़ाती और धर्म की नई व्याख्या गढ़ती इस दौर के युवाओं की टोलियाँ गुजरती हैं। वस्तुत: आज हम जिस धार्मिकता और नैतिक पतन के वीभत्स रूपों से गुजर रहे हैं उसकी चुनौतियों से सामना करने के लिए अब सच्चा धर्म चाहिए। वह धर्म, जो सचुमुच समाज को धारण करता है, बेहतर दुनिया बनाने की मनोभावनाओं का उत्प्रेरक है। आज उस धार्मिकता की आवश्यकता है, जो दीन-दुखियों व असहायों का सहारा बनने की मानवीयता देता हो। आज वैसे धर्म की जरूरत है, जो टूटते समाज को जोड़ने का काम करे, देश-व्यापी शोषण, भ्रष्टाचार, स्वार्थपरता और निजी जीवन के तनावों की जड़ों की पहचान कराकर उनसे मुक्ति दिलाए। अन्यथा कुंभ जैसे मेलों में डुबकी लगाने वालों की बढ़ती तादाद धर्म की व्यावहारिकता और सार्थकता को भी डुबोने से बाज नहीं आएगी।

आज धार्मिक आडंबर हमारी जीवन-शैली बन गए हैं। हम प्रतिदिन किसी न किसी धार्मिक आयोजन में सहभागिता निभाते हैं। वहाँ हम ऐसा अभिनय करते हैं , जैसे कि हम एक अच्छे इंसान हैं जिसे अपने आस-पड़ोस, समाज-देश की बहुत चिंता है। हम देश के प्रत्येक कानून का बखूबी आदर करते हैं और हमने स्वयं में पूरी तरह से सुधार कर लिया है। मगर सच तो यह है कि हम पूरी तरह से दिखावे की जिंदगी जी रहे हैं, और बाजार-संस्कृति के अधीन होकर सामाजिकता, नैतिकता, देश-प्रेम, पड़ोस-प्रेम, परोपकार, कर्त्तव्यपरायणता, ईमानदारी,

धैर्य, संयम, सहनशीलता सहित जीवन की अमूल्य निधियों को तिलांजलि दे चुके हैं। हमें धर्म के अर्थ को समझते हुए दिखावे के आडंबरों में समय बर्बाद नहीं करना चाहिए और खुद में बदलाव लाना चाहिए।

दरअसल धर्म से जुड़े आज जो लोग हैं धर्म के ठिकेदार बन अपनी दुकानें खोले बैठे हैं, वे धर्म को आधार मानकर लाभ पाने की इच्छा रखते हैं और धर्म की आड़ में तरह-तरह के हथकंडे अपनाकर न केवल लोगों में अँधविश्वास और पाखंड का वातावरण बनाते हैं, बल्कि दीन-दुखियों और गरीबों को लूटते तथा दूराचार करते हैं। आखिर तभी तो यह सुनने को मिलता है कि अनेक धर्मोपदेशकों के पास अकूत संपत्ति है, कई लोगों के पास अनेक कल-कारखाने हैं और धर्म की आड़ में वे ऐश-आराम सुख-सुविधा की सभी वस्तुएँ अर्जित कर सत्ताधारियों पर कब्जा किए बैठे हैं। धर्म के असली सिद्धांत-सादगी, संयम और सदाचार की जीवन शैली से उनका कोई मतलब नहीं, भले ही वे कितने प्रवचन व उपदेश लाखों असहाय व दीन-हीन लोगों को परोस रहे हों। सच तो यह है कि धर्म कोई ऐसा बल्ब नहीं कि स्विच दबाते ही जल जाए। यदि जीवन भर धर्म की इस ज्योति में जगमगाते रहना है, तो सहज, सरल और संयमित होकर निर्मल चित्त से आँखें खोलकर धर्म की असली भावना को पोसना होगा।

भारतीय समाज एक ऐसा समाज है जिसके धर्म में सहनशीलता एक जीवन पद्धति है, मगर मजहबी आधार पर वीभत्स उपद्रव भी उसे प्रभावित करते हैं जिसके परिणामस्वरूप समाज के लोग मर्माहत होते हैं। आपको याद होगा अहमदाबाद के एक मंदिर में एक पुजारी ने अपनी दत्तक मुसलिम पुत्री की शादी संपन्न कराई थी। यह विवाह मुसलिम रीति से संपन्न हुआ था और मंदिर के भीतर नमाज भी पढ़ी गई थी। वर का पिता इतना प्रभावित हुआ था कि उसने दो बेटियों के लिए वर खोजने का अनुरोध भी पुजारी से कर दिया था, मगर प्रतिक्रियावादियों तथा कट्टरपंथियों ने इस पर भी हाय-तौबा मचाया। इस प्रकार हम देखते हैं कि बहुलवादी छवि समय-समय पर खंडित होती रहती है और घृणा का धुँआ अभी भी सांप्रदायिक दंगों के रूप में अपना आभास कराता रहता है। यह कैसी धार्मिकता है?

इसके अतिरिक्त एक तरफ जहाँ धार्मिकता बढ़ रही है, तो वहीं दूसरी तरफ धर्मांतरण का खटराग काफी सिर दर्द बन रहा है। दलित-पिछड़ों को यह लग रहा है कि उन्हें सामाजिक और सांस्कृतिक बराबरी नहीं मिल पा रही है।

इसलिए उन्हें निरंतर अपमान से मुक्त होकर कुछ सम्मानजनक जीवन जीने का मौका तो मिलेगा। ऐसी परिस्थिति में प्रतिक्रियावादी एवं कट्टरपंथी ताकतों को रोकने के लिए एक तय मानसिकता के साथ समाज के सभी धर्मों के शुभचिंतक लोगों को आगे आने की जरूरत है। यह समय की माँग है, तभी सुदंर, सबल और उज्ज्वल भारत का निर्माण संभव है। यह बात ठीक है कि हमारा यह देश बहुधर्मी है और यहाँ गंगा, जमुना, कृष्णा, कावेरी तथा सतलुज जैसी धार्मिक आस्था की प्रतीक पवित्र नदियाँ बहती हैं। सचमुच हमें इन पर गर्व है, लेकिन ये अपने साथ गरीबी, बेरोजगारी, कुपोषण, अशिक्षा और बीमार मनोवृत्ति को बहा नहीं ले जाएँगी। इसके लिए हमें ही कदम उठाने होंगे। इस कदम में आज धर्म को आधुनिक प्रौद्योगिकी के परिप्रेक्ष्य में देखने की जरूरत है ताकि नई पीढ़ी रूढ़िवादी धार्मिकता के लिए अपनी आँखें खोले। आज की नई पीढ़ी देश पर मर मिटने की बात तो करती है, मगर मेरी माने तो देश पर मर-मिटने से पहले हम बात करें ढ़ग से जीने की, खुली हवा में सांस लेने की, आपसी भाईचारे और नैतिकता की तथा देश की प्रगति की और यह तभी संभव है जब छद्म धार्मिकता को मिटाकर आपसी मेल-जोल, सहमति और सद्भाव का वातावरण बनाएँ। धर्म पर चलकर दलितों, दबे-कुचलों, दीन-दुखियों तथा असहायों की सहायता करें और देश को आगे बढ़ाने का प्रयास करें। यही हमारा सच्चा धर्म है और यही है हमारा राष्ट्रीय कर्त्तव्य। इसी से हम अपने आत्म गौरव और राष्ट्रीय स्वाभिमान की रक्षा कर सकते हैं।

विचार दृष्टि, वर्ष- 9, अंक : 32, जुलाई-सितंबर 2007

◈◈◈

स्वतंत्रता संग्राम के सेनानियों का सपना और आज का भारत

अँग्रेजों की धूप कड़ी थी धरती पर थी आफत,

सत्तावन की गर्मी पाकर खिल उठी थी बगावत,

सुनो भाइयो सुनो बहनो कथा सन् सत्तावन की,

कान खोलकर सुनो कथा है क्रांति के पहले सावन की।'

कुछ इसी अंदाज में 1857 की पहली जंग-ए-आजादी की 150वीं वर्षगांठ पूरे भारत में मनाई जा रही है और इस मौके पर हर भारतीय राष्ट्रप्रेम के ज़ज़्बे से भर उठा है। सन् 1857 का महत्त्व भारतवासियों के लिए बहुत ज्यादा है। सन् 1857 के स्वतंत्रता संग्राम को दुनिया की पहली राष्ट्रवादी क्रांति कहा जाता है। सुप्रसिद्ध समालोचक व चिंतक डॉ. रामविलास शर्मा ने तो 'सन् सत्तावन की राज्यक्रांति' नामक पुस्तक में से संसार की पहली साम्राज्य विरोधी व सामंत विरोधी क्रांति बताया और कहा कि यह 20वीं सदी की जनवादी क्रांतियों की लंबी अपूर्ण शृँखला की पहली महत्त्वपूर्ण कड़ी भी है। 1857 भारतीय सांस्कृतिक राष्ट्रभावना का अग्निधर्मा विद्रोह था। इतिहास बताता है कि अँग्रेज जब इस देश में व्यापार करने आए, तो सत्ताधीश हो गए, लेकिन उसकी शासन अवधि में सांस्कृतिक राष्ट्रभाव की अंतर्धारा शक्ति संचित होती रही। सन् 1857 का विद्रोह इसी का प्रतिफल था। भारत 2007 में उसी विद्रोह की 150वीं वर्षगांठ मना रहा है। 1857 के संग्राम के बाद से ही हिंदुस्तान को अँग्रेजों की पराधीनता से स्वतंत्र कराने के जोरदार प्रयास प्रारंभ हुए। अँग्रेजों की दासता के जुए को उतार फेंकने के लिए राजनीतिशास्त्र के जितने भी सिद्धांत व विचार हैं, उनका प्रयोग संग्राम के स्वतंत्रता सेनानियों ने किया, क्योंकि अँग्रेजों ने 1857 में जंग-ए-आजादी को 'गदर' नाम दिया था। किंतु दु:खद स्थिति यह है कि 1857 की इस महान जन क्रांति का वास्तविक इतिहास न तो किसी भी स्वदेशी ने लिखने का यत्न किया और ना ही विदेशी इतिहासकार ने। जिसका नतीजा यह है कि उसे क्रांति के संबंध में विश्व समुदाय ही नहीं, अपने देशवासियों के मन में भी विलक्षण भ्रम है, क्योंकि अधिकांश अँग्रेज इतिहासकार ने स्वतंत्रता के पूर्व क्रांति का इतिहास पक्षपात, दुर्घटना और दुष्ट दृष्टि से प्रवृत्त होकर लिखा और उन्होंने केवल घटनाओं का विवरण मात्र देकर अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ

ली। परंतु स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी भारतीय इतिहासकारों ने उसका वस्तुपरक विश्लेषण न करते हुए पूर्व इतिहासकारों के तथ्यों को ही अंतिम माना। परिणामस्वरूप इस देश की नई पीढ़ी न तो अपने महापुरुषों को जानती-पहचानती है और न ही स्वतंत्रता संग्राम के वास्तविक इतिहास से पूर्णत: अवगत है। यही कारण है कि देशवासियों में स्वाभिमान, नैतिकता, राष्ट्राभिमान और देशप्रेम की भावना निरंतर कम होती जा रही है।

कहना नहीं होगा कि देश की आजादी के लिए किए गए प्रयासों का स्मरण सदैव ही स्फूर्तिदायक होता है और देश की एकता व अखण्डता को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए उनका स्मरण अनिवार्य भी होता है। यही नहीं, सन् सत्तावन का स्वतंत्रता संग्राम भारतीय शौर्य का वह अनंत ज्योतिपुँज है जिसके आलोक से परवर्ती इतिहास सदा आलोकित रहेगा।

उल्लेख्य है कि सन् 1857 के विद्रोह के वक्त सिपाहियों ने उस समय के सारे सवालों को समेटा था। उन्होंने हिंदू-मुस्लिम एकता की चुनौती का सामना भी किया। अँग्रेजों से पेंशन पाने वाले बूढ़े शायर बहादुरशाह ज़फर को बादशाह बनाया। 'फ्रीडम स्ट्रगल' (Freedom Struggle खण्ड-1, पृष्ठ 419) के अनुसार धर्म, मज़हब को दरकिनार करके काबिलियत को ही तरजीह देने का निर्णय लिया। मौजूदा तुष्टीकरण राजनीति के लिए 1857 के महासंग्राम में काफी सबक हैं। अँग्रेज हिंदू-मुसलिम टकराव चाहते थे, मज़हबी अलगाववादी भी यही चाहते थे, किंतु यहाँ राष्ट्र सर्वोपरि था, यही कारण था की सीमित संसाधनों के बावजूद ब्रिटिश साम्राज्यवाद से कामयाब युद्ध हुआ। इस प्रकार वर्ष 1857 अग्नि पुष्प खिलने का वंसत पर्व था और इस पर्व पर यह गीत कितना सटीक है -

"सुनहरी किरन, मिट्टी सोंधी खुशबू,
घर की चौकट पर बनी अल्पना,
हर आँगन में खिलते फूल,
उभरती खुशहाली कौन जानता था,
इन्हीं गलियारों में
विदेशी दानव कैसे-कैसे सितम डालेंगे।"

सन् 1857 के संग्राम के दौर में अँग्रेजों के जुल्म-ओ-सितम के बाद हमनें आजादी पाई और आज उस विद्रोह का 150वाँ वर्ष मनाया जा रहा है वर्ष

2007 में। आजादी की पहली जंग की याद के बूते आवाम के दिल में मातृभूमि के प्रति ज़ज़्बा भरने को आज पूरे देश में जब कार्यक्रम आयोजित हो रहे हैं, तब हमें यह सोचने के लिए मजबूर होना पड़ा रहा है कि सिर्फ 150 बरस में ही क्या हो गया इस देश को? सन् 1857 से सबक लिए बगैर भारत अपनी स्थिति ठीक नहीं कर सकता। आजादी हासिल करने के लिए जंग-ए-आज़ादी के दौरान जिन हस्तियों ने अपने त्याग, तपस्या और बलिदान किए थे, उन्होंने अपने मन में भारत के सुनहले व रंगीन सपने संजोए थे। आज जब भारत 1857 के अपने प्रथम स्वतंत्रता संग्राम की 150वीं वर्षगांठ मना रहा है, उन स्वतंत्रता संग्राम के सेनानियों के सपनों को याद करने की जरूरत इसलिए है कि उन सपनों के आलोक में आज के भारत को हम परख सकें।

सन् 1942 के 'भारत छोड़ो आंदोलन' में इस देश के हजारों नौजवान अँग्रेजी शासन की गोलियों के निशाना बने और हँसते-हँसते भारत माँ की बलिवेदी पर अपने प्राणों को न्योछावर किया। गाँधी जी के आह्वान पर इस आंदोलन के दौरान पूरे देश के हर क्षेत्र के साथ-साथ बिहार के सात नौजवान छात्रों ने पटना सचिवालय पर तिरंगा फहराते हुए अपने प्राणों की बाजी लगाई जिसका साक्षी है पटना सचिवालय के ठीक सामने स्थित शहीद स्मारक। आजादी के साठ साल के बाद जब हम अपने स्वराज पर नजर डालते हैं, तो पाते हैं कि उन असंख्य अनाम शहीदों के मुखमंडल पर जो तेज दमक रहा था, उस तेज पर भारत के कर्णधारों ने कालिख पोत दी, हुतात्माओं के सपने ख़ाक में मिल गए, रामराज्य का सपना दिलाने वाला युग पुरुष भी स्वर्ग में बैठा आँसू बहा रहा होगा। स्वतंत्र भारत में निर्धनता के अभिशाप से संतृप्त जनता की आज की यह दुर्दशा देखकर, नेताओं के चरित्र देखकर, भ्रष्टाचार की कीचड़ में सिर से पैर तक सना हिंदुस्तान देखकर, देश के होनहार, प्रतिभाशाली नौजवानों और खेत-खलिहान के किसानों को रेल की पटरियों पर लेटकर आत्महत्या करते हुए देखकर स्वर्ग में गाँधी, नेहरु, पटेल, मौलाना आजाद, सुभाषचंद्र बोस, तिलक, गोखले के साथ भगत सिंह की रूह की तड़प उठी होगी।

देशभक्ति राष्ट्रीय भावना की आधारशिला है। देश की आजादी के पूर्व राष्ट्रीयता एक उमंग भर थी, केवल विदेशी शासन और अँग्रेजी साम्राज्यवाद के विरूद्ध ही वह उमंग सीमित थी। उन दिनों राष्ट्रीयता के सामाजिक तथा आर्थिक मूलों की ओर लोगों का ध्यान सामान्यत: नहीं जा सका था। केवल उपनिवेशवाद की समाप्ति या सत्ता परिवर्तन मात्र से ही सामाजिक संरचना में

परिवर्तन संभव नहीं हो सकेगा, यह बात लोगों में स्पष्ट नहीं हो पाई थी, किंतु स्वातंत्र्योतर भारत में यह बात अब स्पष्ट हो गई है कि राष्ट्रीयता की भावना, जो सामाजिक एवं आर्थिक मूलों में अनिवार्यत: जुड़ी हुई है, हमारी सामाजिक संरचना एवं हमारी संस्कृति की आंतरिक चेतना को नियंत्रित करती है। आज राष्ट्र को एक ऐसी सामासिक संस्कृति की आवश्यकता है जिसका साँचा राष्ट्रीय हो और जिसका विषय सार समाजवादी या समतावादी हो तथा सच्चे बंधुत्व पर निर्भर हो और जिसमें शोषण नहीं हो। स्वतंत्रता यानी शोषण से मुक्ति ही स्वतंत्र्योत्तर भारत की राष्ट्रीय भावना का मूल आधार है।

इस परिप्रेक्ष्य में जब हम आज के भारत को देखते हैं तो पाते हैं कि आज भारत के अनेक इलाकों में जो असंतोष, विद्रोह और अलगाव की प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं, अभी तक आबादी के बड़े भाग को आर्थिक और सामाजिक न्याय से वंचित रखकर उसकी जायज आकांक्षाओं को प्रताड़ित किया जाता है। बेरोजगार और आय के असमान वितरण ने इस समस्या को और जटिल बनाया है। गलत आर्थिक नीतियाँ, जो ऊपर के पाँच-सात प्रतिशत लोगों की हित-पोषक रहीं, अपनाई गईं। सामाजिक न्याय के लिए संविधान में जो व्यवस्था की गई थी, उसे राष्ट्रीय एकता का तमाशा करने वाली पार्टियों, उच्च वर्गों, न्यायालयों और राजनेताओं द्वारा तिलांजलि दी गई। सदियों से दबी जातियों को उन्हें आज भी मानवीय गरिमा का एहसास नहीं कराया जा सका है। विषमता मिटाने के एक उपकरण के रूप में आरक्षण का जो उपाय सोचा गया था, उसका देश के राजनीतिक ढाँचे ने कितना बुरा हाल कर दिया है, इसका तीखा सबूत पिछले दिनों राजस्थान में आरक्षण के सवाल को लेकर अनुसूचित जाति की सूची में शामिल होने के लिए गुर्जर की बिछी उन्नीस लाशों ने बयां कर दी हैं। इन सब कामों के चलते राष्ट्रीय एकता का स्वप्न, जो स्वतंत्रता सेनानियों ने देखा था, आज चूर-चूर होता दिखाई दे रहा है। जिन सिद्धांतों, आदर्शों तथा उद्देश्यों को लेकर वे जीवनभर जूझते रहे और यहाँ तक कि उन्हें कुर्बान होना पड़ा, आखिर उसका क्या हुआ? यह इस देश की क्रूर विडंबना ही है कि भारत की आजादी के 60वें वर्ष में यहाँ ऐसे व्यक्तियों का अभाव है, जो अपनी सूझबूझ एवं दृढ़ निश्चय के साथ देश व समाज को समृद्ध भविष्य की ओर ले जाए, जिसका सपना हमें स्वतंत्रता दिलाने वाले एवं नैतिक मूल्यों के प्रति प्रतिबद्ध स्वतंत्रता संग्राम के सेनानियों ने देखा था। आज देश में भ्रष्टाचार, अपराधीकरण, सांप्रदायिकता और जातियता का जिस प्रकार का बोलबाला है और हमारा

सार्वजनिक जीवन जिस अधोगति के निम्नतम स्तर को छू रहा है, ऐसे अशांति और विक्षोभ के वातावरण में सभ्यता और संस्कृति की पाँच हजार वर्ष की निरंतरतावाले इस देश को आज अपने अतीत के महापुरुषों से प्रेरणा लेने की आवश्यकता है, जिन्होंने भारत को विदेशी दासता से मुक्त कराने के लिए निःस्वार्थ भाव से अपने जीवन और प्राणों की बलि दी। ऐसे ही स्वतंत्रता सेनानियों ने देश की जनता को महान लक्ष्यों तक पहुँचाने का अहसास कराया था।

आज यह हम भूल गए कि स्वतंत्रता संग्राम में योगदान करने एवं उसे सही दिशा प्रदान करने में हमारे देश के प्रायः सभी भाषाओं के रचनाकारों, पत्रकारों तथा कलाकारों ने जो भूमिका निभाई, उनके सपनों का क्या होगा, क्या कभी हमने इस दिशा में सोचने का प्रयास किया है? वैसे स्वतंत्रता सेनानियों एवं साहित्यकारों, जिनका साहित्यिक जीवन राष्ट्रीय एवं युग-चेतना की भावनाओं से भरा हुआ था, उनके अरमानों का क्या होगा। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में उल्लेखनीय योगदान करने वाले साहित्यकारों की एंक लंबी श्रृँखला है। उन दिनों देश-भक्ति और राष्ट्रप्रेम की भावना से ओत-प्रोत रचनाएँ काफी संख्या में लिखी गईं। तब राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न करने, अँग्रेजी हुकूमत के जन-विरोधी स्वरूप को उजागर करने तथा उसकी दासता से मुक्ति की अभिलाषा को स्वर प्रदान करने में सभी भारतीय भाषाओं की काव्यधारा अजस्र बहती रही। ऐसे कवियों में माखनलाल चतुर्वेदी, मोहन लाल द्विवेदी, जयशंकर प्रसाद, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', मैथिली शरण गुप्त, सुब्रह्मण्य भारती, महादेवी वर्मा, रामवृक्ष बेनीपुरी, गोपाल सिंह 'नेपाली', रामधारी सिंह 'दिनकर', सुभद्रा कुमारी चौहान, सुमित्रा नंदन पंत, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', कविराज शंकरदान सामोर, कविश्री कानदास आदि का नाम उल्लेखनीय है। एक भारतीय आत्मा यानी माखनलाल चतुर्वेदी की ये पंक्तियाँ आज भी जनमानस को आंदोलित करती हैं -

मुझे तोड़ लेना बनमाली
उस पथ पर देना तुम फेंक
मातृभूमि पर शीष चढ़ाने
जिस पथ जाएँ वीर अनेक।

मगर, ऐसे स्वतंत्रता सेनानियों के सपनों को साकार करने की बात तो दूर, आज देश के राजनीतिक दलों, विचारधाराओं, कार्यक्रमों और आश्वासनों की बहुलता के बावजूद कोई ऐसा जनप्रतिनिधि खोजना कठिन है, जो जनता में कोई

राजनीतिक भरोसा जगा सके या भविष्य में परिवर्तन की तस्वीर दिखा सके। लोकतंत्र के मुखौटे में सत्ता हासिल करने के तमाम कर्म-कुकर्म धड़ल्ले से किए जा रहे हैं। स्वार्थ की राजनीति जिस ढंग से बढ़ रही है वह चिंतनीय ही नहीं, दुर्भाग्यपूर्ण भी है।

पोखरण में परमाणु परीक्षण के पश्चात् यहाँ के लोग यह सोचने के लिए आज विवश हैं कि अहिंसा और पंचशील के सिद्धांत पर गर्व करने वाले इस राष्ट्र का क्या होगा। हिंसा और युद्ध के माहौल में गाँधी की प्रासंगिकता कहाँ रह जाती है? रक्षा क्षेत्र के गिरते मनोबल तथा चीन एवं पाकिस्तान के धौंस का जबाव देने के लिए परमाणु परीक्षण की उपादेयत्ता है, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता, पर जिस देश की 40 प्रतिशत जनता गरीबी रेखा से नीचे जीवन बसर करने को अभिशप्त हो, मँहगाई की मार से जिसकी कमर तोड़ डाली गई हो, युवकों के लिए रोजगार की समस्या जटिल हों, कहीं ऐसा तो नहीं कि इन विफलताओं पर पर्दा डालने तथा लोगों का ध्यान इन समस्याओं से हटाने के लिए राजनीतिक दलों तथा सत्ताधारियों द्वारा कई तरह के करिश्माई खेल खेला जा रहा हो।

बापू, आदमियत को, आदमी को बम से ज्यादा महत्त्व देते थे। वे बम बनाने की जगह आदमी के भीतर की अच्छाइयों को जगाना चाहते थे। उन्होंने अहिंसा पर आधारित एक ऐसे स्वस्थ समाज एवं सबल राष्ट्र का सपना देखा था, जिसमें सारी सुखकारी स्थितियाँ निर्मित हों। क्या आज मनुष्यता इस सपने को साकार करने की दिशा में विचलित नहीं हो रही है?

पिछले दिनों मुंबई में 'नाथुराम गोड्से बोलताय' जो मराठी नाटक खेला गया, क्या वह गाँधी के दर्शन व चिंतन को गलत साबित करने का एक कुत्सित प्रयास नहीं था? जाहिर है किसी नाटक के ऐसे ध्वंसात्मक मकसद को महज अभिव्यक्ति की आजादी के नाम पर माफ नहीं किया जा सकता। बापू की प्रतिष्ठा और लोकप्रियता की कीमत पर उनके हत्यारे गोड्से के विचारों की छूट नहीं दी जा सकती। नई दिल्ली के 'राजघाट पर युवक राजवल्लभ द्वारा अहिंसा के इस पुजारी की समाधि को तोड़ने की घटनाएँ क्या दर्शाती हैं? हम देशवासियों को आखिर हो क्या गया है? क्या सरकार भी इतनी सक्षम नहीं कि राष्ट्र के इस श्रेष्ठतम प्रतीक की रक्षा कर सके?

इसी प्रकार उत्तर प्रदेश के न्यास मंदिर में एक अनुसूचित जाति के अतिरिक्त जिला न्यायाधीश के द्वारा उनके चैंबर कक्ष को गंगाजल से धुलवाने तथा उसकी पवित्रता को बहाल करने की घटना भी कम चौकाने वाली नहीं है?

21 वीं सदी के प्रथम दशक से गुजर रहे भारत में अभी भी ऐसी संकीर्ण विचारधारियों के समुद्र में आकंठ डूबा रहना विश्व के सबसे बड़े लोकतांत्रिक देश के लिए क्या यह गंभीर चुनौती नहीं? स्वतंत्रता संग्राम की 150वीं वर्षगांठ तथा सरदार पटेल की 132वीं जयंती मनाते वक्त इन सवालों का जबाव अवश्य ढूँढ़ना होगा।

इसी प्रकार राष्ट्रीय एकता के प्रतीक लौह पुरुष सरदार वल्लभभाई पटेल ने अपनी राजनीतिक सूझबूझ, प्रशासनिक क्षमता, अदम्य साहस, दूरदर्शिता तथा अपनी लौह-इच्छाशक्ति का परिचय देकर जिस शांतिपूर्ण ढंग से 562 देशी रियासतों को राष्ट्र में विलयन एवं एकीकरण की प्रक्रिया संपन्न की और इन रियासतों को सही परिप्रेक्ष्य में पुनर्गठित कर वहाँ सक्षम और लोकतांत्रिक व्यवस्था स्थापित की, क्या वही देश आज हिंसा, अलगाववादी तथा देशद्रोही ताकतों की वजह से पुन: खण्डित होने की स्थिति में नहीं आ गई है? क्या कभी हमने यह सोचा है कि सरदार पटेल की राष्ट्रीय चेतना का क्या होगा? क्या राष्ट्रीयता का आज क्षरण नहीं हो रहा है? आतंकवादी की बर्बरता विकराल रूप लेकर हमें निगल नहीं जाएगी? आज जब सरदार पटेल की 132वीं जयंती मना रहे हैं तो राष्ट्रीय एकता व अखण्डता को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए हमें इन प्रश्नों पर गंभीरता से विचार करना होगा।

यह हर कोई जानता है कि जिन स्वतंत्रता सेनानियों की आँखों में आजन्म सामाजिक विषमता को दूर करने का सपना रहा उस लोकनायक जयप्रकाश नारायण में यह हिमाकत थी कि वे भारत के ऊँचे पद पर आसीन हो सकते थे, किंतु जीवन भर जिसे दूर से ही नमस्कार करते रहे उसी कुर्सी के लिए आज के नेता तथा उनके चेले हर तरह का कुकर्म करने को तत्पर हैं। सिद्धांतहीन गठबंधनों द्वारा सत्ता प्राप्त करने की राजनीतिक दलों की नीतियाँ क्या लोकतंत्र का माखौल नहीं उड़ा रही हैं? जिस सामाजिक विषमता को जे.पी. ने दूर करने की बात की थी वह असमानता की खाई आज और चौड़ी होती जा रही है। ऐसा लगता है कि उनके सपने को साकार करने के लिए आने वाले वर्षों में सच्चे देशवासियों को और अधिक संघर्ष करना होगा।

जिस देश में आज गरीबों को दो वक्त की रोटी भी नहीं मिल पा रही हो, दिल्ली से लेकर राज्यों तक में अपराध, बलात्कार, अपहरण तथा भ्रष्टाचार की घटनाओं में निरंतर वृद्धि होती जा रही हो, बेरोजगार नौजवानों को काम नहीं मिल पा रहा हो, धर्म और जाति के नाम दंगा-फसाद लगातार होते रहे हों और

पड़ोसी देश से संबंध सुधारने की कोई गुँजाइश नहीं दिख रही हो, ऐसी स्थिति में इन्हीं सौगातों के साथ स्वतंत्रता सेनानियों के सपनों को क्या हम पूरा कर सकेंगे? कदापि नहीं। अतएव देश के समक्ष चुनौतियाँ ही चुनौतियाँ हैं। एक ओर जहाँ सभ्यता व संस्कृति को बचाने का सकल्प लेना होगा, वहीं दूसरी ओर राजनीति के आवरण में लिपटे अपराधियों से देश को बचाने, अशिक्षा के अँधकार को भगाने, बढ़ती जनसंख्या को रोकने तथा आर्थिक संकट से उबारने जैसी चुनौतियाँ भी स्वीकार करनी होगी। और इसके लिए खेत-खलिहान से लेकर महानगर के तमाम हम भारतवासियों को निष्ठा एवं ईमानदारी से अपने-अपने दायित्वों का निर्वाह कंधा से कंधे मिलाकर करना होगा, तभी स्वतंत्रता संग्राम के सेनानियों के सपने पूरे हो सकेंगे।

अनेक विसंगतियों और विभिन्न रुचियों के बावजूद अंततः जनता के सामूहिक विवेक पर ही कोई देश खड़ा रहता है और उन्नति के पथ पर अग्रसर होता है। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि भारतीय जनता का सामूहिक विवेक बहुत जाग्रत है जो शेष-प्रसंगों और रुझानों को गौण कर देता है। आखिर तभी तो वह भ्रष्ट राजनीतिक माहौल के बावजूद प्रजातंत्र को जीवित रखे हुए हैं। बलिदानियों ने भी धर्म, भाषा, जाति तथा प्रांत के नाम पर इस देश की जनता को बाँटने वाले नेताओं, देशद्रोहियों तथा समाज विरोधियों को यह संदेश दिया है कि राष्ट्र से बढ़कर कुछ भी नहीं है।

आजादी के साठ साल बाद भी हम अभी राष्ट्र नहीं बना पाए हैं। हम अभी राष्ट्र बनाने की प्रक्रिया से गुजर रहे हैं। भारत राष्ट्र अभी अपने जन्म की प्रसव पीड़ा भुगत रहा है। यह संताप बहुत ही गहरा और गंभीर है, क्योंकि हमें स्वयं की पहचान नहीं है। हम अपनी अस्मिता और अस्तित्व को बोझ समझते हैं। हमारी राष्ट्र प्रीति सहज नहीं, परिस्थितिजन्य और घटना सापेक्ष है। शत्रु सामने हो तो देशभक्त, शत्रु सामने न हो तो हम निहायत घटिया दर्जे के स्वार्थी और पेटू। दरअसल, हमारी सामाजिक ममता मर-सी गयी है। हम आज ममताविहीन समता की बात करते हैं। सामाजिकता और सामाजिक समरसता को लात मार कर हम जाति, वर्ग, संप्रदाय और यंत्र-सापेक्ष सामाजिक न्याय प्रदान करना चाहते हैं। गरीबी की कसौटी भूख और बेरोजगारी नहीं, जाति है। आधुनिकता ने भूख, बीमारी, बरोजगारी और अभाव को समाजवादी नहीं, जातिवादी बना दिया है।

इसी प्रकार आजाद भारत में आज की जातिवादी राजनीति का विषधर सामाजिक न्याय को डस रहा है। नित्य बढ़ती सत्ता लिप्सा ने राजनीति को नीति

विहीन बना दिया है। सांप्रदायिकता और मज़हबी उन्माद ने धर्म को धकिया दिया है। दल देश से बड़ा और व्यक्ति दल से बड़ा बनने की होड़ में है। लेखक, पत्रकार, साहित्यकार, राजनीतिज्ञ, नौकरशाह तथा प्रबुद्धजन अपने-अपने क्षेत्र में पतित होने की दौड़ में एक दूसरे को मात देने के लिए दिन-रात सक्रिय है। राष्ट्रपति अब केवल कर्मकाण्ड और राष्ट्रीयता केवल बकवास। सार्वजनिक जीवन बेहद प्रदूषित हो गया है। विकास वितरण बहुत असमान है। शहरों में सारी सुविधाएँ केंद्रीत होती जा रही हैं और गाँवों में सार्वजनिक सुविधाओं का घोर अभाव है।

बापू, जेपी, शास्त्री जी और सरदार पटेल के सारे सपने आज बिखरते नजर आ रहे हैं, क्योंकि वे जीवन के आदर्शों पर आधारित थे और उनके सारे आंदोलन, आदर्श और सिद्धांत उस समय टिकाऊ नजर आते थे जब लोकनायक के सिद्धांत तानाशाही और भ्रष्टाचार आदि को उखाड़ने में सफल हुए। हमारे देश के कर्णधार सरदार भगत सिंह, चंद्रशेखर आजाद, महात्मा गाँधी, सरदार पटेल, मौलाना अबुलकलाम आजाद, लोकनायक जयप्रकाश नारायण, देशरत्न डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, वीर कुँवर सिंह आदि स्वतंत्रता सेनानियों की रट तो लगाते हैं, किंतु उनके किसी भी सिद्धांत को नहीं अपनाते हैं। सच तो यह है कि वे पहले की अपेक्षा आज कहीं ज्यादा प्रासंगिक हैं, जरूरत केवल उनकी इस प्रासंगिकता को समझने की है, उनके विचारों को अपनाने की है, क्योंकि उनके बिना हमारा राष्ट्र आगे नहीं बढ़ सकता है। पृथकतावादी ताकतों द्वारा हमारे राष्ट्र के पंथ निरपेक्ष ताने-बाने को जिस प्रकार चुनौती दी जा रही है, यहाँ के मासूमों और निर्दोषों को जिस तेजी से निशाना बनाया जा रहा है तथा देश की कानून-व्यवस्था को जिस प्रकार छिन्न-भिन्न करने की साजिश की जा रही है, उसमें हमारी प्रभुसत्ता एवं अखंडता को भी खतरा है।

आजादी के छह दशक बीत जाने के बाद भी देश की आरेखित कमियों, खामियों, भ्रमों तथा उलझनों एवं समस्याओं का निदान-समाधान दिए बिना भारत की स्पष्ट तस्वीर नहीं दिखती। जब बचपन भूखा, निराशा, अस्वस्थ हो, कुपोषण का शिकार हो, यौवन अँधकारमय हो तो उसके उज्ज्वल भविष्य की कामना हास्यापद नहीं तो और क्या है?

स्वाधीन भारत के लाखों भूखे भतीजों के चेहरे चाचा नेहरु के मुस्कराते चेहरे और उनके अचकन के सामने टँगे गुलाब की तलाश कर रहे हैं, जिन्हें दो जून की रोटी भी नसीब नहीं हो पाती। बाल-दिवस मनाते-मनाते जिस भारत के

बच्चे भी अब जवानी देखे बिना बूढ़े हो चले हैं वे आज भी टूटे सपनों की सौगातें संजोते हैं। हम बालश्रम पर लेख लिखकर अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं, मगर स्कूल जाने की उम्र में ही बच्चे रिक्शा खींचते दिखाई देते हैं, होटलों में प्लेटें धोते-धोते उनके हाथ-पांव भी पानी से उजले नजर आते हैं, स्टेशनों पर बाबूओं के बूट चमकाते देखे जाते हैं और सपनों की दिनभर में जमा हुई थोड़ी-सी रेजगारी गिनते-गिनते शाम को शराबी बाप के सामने जाकर बिखर जाते हैं। इस देश के हजारों-हजार बच्चे आज भी चाउमिन खाने वाले बच्चों को ललचाई आँखों से निहारते एक निवाला चावल के लिए तरस रहे हैं, धूल फाँक रहे हैं। इन बच्चों के बारे में भी हमें आज सोचना आवश्यक है, क्योंकि इन बच्चों के सपनों को ही मूर्त रूप देकर 'इंडिया वीजन-2020' का स्वप्न पूरा किया जा सकता है। स्वतंत्रता संग्राम के सेनानियों का भी सपना तो यही था। तो आइए, आज जब हम स्वतंत्रता-संग्राम की 150वीं वर्षगांठ मनाने के साथ-साथ लौह पुरुष सरदार पटेल की 132वीं जयंती मना रहे हैं, हम यह संकल्प लें कि आजादी के लिए अपना सब कुछ न्योछावर करने वाले स्वतंत्रता संग्राम के सेनानियों के सपनों के अनुरूप सुनहले भारत का निर्माण करेंगे और राष्ट्रीय एकता व अखण्डता को अक्षुण्ण बनाए रखने का प्रयास करेंगे।

विचार दृष्टि, वर्ष- 9, अंक : 33, अक्टूबर-दिसबंर 2007

◈◈◈

अभिव्यक्ति की आजादी पर आँच

पेशे से चिकित्सक प्रगतिशील महिला लेखिका तसलीमा नसरीन से आखिर कौन इतना बड़ा गुनाह हो गया कि राज्य तो राज्य केंद्र सरकार द्वारा भी एक शरणागत लेखिका को दुनिया के एक सबसे बड़े लोकतांत्रिक देश भारत से निकल जाने के लिए कहा जा रहा है। तसलीमा का कसूर तो बस यही न कहा जाएगा कि उसने अपने लेखों के माध्यम से इस्लाम धर्म में महिलाओं के प्रति जो व्यवहार किया जाता है उसे उस सच्चाई को उजागर कर दी। यह सच्चाई एक विशेष वर्ग को पच नहीं पा रही है। दरअसल नंदीग्राम मुद्दे पर पस्त वामपंथियों ने पं. बंगाल का ध्यान बँटाने के लिए लेखिका तसलीमा को पहले प्रदेश निकाला दिया, फिर वहाँ के मुख्यमंत्री बुद्धदेव भट्टाचार्य उसके कोलकाता लौटने पर उन्हें कोई एतराज नहीं होने की बात कही। इस घटनाक्रम से वामपंथियों की धर्मनिरपेक्षता जैसे आदर्शों की कलई खुलती नजर आ रही है। उनके इस कदम से ऐसा लगता है कि वामपंथियों को अब अपनी हार का अंदेशा होने लगा है, मगर केंद्र सरकार ने भी तसलीमा नसरीन जैसी प्रगतिशील लेखिका के मुद्दे पर अपनी बेरुखी अपनाकर आखिर अपना कौन-सा आदर्श प्रस्तुत किया है।

विश्व के प्राय: सभी देशों में, चाहे वे ब्रिटेन, जापान, जर्मनी, फ्रांस जैसे विकसित देश हो अथवा भारत, पाक, बांगलादेश, नेपाल, श्रीलंका आदि विकासशील देश कमोवेश महिलाएँ पूर्ण रूप से सुरक्षित नहीं हैं। महिलाओं पर हो रहा निरंतर उत्पीड़न स्वयं में एक दु:खद विषय तो है ही, इधर तसलीमा नसरीन जैसी महिला लेखिका पर किया जा रहा सलूक न केवल कलम की ताकत पर कुठाराघात है, बल्कि अभिव्यक्ति की आजादी पर भी आँच है।

उल्लेख्य है कि तसलीमा मूल रूप में एक ऐसी नारीवादी लेखिका है जो धर्म या किसी भी नाम पर औरतों के साथ होने वाली ज्यादतियों के विरूद्ध कलम उठाती रही है। सिर्फ उसका 'लज्जा' नाम्नी उपन्यास ऐसा है जिसमें सन् 1992 में बाबरी मस्जिद विध्वंस के बाद बांग्लादेश में अल्पसंख्यक हिंदू नागरिकों पर कट्टरपंथी मुस्लिम तत्त्वों के हमले को उसने विषय वस्तु बनाया है। उनकी रचनाओं में बात-बात पर कुरान और हदीस का हवाला देकर औरतों को दोयम दर्जे का मनुष्य साबित करने की मुल्ला प्रवृत्ति की धज्जियाँ उड़ाई गई

हैं जिसके परिणामस्वरूप इस महिला लेखिका को इस्लाम विरोधी साबित करने की कोशिश की जाती रही है, किंतु सच तो यह है कि तसलीमा की लड़ाई किसी धर्म से नहीं, उसका दुरुपयोग करने वाले निहित स्वार्थों से है। इस दृष्टि से देखा जाए तो इस देश के लिए तो यह गौरव की बात है कि इतने साहस के साथ समाज के रूढ़िवादी और स्त्री विरोधी तत्त्वों के साथ खुली लड़ाई लड़ रही एक महिला लेखिका भारत को अपने लिए सुरक्षित मानते हुए इसे अपना घर जैसा महसूस करती है।

भारतीय मुसलमानों की आधी आबादी मुस्लिम औरतों की है और मुस्लिम पुरुषों में भी तकरीबन नब्बे प्रतिशत लोग तर्क और भाईचारे की जुबान समझते हैं, मगर कुछ ही प्रतिशत कट्टरपंथी ऐसे हैं जिन्हें तसलीमा का लेखन नागवार लगता है और वे उसे देश से निकालने की बात करते हैं। हाल की यह घटना पहली बार की घटना नहीं है। पिछले दिनों 9 अगस्त, 2007 को हैदराबाद प्रेस क्लब के एक कार्यक्रम में तसलीमा पर हमला हुआ था। हमला करने वालों में ऑल इंडिया मजल्सि इत्तेहादुल मुस्लिम विधायक तक उसमें सम्मिलित थे। इसके अलावा कई संगठनों ने तसलीमा को जान से मारने तक की धमकी दे रखी है। विगत 21 नवंबर 2007 को कोलकाता में जिस तरह की हिंसा हुई वह पूरे देश के लिए चिंता का कारण होना चाहिए। इसे नंदीग्राम या सिंगूर से सीधे जोड़ना भी उचित नहीं है। इस घटना ने यह साबित कर दिया है कि सांप्रदायिकता पश्चिम बंगाल में अपनी जड़ें जमा चुकी हैं। माकपा ने इस प्रदेश में अपने तथाकथित सेकुलर एजेंडे की आड़ में कट्टरपंथियों को प्रोत्साहित किया है। शाहबानो प्रकरण में सरकार का झुकना और सलमान रूश्दी के, सेटेनिक वर्सेस उपन्यास पर प्रतिबंध का नतीजा हम देख चुके हैं।

मेरा मानना है कि तसलीमा के लेखन पर किसी को असहमति हो सकती है जो स्वाभाविक है। किंतु वह लेखिका इतना खतरनाक नहीं हो सकती जिसके खिलाफ इतना बड़ा बवंडर खड़ा किया जाए और उसका जीना हराम किया जाए। इस घटना में सिर्फ माकपा अथवा वामपंथियों को दोषी करार देना भी ठीक नहीं, क्योंकि जिस भाजपा ने तसलीमा को दलाईलामा की तर्ज पर शरणागत देने की बात की और तसलीमा के लिए स्थायी वीजा की माँग की उसकी राजस्थान सरकार तसलीमा को अपने प्रदेश की राजधानी जयपुर में 24 घंटे रहने का जोखिम उठाने को तैयार नहीं हुई, कारण कि जयपुर में ऑल इंडिया मिल्ली काउंसिल ने धमकी दी कि यदि तसलीमा जयपुर में रहती है, तो वे इसका

विरोध करेंगे। काँग्रेस की स्थिति तो इस मुद्दे पर और विचित्र है। उसका कहना है कि जब राज्य सरकार कोई प्रस्ताव भेजेगी, तब विदेश मंत्रालय इस पर विचार करेगा। एक महिला लेखिका जिसने अपने देश के मजहबी कट्टरपंथियों के आतंक से हमारे देश में शरण ली और जिसे वह अपना घर मानती है, वह ठिकाने के लिए दर-दर भटक गई और केंद्र सरकार को राज्य की ओर से प्रस्ताव चाहिए! ऐसे में इस देश की कैसी छवि बन रही है? क्या यह सही नहीं कि तसलीमा को सन् 1994 में बांग्लादेश से भागना ही इसलिए पड़ा था कि वहाँ के कट्टरपंथी उसे फाँसी पर चढ़ाने की माँग करने लगे थे। बांग्लादेश में उसकी जान कभी भी जा सकती थी इसलिए उसने भारत में शरण ली और पश्चिम बंगाल की वामपंथी सरकार ने उस वक्त बुद्धिजीवियों, साहित्यकारों एवं संस्कृतिकर्मियों के एक बड़े वर्ग की वाहवाही लूटी और आज भी महाश्वेता देवी जैसी सुप्रसिद्ध लेखिका ने तसलीमा के मुद्दे पर चिंता जाहिर की है। यही नहीं देश विदेश की चित्रा मुद्गल, सलमान रूश्दी तथा असगर वजाहत जैसे अनेक प्रबुद्ध रचनाकारों ने तसलीमा के साथ किए गए व्यवहार की भर्त्स्ना की है फिर भी पश्चिम बंगाल की वामपथी सरकार सांप्रदायिक ताकतों के सामने झुक गई, कुर्सी के लिए तुष्टीकरण की नीति जो न करा दे।

भारत ही एक ऐसा देश रहा है जहाँ इतिहास के विभिन्न कालखंडों में न जाने कितने मज़हबों के लोग आए और उन्हें देशवासियों ने पूरा सम्मान दिया, क्योंकि सभी तरह के विचारों का सम्मान व आदर और विरोधी विचारों व मान्यताओं के प्रति सहिष्णुता भारतीय संस्कृति की विशेषता है। दुनिया में इस देश को इसी वजह से सम्मान की नजर से देखा जाता है। मगर इस देश की राजनीतिक पार्टियाँ और उसके नेता सत्ता पर विराजमान होने के लिए मज़हबी कट्टरपंथियों के आगे घुटने टेक रहे हैं उन्हें यह अच्छी तरह जान लेना होगा कि ऐसा करके वे एक निहायत ही जहरीले पौधे को पानी दे रहे हैं।

प्रगतिशील महिला लेखिका तसलीमा नसरीन को लेकर हो रही राजनीति देश के प्रबुद्धजनों एवं साहित्यकारों की नजर में अभिव्यक्ति की आजादी पर आँच है। सुप्रसिद्ध लेखिका चित्रा मुद्गल के अनुसार तसलीमा प्रकरण 'अतिथि देवो भव:' की परंपरावाले इस देश में न केवल इस परंपरा को खंडित कर रहा है, बल्कि इससे सांप्रदायिक कठमुल्लापन को बढ़ावा मिल रहा है। दूसरी ओर जामा मस्जिद के शाही इमाम मौलाना सैयद अहमद बुखारी सहित ऑल इंडिया मुस्लिम एकता कमेटी के चेयरमैन हाजी इक़राम हसन ने तसलीमा को दिल्ली

में रखने पर एतराज जाहिर करते हुए इस मसले पर बैठक कर रणनीति तैयार करने की बात कही है।

आज तसलीमा व्यथित है और उस स्वतंत्र लोकतांत्रिक देश में अपने को असुरक्षित महसूस कर रही है जहाँ शरणागत की रक्षा के लिए अपने शरीर को क्षत-विक्षत कर देने की महाराज शिबि की पौराणिक कथा ही प्रचलित नहीं है, बल्कि अपनी धरती से निर्वासित हजारों तिब्बतियों और उनके गुरु दलाई लामा को चीन जैसे शक्तिशाली देश के नाराजगी होने की कीमत पर भी अपने यहाँ शरण दी हुई है। इस संदर्भ में तसलीमा की आत्मकथा-'द्विखंडित' की कुछ पंक्तियों को उद्धत करना युक्तिसंगत होगा जिसमें तसलीमा ने कहा है-'मैं एक निषिद्ध और वर्जित नाम मैंने जूडो-कराटे नहीं, संस्कार सीखे हैं। इसलिए पति विहीना होना ऐसा विभत्स जख्म है जिसे ढकने के लिए मुझे बेशकीमती चादर चाहिए, ये उद्‌गार हैं उस तसलीमा नसरीन के जो धर्म के कठमुल्लाओं और इस्लाम के नाम पर राजनीति करने वालों शासनकर्ताओं के लिए चुनौती बनी हुई है नहीं तो तसलीमा की आत्मकथा 'द्विखंडित' में ऐसा क्या था कि वह प्रतिबद्ध के निशाने पर आ जाए। क्या कोई बता सकता है कि तसलीमा ने ऐसा क्या लिखा है जो सभ्य समाज के लिए आपत्तिजनक हो? दरअसल कट्टरपंथियों के समक्ष घुटने टेककर भारत अपने उन आदर्शों की रक्षा नहीं कर सकता जिनके लिए वह जाना जाता है। इसी तरह वह अभिव्यक्ति की आजादी पर दोहरे मापदंड अपनाकर यश का भागीदार नहीं बन सकता। क्या इसे अच्छा माना जाएगा कि कट्टरपंथियों के भय से तसलीमा को छिपकर रहने के लिए मजबूर होना पड़ा? आदर्शों और मूल्यों की बड़ी-बड़ी बातें करने वाली पश्चिम बंगाल की वाममोर्चा सरकार ने तसलीमा के लिए अपने दरवाजे तब बंद कर दिए जब तसलीमा कोलकाता को अपना दूसरा घर बताते हुए वहाँ वापस होने की इच्छा जता रही थी। आखिर किसका-किसका कहा जाए, पता नहीं रेलमंत्री लालू प्रसाद को भी मुस्लिम वोट की इतनी चिंता सताने लगी कि वह भी यह सवाल पूछने लगे कि तसलीमा नसरीन को वीजा दिया ही क्यों गया? आखिर यह सवाल किसके हितों की पूर्ति के लिए है?

बांग्लादेशी लेखिका तसलीमा नसरीन पिछले 13 वर्षों से निर्वासित जीवन जीने के लिए बाध्य है। उसका गुनाह सिर्फ इतना ही न है कि उसने कट्टरपंथियों के खिलाफ आवाज उठाई। अप्रैल 2002 से तसलीमा भारत में रह रही है। बांग्लादेश में हिंदुओं के साथ भेदभाव बरते जाने संबंधी उसके विवादास्पद

उपन्यास 'लज्जा' के प्रकाशन के बाद पड़ोसी देश के कट्टरपंथियों ने इसे ईश निंदा करार देते हुए उसके खिलाफ मौत का फतवा जारी किया था। अब भारत के कट्टरपंथी तसलीमा को भारत से निकाले जाने की माँग को अभिव्यक्ति की आजादी पर आँच नहीं तो और क्या कहा जाएगा? मुझे हैरानी हो रही है उन कथित बुद्धिजीवियों व जाने-माने साहित्यकारों पर, जो अभिव्यक्ति की आजादी का झंडा बुलंद करने में सदैव सबसे आगे रहने वाले न जाने किस महान राष्ट्रीय हित की चिंता में तसलीमा को लेकर अपनी जुबान नहीं हिला पाए।

यह समय की विडंबना ही कही जाएगी कि एक नारी की दो आलोचनात्मक पंक्तियाँ झेलने को वह समाज तैयार नहीं, जो आतंकवादी मो. अफजल को सजा सुनाने वाले न्यायाधीशों की 'हत्या हो सकती है' वाला बयान देने के लिए फारूक अब्दुल्ला को नहीं टोका, जिसने ऑल इंडिया इत्तेहाद कांउसिल के नेता रजाखान द्वारा तसलीमा के कत्ल के लिए पाँच लाख का इनाम रखने पर भी अंकुश लगाने पर विचार नहीं किया और जिस समाज ने उत्तर प्रदेश में मंत्री पद पर रहते हुए हत्या का आह्वान करने वाले हाजी याकूब कुरैशी को चेताबनी तो नहीं दी कि वह अपनी जबान संभाले। आश्चर्य तो तब होता है जब वही समाज और सत्ताधारी सीधी-सच्ची बातें लिखने पर तसलीमा को सार्वजनिक रूप से घुड़कते हुए आधिकारिक रूप से जुबान संभालने और संयम बरतने की चेतावनी देते हैं। सच कहा जाए तो निर्वासित लेखिका तसलीमा एक ऐसा आईना बन गई है जिसमें वर्तमान दौर के हमारे लोकतंत्र, पंथनिरपेक्षता, अभिव्यक्ति की आजादी, कानून की निर्बलता, इस्लामी कट्टरपन, स्त्री सशक्तीकरण के दावों का खोखलापन और बौद्धिक विचारधारा आदि मानवाधिकार आयोग के अधोवस्त्र सभी के चेहरे देखे जा सकते हैं। इसी आईने में बात-बात में संज्ञान लेने वाली न्याय की उन मूर्तियों को भी पहचाना जा सकता है, जो मंत्रियों से लेकर नौकरशाहों, संवैधानिक संस्थाओं, पत्रकारों से सरकारी विभागों तक को डांटा करती है कि उन्होंने यह नहीं किया या वह क्यों किया!

'विचार दृष्टि' ने नौ वर्ष पूरे किए

अक्टूबर-दिसंबर, 1999 में 'विचार दृष्टि' का प्रवेशांक छपा था, तबसे इसने अपनी यात्रा के नौ वर्ष पूरे किए। ऐसे वक्त मुझे याद आती हैं हिंदी पत्रकारिता की महान विभूति संपादकाचार्य स्वर्गीय विष्णु पराड़कर की वे बातें जिसमें भारतीय पत्रकारों तथा पत्रकारिता के आदर्श रेखांकित करते हुए उन्होंने स्पष्ट कहा था कि सच्चे भारतीय पत्रकार के लिए पत्रकारी केवल कला या

जीविकोपार्जन का साधन मात्र नहीं होना चाहिए। इसके लिए वह कर्त्तव्य साधन की पुनीत वृत्ति भी होनी चाहिए, क्योंकि अपने राष्ट्र में जन-जागरण का आवश्यक और अनिवार्य कार्य करना भारतीय पत्रकार का दायित्व है।

जब मैं स्व. पराड़कर जी की उपर्युक्त पंक्तियों पर गौर करता हूँ तो पाता हूँ कि उनके सपने के पत्रकार की छवि भारत में धूल-धूसरित होती नजर आ रही है। इस स्थिति में यह दावा नहीं करता और कर भी नहीं सकता कि स्व. पराड़कर जी की कल्पना के पत्रकार की भूमिका मैं निभा रहा हूँ, मगर मैं इतना अवश्य कहूँगा कि 'विचार दृष्टि' को मैंने जीविकोपार्जन का साधन नहीं बनाया है और न ही इतने वर्षों में इसे व्यावसायिक होने दिया। पत्रकारिता के आदर्श तथा विचार दृष्टि के उद्देश्यों के अनुरूप समाज को स्वस्थ और राष्ट्र को सबल बनाने हेतु देशवासियों में सामाजिक व राष्ट्रीय चेतना जागृत करने का मेरा हर संभव प्रयास रहा है यानी राष्ट्र व समाज में जन-जागरण के लिए आवश्यक वातावरण तैयार करने का दायित्व मैंने यथासंभव निभाया है। स्वतंत्र लेखन व विचार अभिव्यक्ति ही इसकी मुख्य भावना रही है। इसने अबतक सत्य, सही और तथ्यात्मक रचनाओं को प्रकाशित करने की कोशिश की है। आखिर तभी तो अधिकाधिक पाठकों में इसकी विश्वसनीयता बनी हुई है।

संपादकीय अग्रलेखों में हमने निर्भीकता तथा साहसिकता का परिचय दिया है। यद्यपि ऐसा करने में हमें बीच-बीच में अनेक मुसीबतों और खतरों से जूझना पड़ा है फिर भी उन मुसीबतों का सामना करते हुए समाज व राष्ट्र की सच्ची व निष्ठापूर्वक सेवा की है और अपनी कलम बेचने की कभी मैंने कल्पना भी नहीं की और न पत्रकारिता के सिद्धांतों से निगाह फेरने की कोशिश की।

मार्क ट्वेन ने एक बार टिप्पणी की थी, ''हमारी दुनिया पर प्रकाश डालने वाले दो स्रोत हैं-आकाश से सूर्य तथा एसोसियेटेड प्रेस।'' रोशनी डालने के क्रम में 'विचार दृष्टि' ने अब तक की अपने कार्यावधि में व्यक्तित्व निर्माण करने, शिक्षित करने, सच का बोध कराने तथा उदार दृष्टिकोण बनाने के उच्चतर आदर्श स्थापित करने का प्रयास किया है, क्योंकि पाठकों के तन, मन और मस्तिष्क पर इनका बहुत गहरा और तीक्ष्ण प्रभाव पड़ता है। इस दृष्टिकोण से मेरी तथा इसके सहयोगी रचनाकारों की कलम सदैव नियंत्रित रही है। इस मुद्दे पर गाँधी जी का विचार था, ''समाचार पत्र की बड़ी ताकत है, किंतु जैसे अनियंत्रित जल-प्रवाह मैदानी भागों को जलमग्न कर फसल को बर्बाद कर देता है, उसी प्रकार अनियंत्रित कलम भी बर्बादी लाती है। बाहर से थोपा गया नियंत्रण तो

अनियंत्रण से भी अधिक खतरनाक हो जाता है। यह तभी कारगर होता है जब खुद के अंदर से पैदा हो।'' 'विचार दृष्टि' पत्रिका ने मार्कट्वेन और गाँधी जी के इस विचार के अनुरूप अपनी अभिव्यक्ति की आजादी को लक्ष्य के रूप में नहीं, बल्कि 'विचार दृष्टि' के लक्ष्य तक पहुँचने के माध्यम के रूप में स्वीकार किया है। इसके अलावा इसने जनहित के अनेक कार्यों को क्रियान्वित कराने में भी सफलता पाई है, मगर इसने कभी भी सत्ता में बैठे लोगों की हाँ में हाँ नहीं मिलाया है, बल्कि सच तो यह है कि उसकी कमजोरियों को जनता के सामने लाकर सत्ता के लोगों को सावधान किया है ताकि भविष्य में वह अपनी कमजोरियों पर विजय पाने का प्रयास करे।

इस अवधि में हमारे सहयोगी रचनाकारों के सभी लेख उनके चिंतन की अभिव्यक्ति के प्रतीक रहे, क्योंकि जनशक्ति को ही भारत की सबसे बड़ी शक्ति मानते हुए रचनाकारों ने व्यष्टि की चिंता नहीं कर समष्टि की चिंता की और पत्रिका की विचारधारा भी 'सर्वे जना: सुखिन: भवन्तु' की है। नौ वषों की अवधि में 'विचार दृष्टि' के अनेक विशेषांक निकले जिनमें राष्ट्रीय एकता विशेषांक, गीतकार गोपी वल्लभ सहाय विशेषांक, 1857 जंगे आजादी विशेषांक उल्लेखनीय एवं प्रमुख हैं। वैसे तो इसके पाठकों ने प्राय: सभी विशेषांकों को सराहा, किंतु वर्ष 2007 के अक्टूबर-दिसंबर में प्रकाशित '1857-जंगे आजादी विशेषांक 33' को देश के सभी क्षेत्रों के पाठकों ने मुक्तकंठ से सराहा। आँध्र प्रदेश की राजधानी हैदराबाद से प्रकाशित डेली मिलाप ने अपने 18 नवंबर 2007 के 'किताब कोना' स्तंभ में 'विचारों की दृष्टि से संग्रहणीय-विचार दृष्टि' शीर्षक से लिखी विशेषांक 33 की समीक्षा छापकर दक्षिण भारत के पाठकों तक 1857 के संदेश पहुँचाए। इस समीक्षा को आप पाठकों के लिए भी इस अंक में प्रकाशित किया जा रहा है। इसके अतिरिक्त देश के कोने-कोने से इस विशेषांक पर जो प्रतिक्रियाएँ लिखित एवं दूरभाष पर मुझे मिली उससे मेरा मनोबल निश्चित रूप से बढ़ा है और वे ही सत्यपथ पर सदैव अग्रसर होते जाने के हमारे संबल हैं।

इस वर्ष के दिसंबर में 'विचार दृष्टि' के दस वर्ष पूरे होने पर अक्टूबर-दिसंबर 2008 का 37 वाँ अंक '10-वषांक' होगा जिसमें इस अवधि की वैचारिक, सर्जनात्मक, विश्लेषणात्मक पाठ्य सामग्रियों के साथ-साथ पत्रकारिता के विभिन्न आयामों से जुड़ी रचनाओं का समावेश किया जाएगा, क्योंकि पत्रकारिता देश और दुनिया में बढ़ते आतंकवाद और हिंसा के माहौल में एक दूसरे के बीच मैत्री, शांति, अहिंसा, सद्भाव तथा सामाजिक समरसता एवं राष्ट्रीय एकता का भाव जगाने में

एक अहम् भूमिका निभा सकती है।

दरअसल इस आईने में उनकी वास्तविकता तो बखूबी पहचानी जा सकती है, मज़हबी विचारधारा की शक्ति की असलियत भी। इसी आईने में सत्ता पर विराजमान नेताओं की असलियत भी पहचानी जा सकती है, जो किसी संदिग्ध कट्टर आतंकवादी और देशद्रोही से पूछताछ होने पर भी उसके दु:ख में अपनी रात की नींद उड़ा बैठते हैं, मगर एक शरणार्थी लेखिका पर कातिल गिरोहों के लगातार हमलों से निर्विकार रहते हैं। आखिर वोट और कुर्सी की खातिर इन नेताओं की तुष्टिकरण की नीति इस देश और सबसे बड़े लोकतंत्र को किस गर्त में डूबोना चाहती है? दरअसल वर्तमान भारतीय राजनीति में सामाजिक और धार्मिक-सांप्रदायिक पूर्वाग्रह उसकी गति के हिस्से लगते हैं और सत्ता ने विचारधारा को महज अपना आवरण इसलिए बना लिया है और सत्ता के चक्रव्यूह में वह इस कदर फंस गई है कि उसने तसलीमा को अपनी अभिव्यक्ति के लिए खेद प्रगट करने की परिस्थितियाँ पैदा कर दी जिससे आजिज हो सके। प्रकाशक को अपने 'द्विखंडित' उपन्यास की आपत्तिजनक पंक्तियों को हटाने के लिए विवश होना पड़ा। जिस तरह के अंशों के कारण उसने अपना देश छोड़ना स्वीकार कर लिया, उसे भारत जैसे अपने दूसरे घर को खोना अपने अस्तित्व के खोने जैसा लगा। पूरी राजनीति इस कदर एक हो गई कि न केवल एक प्रगतिशील लेखिका अपनी लड़ाई से झुका दी गई, अपितु अभिव्यक्ति की आजादी की लड़ाई की सांसें धीमी पड़ गई। धर्मनिरपेक्षता की लड़ाई पूरी तरह से वोट के हवाले हो गईं, लेकिन तसलीमा ने कट्टरपन के खिलाफ जो लड़ाई शुरू की है उसे कौन लड़ेगा, यह विचारणीय प्रश्न है।

विचार दृष्टि, वर्ष- 10, अंक : 34, जनवरी-मार्च 2008

◈◈◈

राष्ट्रीय एकता आज इस देश में क्यों आवश्यक ?

आर्थिक प्रगति की जिस राह पर आज यह देश चल रहा है उसमें आतंकवाद, नक्सलवाद, उग्रवाद और अलगाववाद के अतिरिक्त इसकी सीमा से सटे पड़ोसी देशों की विस्तारवादी नीति ने अकारण ही कई रुकावटें पैदा कर दी हैं। चीन ने 1962 में भारत की सीमा पर हमला किया था, वेशक उसने काफी इलाका बाद में खुद ही खाली कर दिया, किंतु आज भी 38 हजार किलोमीटर इलाका जो वास्तव में हमारा है, चीन के कब्जे में है। दूसरी ओर जम्मू-कश्मीर का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा अक्साईचीन, जो पाकिस्तान ने चीन की दोस्ती के बदले एक उपहार के रुप में दे दिया था आज भी चीन के कब्जे में है। बल्कि सच तो यह है कि चीन ने उसे अपना हिस्सा ही बना रखा है। इसी प्रकार अरुणाचल जिसके संबंध में चीन का हर बड़ा या छोटा नेता या अधिकारी यह कहने से नहीं चूकता कि अरुणाचल का तवांग इलाका चीन का है और वह उसे वापस चाहिए बार-बार हमें काँटे की तरह चुभाता रहता है। सवाल यह है कि भारत क्यों नहीं इन मुद्दों पर आवाज उठाता है? हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि असली समाधान राजनीतिक ही होते हैं और इस मामले में चीन ने हमेशा हमें शह दी और हम बेबस होकर मार खाते रहे हैं। इन तथ्यों के आलोक में क्या हम यह महसूस नहीं करते कि इस देश में आज राष्ट्रीय एकता की कितनी आवश्यकता है?

इसी प्रकार बांग्ला देश, म्यांमार, श्रीलंका और नेपाल में जो कुछ हो रहा है, वह भी भारत की चिंताओं को बढ़ाने वाला है। इन पड़ोसी देशों में जारी उथल-पुथल को उनका आंतरिक मामला इसलिए नहीं माना जा सकता, क्योंकि उनकी गतिविधियाँ परोक्ष और प्रत्यक्ष रूप से भारत को प्रभावित कर रही हैं। पिछले दिनों नई दिल्ली में 'जागरण फोरम' के मंच पर जनतांत्रिक एशिया की समस्याओं पर विचार करने के लिए जुटे देश के प्रमुख राजनेता लालकृष्ण आडवाणी, पी. चिदंबरम, कपिल सिब्बल, अरुण जेटली तथा यशवंत सिन्हा ने एशिया के हालात चिंताजनक पाए। उन्होंने माना कि भारत के इर्द-गिर्द स्थितियाँ ठीक नहीं, उससे आम आदमी का भी चिंतित होना स्वाभाविक है। इस दृष्टिकोण

से राष्ट्रीय एकता के लिए इस पर भी विचार होना चाहिए कि कुछ पड़ोसी देशों में भारत विरोधी गतिविधियाँ क्यों बढ़ती जा रही हैं।

इस दृष्टि से देखा जाए, तो मुझे लगता है कि भारतीय संविधान की धारा 370 भी राष्ट्रीय एकता में बाधक सिद्ध हो रही है। इस संदर्भ में चिंतक व विचारक तथा भारत के पूर्व केंद्रीय मंत्री जगमोहन द्वारा व्यक्त उनकी पुस्तक 'माई फ्रोजेन टरब्यूलेंस इन कश्मीर' की निम्न पंक्तियाँ हमारी धारणा की संपुष्टि करती हैं, जिसमें कहा गया है कि "धारा 370 कुछ और नहीं, बल्कि जन्नत के हृदय में जोकों का चारागाह है। यह गरीबों की खाल खिंचती है, उन्हें मृगतृष्णा दिखाकर धोखे में रखती है तथा नए सुल्तानों के 'अहं' को हवा देती है" वस्तुतः धारा 370 द्विराष्ट्रवाद की अरुचिकर विरासत को जीवित रखती है। यह इस देश के अस्तित्व को नकारते हुए कश्मीर से कन्याकुमारी तक की महान सामाजिक एवं सांस्कृतिक धरती के हर विचार को धुँधला करती है। उल्लेख्य है कि संविधान की धारा 370 का सार यह है कि संघीय संसद रक्षा, विदेशी व संचार मामलों के अलावा संघ व समवर्ती सूची में शामिल विषयों पर कानून बना सकती है, लेकिन वह भी राज्य सरकार की सहमति से। इस संदर्भ में यह भी काबिलेगौर है कि कश्मीर की स्वायत्तता और 1952-53 से पूर्व स्थिति की बहाली की माँग लोगों को गुमराह करने वाली और भ्रम में डालने वाली है, क्योंकि इसका सीधा अर्थ है अलगाववाद को बढ़ावा देना। आज की 'ज्यादा स्वायत्तता' का मतलब है, कल की स्वतंत्रता। सच मानिए, इस तरह की माँग के भयानक और गंभीर नतीजे होंगे और देश अंततः कई टुकड़ों में बँट जाएगा। इसके मद्देनज़र इस देश में आज राष्ट्रीय एकता आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है।

आपको याद होगा कि एक बार देश के प्रधानमंत्री डॉ. मनमोहन सिंह तक ने कहा था- 'देश के संसाधनों पर मुसलमानों का पहला हक है। मुझे लगता है सांप्रदायिकता के नाम पर इस तरह का बयान देश की एकता के लिए घातक और खतरनाक साबित हो सकता है। इसी सांप्रदायिक नजरिए से एक बार देश के टुकड़े हो चुके हैं जिसका दुष्परिणाम देश आज तक भुगत रहा है। इधर सारे देश में यह महसूस की जा रही है कि प्रायः सभी राजनीतिक दलों द्वारा सत्ता के लिए मुस्लिम तुष्टीकरण नीति से आतंकवाद को शह मिल रही है। इसी प्रकार लेखिका तसलीमा नसरीन ने बांग्लादेश में हिंदू उत्पीड़न और मुसलमानों में व्याप्त कुरीतियों पर प्रहार

किया, तो उससे मुसलमानों से माफी माँगने को कहा जा रहा है। तसलीमा को माफी की नसीहत देकर एक तरह से न केवल भारतीयता को अपमानित किया जा रहा है, बल्कि राष्ट्रीय एकता पर भी आँच आ रही है।

हम इस देश में राष्ट्रीय एकता इसलिए चाहते हैं कि यह अखंड रहे। इसकी अखंडता पर हमें गर्व है। मगर दुखद स्थिति यह है कि नेता इसकी अखंडता की केवल कसमें खाते हैं और दूसरी ओर सैनिक इसकी अखंडता के लिए अपनी जान न्योछावर करते हैं। एक तरफ हम अखंड भारत की रक्षा चाहते हैं, तो दूसरी तरफ इसके राज्य अब खंड-खंड हुआ चाहते हैं। हमारे नेता कसमें खा रहे हैं कि हम इस अखंड भारत के राज्यों को खंड-खंडकर देंगे। कहीं झारखंड, कहीं उतराखंड तो कहीं बुंदेलखंड। फिर वहाँ खंड-खंड पार्टियाँ होंगी, खंड सरकारें होंगी। जैसे आजकल झारखंड और उतराखंड में हैं। उधर विदर्भ की माँग है, तेलंगाना की माँग है ही। मगर मैं सोचता हूँ कि राज्यों के खंड-खंड हो जाने से क्या विदर्भ के किसान आत्महत्या करना छोड़ देंगे? बुंदेलखंड की हालत सुधर जाएगी? पूर्वांचल की गरीबी मिट जाएगी? यदि ऐसा होता तो झारखंड में आदिवासियों की समस्याएँ तो जस की तस हैं। हाँ, नेता जरूर मालामाल हो रहे हैं। खंड़-खंड़ का तो इतिहास यह है कि नेता इन पर टूट पड़ेंगे और जनता देखती रह जाएगी।

वर्ष 2008 में हमने अपने गणतंत्र की 58 वीं वर्षगांठ भी मना ली और 15 अगस्त 2008 को आजादी की 61वीं वर्षगांठ भी पूरी होगी। स्वाधीनता के पूर्व यहाँ 562 राज्य-राजवाड़े थे। सरदार पटेल के करिश्में ने इन्हें भारतीय राष्ट्र में मिलाया। जम्मू-कश्मीर का एकीकरण नेहरुजी के जिम्मे था। वह आज हमारा सिर-दर्द बना हुआ है। इस देश की सीमाएँ तो अशांत हैं ही, पूर्वोत्तर के सातों राज्यों में बारुदी गँध हैं। विदेशी घुसपैठ की परिस्थितियाँ युद्ध जैसी हैं। आतंकवाद प्रत्यक्ष युद्ध है। नक्सलवादी- माओवादी हिंसा है। मजहबी आक्रामकता है। क्षेत्रवाद अपने नग्न रूप में है। अनेक नए राज्य बनाने की राजनीतिक माँगे हैं। किसान आत्महत्या कर रहे हैं। अलगाववाद का सेंसेक्स राष्ट्र विभाजन की सीमा पार कर रहा है, लेकिन केंद्र रुग्न और लाचार है। वह अल्पसंख्यकवाद का पैरोकार है। ऐसी विकट एवं भयावह स्थिति में हमें राष्ट्रीय आत्मचिंतन करने की आवश्यकता है और राष्ट्रीय एकता को कैसे बरकरार रखें इस पर भी चिंतन-मनन की ज़रूरत है।

राष्ट्रीय एकता आज इस देश के लिए इसलिए भी आवश्यक हो गई है, क्योंकि शिवसेना के अध्यक्ष बाल ठाकरे के बाद अब महाराष्ट्र नव निर्माण सेना के अध्यक्ष राज ठाकरे जैसे नेताओं के बयान देश की एकता को तोड़ने की एक साजिश की तरह लग रहे हैं। हाल ही में उन्होंने कहा कि उत्तर प्रदेश और बिहार के लोगों को अगर मुंबई में रहना है, तो मराठी बोलना ही होगा वरना उन्हें बाहर का रास्ता दिखा दिया जाएगा। इतना ही नहीं उन्होंने बिहार तथा उत्तर प्रदेश के सबसे लोकप्रिय और पवित्र पर्व छठ का भी मजाक उड़ाते हुए कहा कि छठ भी एक नाटक है और इसके बहाने बिहारी मुंबई में अपना प्रभुत्व बढ़ाना चाहते हैं। राष्ट्रीय एकता के संदर्भ में उनका यह बयान इसलिए बिस्फोटक है कि एक ओर जहाँ भारतीय भाषाओं के उन्नयन की बात राष्ट्रीय एकता को बरकरार रखने के लिए हम करते हैं, तो दूसरी ओर छठ जैसे लोकप्रिय एवं पवित्र पर्व भी हमारी भारतीय संस्कृति की विरासत और धरोहर हैं, जो हमारी राष्ट्रीय एकता को मजबूत करने में सहायक हैं। बिहार और उत्तर प्रदेश के लोगों को मराठी भाषा सीखनी चाहिए, यह अच्छी बात है और सच तो यह है कि मुंबई में रहने वाले बिहार तथा उत्तर प्रदेश के अधिकांश लोग मराठी सीख भी चुके हैं, मगर मराठी नहीं सीखने और छठ पर्व मनाने पर ठाकरे जी के बयान कुछ अटपटे से लगते हैं, जिसकी निंदा हर हाल में की जानी चाहिए, क्योंकि उनके बयान देश में भाषाई दरार पैदा कर राष्ट्र की एकता और अखण्डता को भी ठेस पहुँचा रहे हैं, जो देशद्रोह है।

आखिर किसी देश को क्या चाहिए? देश की जनता को पर्याप्त भोजन, सुरक्षित सीमाएँ, शांत आंतरिक भू-भाग और समृद्ध सांस्कृतिक धरोहर। मगर जरा हम सोचें कि हम देशवासी आज किस संक्रमण काल के दौर से गुजर रहे हैं। महाराष्ट्र के विदर्भ, उत्तर प्रदेश, पंजाब तथा हरियाणा के किसानों द्वारा आत्महत्या के जो आँकड़ें आ रहे हैं वे हमें शर्मसार करते हैं। देश में आज चार करोड़ से अधिक किसान परिवार कर्ज के सहारे अपनी गृहस्थी चला रहे हैं।

जब हमारी नजर अपनी सीमाओं पर जाती है, तो पाते हैं कि वह दशकों से सिकुड़ती जा रही है, घुसपैठ और तस्करी का हम मूकदर्शक बने बैठे हैं। पाकिस्तान ने 78 हजार वर्ग किलोमीटर हमारे भू-भाग पर अवैध रूप से कब्जा कर रखा है। पड़ोसी चीन ने हमारी हजारों वर्ग किलोमीटर धरती तो कब्जाई ही, हमारी 90,000 वर्ग किलोमीटर भू-भाग पर अपना अवैध दावा भी कर रखा है। उसका यह भी दावा है कि जम्मू-कश्मीर के साथ अरुणाचल प्रदेश भारत का

वैध हिस्सा नहीं है। हिमालय पर चीन द्वारा बनाई गई सड़कें हमारे लिए खतरे के संकेत हैं।

जहाँ तक हमारी आंतरिक सुरक्षा का सवाल है इस देश के जर्रे-जर्रे में आतंकवाद की नागफनी उग चुकी है। हिंसा के सरकंडों में छुपे विषधर रूपी आतंकी सुरक्षा व्यवस्था का प्राय: रोज ही माखौल उड़ा रहे हैं चाहे पूर्वी उत्तर प्रदेश हो या पश्चिमी, पूर्वांचल की सीमा से सटे राज्य हों या दक्षिण के, कौन सा स्थान आतंकियों के निशाने पर नहीं हैं? एक विस्तृत और सुनियोजित शृंखला है इसके पीछे, जो भारत में दशकों से उन्माद बनी हुई हैं।

यही नहीं देश के कई हिस्सों में कहीं नक्सली हिंसा, कहीं अलगाववाद, तो कहीं देशद्रोह के रूप में उभार ले रहा है। छतीसगढ़, झारखण्ड और बिहार में आतंकियों और नक्सलियों की कहर से सैकड़ों निर्दोष मारे जा रहे हैं और पुलिस भी शहीद हो रहे हैं।

इसी प्रकार हमारी सांस्कृतिक धरोहरें और सामाजिक मान्यताएँ भी हर क्षण हमले झेलती, दम तोड़ती मगर दूब की तरह जिजीविषा लिए हमें अँधेरे में जुगनुओं की तरह रास्ता दिखाने का प्रयास कर रही हैं। देश ही नहीं कभी पूरी दुनिया को रोशनी दिखाने वाले नालंदा एवं तक्षशिला विश्वविद्यालयों का क्या हश्र हुआ, किसी से छिपा नहीं है। इनमें से एक नालंदा विश्वविद्यालय बिहार में रोगग्रस्त है, तो दूसरी के अस्थिपंजर पाकिस्तान के रावलपिंडी की धरती पर पड़े हैं। यही नहीं हमारी नई पीढ़ी भारतीय संस्कृति को अलविदा कह बड़ी तेजी से पश्चिमी उपभोक्तावादी संस्कृति का अँधानुकरण कर रही है जिससे हमारो सामाजिक संरचना और पारिवारिक ढाँचे तो बिगड़ ही रहे हैं, पारिवारिक रिश्तों में भी दरारें स्पष्ट दिख रही हैं।

आखिर इन सभी बीमारियों एवं समस्याओं के लिए कौन जिम्मेदार है? हम अपने गिरेबान में क्यों नहीं झाँकते? अभी-अभी पिछले दिनों नई दिल्ली में आतंरिक सुरक्षा पर आयोजित मुख्यमंत्रियों के सम्मेलन में हमारे प्रधानमंत्री डॉ. मनमोहन सिंह ने बड़ी ईमानदारी से यह स्वीकार किया कि आर्थिक असमानता का सीधा संबंध नक्सलवाद और आतंकवाद से है, जो हमारी आतंरिक सुरक्षा के लिए सबसे बड़ा खतरा है। इस संदर्भ में मैं यह भी कहना चाहूँगा कि आंतरिक सुरक्षा की गड़बड़ी से विकास भी प्रभावित होता है। दोनों एक दूसरे पर काफी हद तक निर्भर करते हैं।

जहाँ तक सामाजिक सुरक्षा की बात है आज हम देशवासी जाति-धर्म, भाषा, क्षेत्रवाद और लिंगभेद की चुनौती से जूझ रहे हैं, जिसका संबंध आर्थिक

विषमता से नहीं है। तसलीमा नसरीन जैसी प्रखर एवं प्रतिभाशाली लेखिका पर चारों तरफ से हमला और किरण बेदी जैसी तेज-तर्रार महिला आई.पी.एस. अधिकारी की उपेक्षा को क्या आप आर्थिक विषमता से जोड़ सकते हैं? दरअसल, आजादी के दो-तीन दशक के बाद ही हमारे राजनेता सत्ताधारियों ने अपने तात्कालिक स्वार्थ के लिए किस तरह राजधर्म को गिरबी रख दिया। कभी भिंडरावाले का इस्तेमाल किया, तो कभी प्रभाकरन का। सत्ता के लिए शुरू हुआ राजनेताओं का यह आत्मघाती खेल अब तक हजारों कीमती और निर्दोष लोगों की जानें ले चुका है। इधर तुष्टीकरण की नीति ने तो राजनीतिक दलों और उसके नेताओं को और बेनकाव करके रख दिया है। और तो और अब मजहब के नाम पर अलग से बजट में आवंटन होने लगा है। यह तो देश को एक तरह से तोड़ने और सामाजिक ढाँचे को तहस-तहस करने का एक नया तरीका राजनेताओं ने ढूँढ़ निकाला है।

सच तो यह है कि सत्ता का चेहरा प्रत्येक युग में एक-सा ही रहा है, बस केवल रंग और आकार बदल जाता है। वोट के लिए किसी खास वर्ग को खुश कर हम पहले से भी उसका परिणाम भुगत रहे हैं। आंतरिक सुरक्षा पर जो खतरा है क्या उसमें देशद्रोहियों और विदेशी आतंकियों का हाथ नहीं है? और यदि है तो देश में उसे कौन पनाह दे रहा है? निश्चित रूप से हमारे बीच के लोग ही उसे पनाह दे रहे हैं।

बल्कि सच तो यह है कि इन देशद्रोहियों को यदि कोई प्रश्रय दे रहा है तो वे हैं हमारे राजनेता और सत्ता से जुड़े लोग। आपने देखा नहीं प. बंगाल के नंदी ग्राम में किस तरह वोटों की फसल काटने के लिए लोगों के अस्तित्व को खाद बनाकर इस्तेमाल किया गया लहू से सींची गई सत्ता की पौध और सत्ता के सहयोगी दल के पंथनिरपेक्ष कहलाने वाले झंडाधारी इस हिंसा में शामिल बताए गए।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि चारों ओर से हमारी राष्ट्रीय एकता चरमरा रही है और समाज में असंतोष चरम पर है। सामाजिक सुरक्षा का संकट हर किसी को साल रहा है। टूटते मूल्य और हर क्षण नष्ट होती हमारी सांस्कृतिक धरोहरें एक ओर जहाँ हमें संक्रमणकाल की तरफ इशारा कर रहे हैं, वहीं दूसरी ओर राष्ट्रीय एकता पर भी खतरा मंडरा रहा है। ऐसी विषम एवं भयावह स्थिति में भी आंतरिक सुरक्षा पर पिछले दिनों नई दिल्ली में बुलाई गई

मख्यमंत्रियों की बैठक में कुछ ठोस नतीजे पर नहीं पहुँचना इस बात का परिचायक है कि देश की एकता, अखण्डता और संप्रभुता को चुनौती देने वाले तत्त्वों से दो-दो हाथ करने की इच्छाशक्ति न तो केंद्रीय सत्ता में दिखी और न ही राज्य सरकारों में। यदि यही स्थिति रही, तो हम देश की राष्ट्रीय एकता को कैसे अक्षुण्ण बनाए रख सकते हैं? इस सवाल का जवाब है-

कहीं न कहीं से, किसी न किसी को,
शुरुआत तो करनी होगी, भारत की तस्वीर,
बदलनी ही होगी, अपनी लड़ाई, खुद लड़नी होगी।

राष्ट्रीय एकता आज देश की सर्वाधिक आवश्यकता है। कारण कि लोकतंत्र की सफलता और देश की प्रगति के लिए राष्ट्रीय एकता ही मूलाधार है, चाहे देशवासी किसी भी धर्म, जाति, धर्म, क्षेत्र और भाषा के हों उनकी राष्ट्रीयता एक ही होती है, जो लोगों को एकता पैदा कर देश की आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक प्रगति का मार्ग खोलती है।

राष्ट्रीय एकता के संदर्भ में एक और बात काबिलेगौर है कि भारत को भारतीय स्रोतों और भारतीय विचारधाराओं के आधार पर समझने की जरूरत है, न कि विदेशी स्रोतों और विदेशी विचार-परंपराओं के आधार पर। डॉ. भीमराव अम्बेडकर का स्पष्ट मत था कि भारत को समझने के लिए उसकी बुनियादी शर्त यह है कि उसे यहाँ की परंपराओं, ज्ञान-विज्ञान के स्रोतों और उपकरणों तथा यहाँ की धरती और सोच में रचे-बसे बाशिंदों के जरिए समझना होगा। भारत की आबादी का 84-85 प्रतिशत हिंदू है, जिसे अबतक प्राय: हर राजनीतिक दल और विचारधारा ने दुत्कारा है और गरियाया है। राजनीतिक दलों और विचारधाराओं ने भारत की सबसे बड़ी आबादी के साथ जो सलूक किया है, उसकी तुलना दुनिया के इतिहास में किसी भी देश या घटना से नहीं हो सकती। खुद को पंथ-निरपेक्ष और आधुनिक मानने की बहस में हम इतने आगे बढ़ गए कि हम हिंदू विरोधी और हिंदू समाज को तोड़ने वाले हो गए। नतीजतन आज हम खुद के हिंदू होने पर इतना शर्मिंदा हो गए कि हिंदुत्व हमें इस देश की हर घृणात्मक वस्तु का जनक और प्रतीक नजर आने लगा। ऐसी स्थिति में हमें आज इस बात पर गंभीरता से विचार करने की जरूरत है कि कैसे इतनी विचार-परंपराएँ इस देश में पनपीं और उसका स्वरूप क्या है। आखिर देश वैसा ही तो बनेगा जैसा देश की 84-85 प्रतिशत आबादी चाहेगी। यह तानाशाही नहीं लोकतंत्र की सहज स्थिति है। मगर

राजनीति ने उसे जातियों में बाँटकर बिखेर देने की कोशिश की और आज भी कर रहो है। अगर किसी देश की इतनी बड़ी आबादी एकजुट नहीं रहेगी, तो दुनिया की कोई ताकत उस देश को टूटने से बचा नहीं सकती और उस स्थिति में राष्ट्रीय एकता पर संकट मंडराना स्वाभाविक है।

प्राचीन काल में भी राजनीति, अर्थ, भाषा, मजहब और जाति लोक जीवन को तरह-तरह के ये पाँचों ईर्षालु और स्पर्धा इकाईयों में विभाजित करने वाले तत्त्व मौजूद थे, फिर भी वे देश की एकता को भंग नहीं कर पाए 'जिसकी एक ही वजह' थी राष्ट्रय एकता। दरअसल, राष्ट्र को विघटन करने वाली दुष्प्रवृत्तियाँ काल के प्रवाह में आती गईं और हम देशवासी उसमें फँसते गए। जैसे संस्कृति शब्द का प्रयोग पहले 'धर्म' शब्द के अंतर्गत होता था जिसमें समस्त जीवन पद्धति आ जाती है। यही 'धर्म' शब्द धीरे-धीरे विकृत्त होता गया और जगह-जगह संकुचित अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। विभिन्न कौमों ने अपने-अपने धर्मों को प्रधानता दी। भारत में भी धर्म की प्रधानता रही है, किंतु वह राजनीति को नहीं छू पाया था। अशोक के समय में भी धर्म की प्रधानता रहने के बावजूद समय पड़ने पर राष्ट्रीय एकता ही राष्ट्र के काम आई। उस वक्त भी दर्शन पक्ष के क्षेत्र में परस्पर बड़ा मतभेद रहा, पर वह चिंतनशील एवं समझदार महापुरुषों तक ही सीमित रहा और दूसरी बात यह कि धर्म के मौलिक तत्त्वों में कोई बड़ा मतभेद नहीं था। यही कारण है कि शंकर, बुद्ध, कबीर, महावीर, गुरु नानक तथा तिरुवल्लुवर आदि धर्म नेता इस देश में समान रूप से सम्मान पाते रहे। भारत के सामाजिक संगठन, अर्थव्यवस्था और राजनीतिक परंपरा पर धर्मभेद का विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। धार्मिक क्षेत्र में मतभेद होते हुए भी जनता पर विशेष प्रभाव नहीं डाल सका और सब धर्म राष्ट्र की एकता में बँधे रहे और हमारे देश में राष्ट्रीय एकता बनी रही, मगर मौजूदा दौर में हर धर्म एक दूसरे को नीचा दिखाने पर अमादा है। धार्मिक और जातीय कट्टरता का रोग प्राय: हर धर्म और जाति में आज दिखाई देता है। धर्मांधता और कट्टरता की वजह से हमारे देश में आए दिन झगड़े-फसाद होते दिखाई देते हैं। जब कोई दूसरा देश हमारे देश पर आक्रमण करता है तो देश उसका सामना राष्ट्रीय भावना की कमी की वजह से नहीं कर पाता है। राष्ट्रीय एकता तमाम ऐसे झगड़े को समाप्त कर सकती है, क्योंकि राष्ट्रीयता की भावना से सिर्फ राष्ट्र का ही भला नहीं होता, बल्कि व्यक्तियों के बीच धर्म की कच्ची दीवारें भी टूटती हैं और

जाति-पाति के भेदभाव भी समाप्त होते हैं। यही नहीं कला, साहित्य, विज्ञान, व्यापार की भी वृद्धि होती है। देश का धन विकास कार्यों में लगता है। अतः आज देश को राष्ट्रीय एकता की सर्वाधिक आवश्यकता है, जिसके लिए देशवासियों में राष्ट्रीय भावना को जगाना ज़रूरी है। वैसे भी जिस माटी में हमने जन्म लिया, जिस धरती पर बहने वाली सरिताओं का जल हमने पिया, जिस हवा में हमने सांस ली, जिस नीले आकाश के चाँद और तारों भरी शीतल रोशनी में मन की आँखों से अपने प्रिय को निहारा है, उस देश के साथ अपनत्व और निजत्व रखना तो हमारा नैतिक और राष्ट्रीय दायित्व बनता है। इसलिए समय का तकाजा है कि हम अपनी सभ्यता, संस्कृति, भाषा और साहित्य के अक्षय कोष के प्रकाश स्तंभ तले नए विहान के आगमन को सुनिश्चित करें जिसके लिए राष्ट्रीय एकता अत्यंत आवश्यक है, क्योंकि ये ही वे तत्त्व हैं, जो दिलों को ही नहीं कौमों और सारी मानवता को जोड़ते हैं तथा हर तरह के भेदभावों से पैदा होने वाली संकीर्ण मानसिकता से ऊँचा उठने की प्रेरणा देता है। जाने-माने शायर अहमद फराज और रामबहादुर चौधरी 'चंदन' की ग़ज़लों की इन दो-दो पंक्तियों से अपनी बात समाप्त करता हूँ-

तमाम उम्र कहाँ कोई साथ देता है
ये जानता हूँ, मगर थोड़ी दूर साथ चलो।

तोड़े हैं आँधियों ने कुछ पत्ते हरे मगर,
टूटा नहीं कभी यहाँ गुलशन का ख़्वाब है।

विचार दृष्टि, बर्ष- 10, अंक : 35, अप्रैल-जून 2008

◈◈◈

राजनीति के छल-छद्मों में उलझी राष्ट्रभाषा हिंदी

अँग्रेजी साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद से लंबी लड़ाई के पश्चात 15 अगस्त, 1947 को हमें आजादी मिली। इस आजादी की 60वीं वर्षगाँठ और 1857 के जंगे आजादी की 150वीं वर्षगाँठ के अवसर पर अभी पिछले वर्ष हमने बड़े कृतज्ञ भाव से अमर शहीदों के बलिदानों को याद किया। इस वर्ष महात्मा गाँधी की शहादत के साठ साल पर हम बापू को विशेष रुप से याद कर रहे हैं। ऐसे में यह जरुरी हो जाता है कि संविधान सभा में देश की धड़कन रही हिंदी पर भी हम एक नजर डालें, खासकर तब जब हम 14 सितंबर को प्रत्येक वर्ष की तरह हिंदी को 'राजभाषा दिवस' के रूप में मना रहे हैं।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 343 में देवनागरी लिपि में हिंदी को राजभाषा तो घोषित कर दिया गया, किंतु बाद के वर्षों में यह राजनीति के दलदल में ऐसे फँसी कि आजतक इसे अँग्रेजी की सहचरी बनकर ही रहना पड़ रहा है। चाहकर भी इसे अपने माथे की बिंदी नहीं बना पा रहे हैं जबकि भारत की आधुनिक भाषाओं में हिंदी ही सच्चे अर्थ में सदैव भारतीय भाषा रही है और यही निरंतर भारत की समग्र चेतना को वाणी देने की कोशिश की है। सच तो यह है कि इस देश की अनेक भाषाएँ अब अंतरराष्ट्रीय भाषाओं के रुप में स्वीकृत हैं और विश्व स्तर पर पहचान दिलाने के लिए विश्व हिंदी सम्मेलन के माध्यम से हिंदी को संयुक्त राष्ट्र की स्वीकृत भाषा सूची में भी स्थान दिलाने हेतु हम प्रयासरत हैं, किंतु भारत की सर्वाधिक प्रयोग में आने वाली भाषा हिंदी अपने ही घर की राजनीति के छल-छद्मों में उलझी नजर आ रही है। तो आइए, हम सभी इस राष्ट्र के मुकुट के दर्द को महसूस करें और हिंदी की सिसकियों को शब्द दें, स्वरुप दें और आवाज दें तथा हिंदी साहित्य के माध्यम से इसे समाज में, जन-जन में यह भर दें कि भारतीय संस्कृति और राष्ट्र की सापेक्षता की भाषा हिंदी ही भारतवासियों की एक मात्र राष्ट्रभाषा और प्रतिनिधि भाषा हो सकेगी। राजनीति के छल-छद्म से मुक्त होने का केवल एक ही रास्ता है कि हम अपनी लेखनी के साथ सदा राम रावण का, कृष्ण कंस का, देव दानव का ध्यान रखें, और हिंदी भाषा के विचलन को रोकने का हमारा प्रयास हो। राष्ट्रभाषा हिंदी ही ऐसी लोकप्रिय भाषा है, जो हमें गिरने से बचा सकती है, परकीय संस्कृति और सभ्यता से दूर कर सकती है, अपनी माता, ममता और समता का गौरव जगा सकती है और तभी हम सच्चे भारतीय कहलाने के अधिकारी होंगे।

भारतीय संविधान सभा में हिंदी को 'राष्ट्रभाषा' बनाने की लड़ाई लड़ने वालों में यशस्वी भाषावीर थे– डॉ. सेठ गोविंद दास, प्रकाशवीर शास्त्री, डॉ. श्यामा प्रसाद मुखर्जी,

डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी, बाल कृष्ण शर्मा 'नवीन', आर.वी. धुलेकर, विश्वंभर दयाल त्रिपाठी, लक्ष्मीनारायण साह एवं दक्षिण भारतीय विदुषी जी दुर्गाबाई देशमुख आदि। सेठ गोविंद दास के नेतृत्व में राष्ट्रभाषा हिंदी की लड़ाई पूरी शक्ति और निष्ठा के साथ संविधान सभा में लड़ी गई, किंतु खेद है कि दो सौ वर्षों तक इस देश को गुलाम बनाने वाले अँग्रेजों की 'फूट डालो, राज करो' की कुटिल राजनीति के चक्रव्यूह में उलझी हिंदी पराजित हो गई। महात्मा गाँधी ही ऐसे एक मात्र नेता थे, जिन्होंने इस कुटिलतापूर्ण षडयंत्र का आभास कर लिया था। आखिर तभी तो सन् 1906 में उन्होंने लिखा था-''विभिन्न प्रदेशों में अँग्रेजी बोलने वाले लोग मिल जाते हैं, किंतु उनकी संख्या बहुत ही थोड़ी है और हमेशा थोड़ी रहेगी। साधारण भारतवासी इसे ग्रहण नहीं कर सकता। इसलिए अँग्रेजी के जरिए भारत की एकता संभव नहीं। अत: भारतीयों को भारत की ही कोई भाषा पसंद करनी होगी।'' भारत राष्ट्र का यह दुर्भाग्य रहा कि हमारी संविधान सभा में 'हिंदी' राजनीति के हाथों हार गई।

हालांकि भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस ने अपने 39 वें अधिवेशन में एक पारित प्रस्ताव में कहा था कि 'हिंदुस्तानी ही भारत की राष्ट्रभाषा होगी, किंतु स्वाधीनता प्राप्ति के बाद जब अन्य भाषाओं के राष्ट्रीय स्वरूप एवं महत्त्व की ओर ध्यान गया, तो 14 सितंबर, 1949 को 'राष्ट्र भाषा' की जगह 'राजभाषा' घोषित कर दिया गया। इस संदर्भ में प्रख्यात् शिक्षाविद् डॉ. अमरनाथ सिन्हा का कथन बहुत बड़ी सच्चाई को उजागर करता है- ''संविधान सभा ने जहाँ भारत देश के लिए राजभाषा अंकों एवं लिपि संबंधी महत्त्वपूर्ण निर्णय लिया, वहीं इसके कार्यान्वयन में लचीलापन रखकर आने वाली संतानों के लिए जटिलताओं एवं समस्याओं के गड्ढे भी तैयार कर दिए.........''। इसके पश्चात्, भाषा के संबंध में 7 अगस्त, 1959 को एक बहुत बड़ा मोड़ आया या यों कहा जाए कि हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने की रही-सही आशा समाप्त हो गई जब प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू ने संसद में यह आश्वासन दे डाला कि- ''(1) जबरदस्ती नहीं होनी चाहिए (2) अनिश्चित काल तक अँग्रेजी सहयोगी भाषा बनी रहेगी (3) अँग्रेजी विकल्प भाषा तब तक रहेगी जब तक अहिंदी भाषा-भाषी चाहेंगे।''

प्रखर चिंतक एवं मुखर वक्ता प्रकाशवीर शास्त्री ने नेहरु जी के इस आश्वासन संबंधी बयान पर लोक-सभा में जो प्रतिक्रिया उस समय दी थी, वह आज भी संसद के इतिहास में सच को उजागर करता है। उन्होंने कहा था-''प्रधानमंत्री का यह आश्वासन इसी प्रकार की भूल है जिस प्रकार की भूल उन्होंने कश्मीर में जनमत-संग्रह का आश्वासन देकर की थी और हम जानते हैं कि कश्मीर के मसले की तरह राजभाषा हिंदी का मसला भी जटिल होता गया है।'' आज जब हम संविधान सभा में हिंदी राष्ट्रभाषा के प्रबल पक्षधरों की बातों का स्मरण करते हैं, तो पाते हैं कि हिंदी वस्तुत: विद्वेष एवं विघटन की कुटिल राजनीति से हारी है, अन्यथा हर दृष्टि से हिंदी सर्वथा और सभी पर भारी है। आपको याद होगा कि हिंदी के हिमायती सेठ गोविंद दास ने भी 19

अगस्त, 1947 को संविधान सभा में यह माँग की थी कि " मूल संविधान हिंदी में ही बने तथा इसका हिंदी रूप ही प्राधिकृत रुप से होना चाहिए।" यही नहीं उन्होंने अनेक सदस्यों के हस्ताक्षर से एक प्रस्ताव संविधान सभा में प्रस्तुत किया था-"हम लोग इस बात के पक्ष में हैं कि भारत के संविधान में यह रखा जाए कि राष्ट्रभाषा और राष्ट्रलिपि क्रमश: हिंदी और देवनागरी होगी। राष्ट्र संघ संसद में सब काम हिंदी और देवनागरी अक्षरों के द्वारा अथवा उस समय तक के लिए जो संघ संसद निश्चित करे, अँग्रेजी में होगा।" इस प्रस्ताव पर भारत के उत्तर-दक्षिण, पूरब-पश्चिम के प्राय: सभी प्रमुख हस्ताक्षरों ने अपने हस्ताक्षर कर एकजुटता का परिचय दिया था। दक्षिण भारत के जिन प्रमुख हिंदी के प्रबल समर्थकों ने इस प्रस्ताव पर अपने हस्ताक्षर कर संघ एवं संसद में हिंदी और देवनागरी अक्षरों के द्वारा सब काम करने की बात कही थी उनमें गोपाल स्वामी आयंगर, प्रो. एन.जी. रंगा, अलगू सेन, विमला राव, अनंत शयनम् आयंगर, डॉ. पट्टाभि सीता रमैया, विश्वनाथ दास तथा काला वेंकट राव का नाम स्मरणीय है। पूर्वी भारत से श्री गुहा, श्री मजूमदार, श्री युधिष्ठिर सिंह, तथा श्री चालिहा और पश्चिमी भारत से श्री निज लिंगप्पा, श्री गुप्ते, श्री पाटरकर आदि के साथ उत्तर भारत के सभी भाषा-भाषियों के उस प्रस्ताव पर हस्ताक्षर थे।

श्री आर.वी. धुलेकर ने हिंदी में अपनी बात रखते हुए कहा था- "चाहे बहस किसी भी भाषा में हो, किंतु मूल विधान उसी भाषा में माना जाए जो राष्ट्रीय भाषा होगी। अँग्रेजी का विधान उसका अनुवाद माना जाए अन्यथा अँग्रेजी से हिंदी अनूदित विधान स्वीकार करना हमारे लिए अपमानजनक होगा। ऐसा पहले किसी राष्ट्र में नहीं हुआ।"

13 सितंबर, 1949 का दैनिक समाचार पत्र 'हिंदू' ने भी लिखा था- "भाषा के प्रश्न पर जब बहस आरंभ हुई, तो बैठक में सदस्यों की संख्या अभूतपूर्व थी। इससे पता चलता है कि सदस्य इस प्रश्न को कितने महत्त्व की दृष्टि से देखते थे।" इसी प्रकार डॉ. श्यामा प्रसाद मुखर्जी ने बहस में कह दिया- "अँग्रेजी के माध्यम से संसार के अनेक भागों की संस्कृति के द्वार हमारे लिए खुल गए, विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी की जानकारी इसके बिना मुश्किल थी।" बस क्या था इसी सूत्र को पकड़कर जवाहरलाल नेहरु ने बहस के बीच कहा-"हमारी भाषा का प्रयोग आवश्यक है, किंतु अँग्रेजी भी भारत की महत्त्वपूर्ण भाषा बनी रहनी चाहिए, नि:संदेह अँग्रेजी एक अंतरराष्ट्रीय भाषा है।" नेहरु जी के अँग्रेजी के प्रति इस सम्मोहन का असर यह हुआ कि सब तरह से सक्षम होते हुए भी हिंदी 'राष्ट्रभाषा' नही बन सकी और राजभाषा के रुप में भी हिंदी को अँग्रेजी-मानसिकता के समक्ष उपेक्षा का विषपान करना पड़ रहा है, क्योंकि आजादी के इकसठ साल के बाद भी अँग्रेजी-मानसिकता के कुछ लोग हिंदी को निरंतर अनुवाद की भाषा बनाए रखने की साज़िश में लगे हुए हैं। ऐसे सुविधाभोगी और अँग्रेजी परस्त लोगों ने शोर मचा रखा है कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी की शिक्षा देने का माध्यम बनने में हिंदी सक्षम नहीं है और तकनीकी शिक्षा अँग्रेजी में ही दी जाती रहनी आवश्यक है।

ऐसे लोगों को मैं यह कहना चाहूँगा कि गुलाम मानसिकता की भाषा अँग्रेजी में कृषि, पशु-चिकित्सा, बागवानी तथा इंजीनियरिंग की उच्च शिक्षा लेकर कितने युवक देश के गाँवों का विकास कर रहे हैं? क्या अँग्रेजी साम्राज्यवाद की धरोहर अँग्रेजी से प्राप्त अभिजात्य संस्कार प्राप्त युवाओं का तादात्म्य हमारे ग्रामवासियों से करा पाते हैं? कतई नहीं। गाँवों तथा कस्बों तक अँग्रेजी के माध्यम से तकनीकी एवं विज्ञानपरक शिक्षा प्राप्त कर उस ज्ञान का प्रकाश पुँज कहाँ पहुँचा पाए? सच तो यह है कि यदि देशवासियों को उसकी अपनी भाषा के माध्यम से शिक्षा दी जाए, तो सीखने और ज्ञान प्राप्त करने की गति तेज होगी। अध्ययन, अध्यापन तथा शोध कार्य मातृभाषा के माध्यम से होने पर शिक्षण की रफ्तार तेज होगी, क्योंकि इस हालत में भाषा का ज्ञान अर्जित करने में लगने वाली शक्ति का अपव्यय नहीं हो पाएगा। न जाने क्यों हमारे नीति निर्धारक अँग्रेजी माध्यम से तकनीकी और विज्ञानपरक शिक्षा देने का हठ क्यों ठाने बैठे हैं? इन नीति-निर्धारकों को शायद यह नहीं मालूम कि नानक, कबीर, सूर और तुलसी राष्ट्रभाषा के लिए पहले ही, क्षेत्र तैयार कर गए थे। उनकी वाणी और पद्य देश के कोने-कोने में उन असंख्य श्रद्धालु नर-नारियों के कंठों से आज कई शताब्दियों से प्रतिध्वनित हो रहे हैं जिनकी मातृभाषा हिंदी नहीं है। इसी प्रकार स्वामी दयानंद, आर्य समाज और गुरुकुलों ने हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने में बड़ा श्रम किया। राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक आंदोलनों से राष्ट्रभाषा के आंदोलन को बहुत बल मिला। मगर आजादी के इकसठ वर्ष बाद जब हम हिंदी को माध्यम बनाने की बात करते हैं, तो सुविधाभोगी अँग्रेजी मानसिकता के लोग तिलमिला उठते हैं और अपनी प्रभुता को खिसकते देख विश्व की सबसे वैज्ञानिक भाषा 'हिंदी' को अक्षम कह देते हैं। संपूर्ण भारत राष्ट्र में समझी, बोली और लिखी जाने वाली भाषा के रूप में 'हिंदी' को संविधान में 'राजभाषा' घोषित किए जाने के बावजूद सार्वभौम राष्ट्र की राष्ट्र भाषा हिंदी को राजनीति की शतरंज के धूर्त खिलाड़ियों की कुटिल चालों में उलझकर अपमानित होना पड़ रहा है। इसमें तनीक संदेह नहीं कि इसकी वजह है उच्च पदों पर आसीन नौकरशाहों, राजनेताओं एवं विदेशी शक्तियों का षड्यंत्र।

सच कहा जाए तो हिंदी पूर्णत: सक्षम और वैज्ञानिक भाषा है जिसकी सबसे बड़ी शक्ति हैं 'लिपि की वैज्ञानिकता' और भाषा की ग्रहण-क्षमता। देवनागरी लिपि से अधिक समर्थ, व्यवस्थित, सक्षम, वैज्ञानिक और पूर्ण लिपि आज विश्व की किसी भाषा के पास नहीं है। रोमन लिपि में अराजकता है जबकि देवनागरी में पूर्ण व्यवस्था है। रोमन लिपि में एक ही वर्ण के कई उच्चारण है, जबकि देवनागरी में प्रत्येक ध्वनि स्वतंत्र एवं निश्चित है। रोमन में एक ही ध्वनि के कई वर्ण है, किंतु देवनागरी में यह दोष नहीं है। वस्तुत: हिंदी की समर्थता, वैज्ञानिकता और सच्चाई से राजनेता और नौकरशाह पूर्णत: परिचित हैं, फिर भी हिंदी को विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी उच्च शिक्षा का माध्यम बनाने से कतराते हैं जिसके मुख्य कारण हैं मनोवैज्ञानिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा

मौलिक ग्रंथों का सृजन न करा पाना। नि:संदेह राजनीतिक इच्छाशक्ति का अभाव उच्च शिक्षा में सक्षम हिंदी को माध्यम बनने से रोकता रहा है। दक्षिण भारत में हिंदी का विरोध किए जाने के मूल में शुद्ध रुप से राजनीति ही रही है, जबकि सच्चाई यह है कि उत्तर भारत के पर्यटकों से व्यापार-व्यवहार में दक्षिण भारत के लोग धड़ल्ले से हिंदी बोलते हैं। हाँ, इतना जरूर है कि त्रिभाषा फार्मूला के लागू नहीं होने की वजह से भी प्रत्येक भाषा-भाषी अपनी ही भाषा की लक्ष्मण-रेखा के अंदर संकीर्णता के चिंतन और व्यवहार में जी रहे हैं। यही कारण है कि हिंदीतर-क्षेत्रों के महात्मा गाँधी, प्रभाकर माचवे, रांगेय राघव, विनोबा भावे, डॉ. बाल शौरि रेड्डी, डॉ. तिप्पे स्वामी, डॉ. एन. चंद्रशेखरन नायर, पी.के. बाला सुब्रह्मण्यम, तथा ए. चंद्रहासन आदि हिंदीतर भाषियों ने जिस प्रकार हिंदी क्षेत्र में आकर हिंदी साहित्य को समृद्ध किया, वैसा हिंदी क्षेत्र के लोगों ने हिंदीतर भाषाओं का अभिसिंचन नहीं के बराबर किया। निश्चित रुप से भिन्न भाषा-भाषियों के बीच परस्परता की प्रक्रिया तत्काल प्रारंभ होनी चाहिए। इससे न केवल भारतीय भाषाओं की समृद्धि, उदार दृष्टिकोण और भावात्मक एकता आएगी, बल्कि राष्ट्रीय एकता को भी अक्षुण्ण बनाए रखने में आसानी होगी। हिंदी सभी भारतवासियों के बीच संपर्क-भाषा और सेतु-भाषा का काम तो करती ही है, यह उपभाषाओं से अपने को समृद्धतर भी कराती है। डॉ. बालशौरि रेड्डी, डॉ. एन. चन्द्रशेखरन नायर तथा रांगेय राघव जैसे हिंदीतर भाषी रचनाकारों ने हिंदी में लिखकर सेतु-सूत्र का काम किया है। इसी प्रकार मराठी के दिनकर नरबन, संस्कृत के डॉ. वंशीधर त्रिपाठी, कन्नड़ की श्रीमती सुधामूर्ति और उर्दू के जनाब स्माईल अहमद आदि प्रतिष्ठित लेखकों ने अपनी-अपनी भाषाओं के अतिरिक्त हिंदी की भी समृद्धि की है। आज हिंदी किसी एक प्रदेश या कुछ प्रदेशों की भाषा नहीं रह गई है। हिंदी यदि हमारी राष्ट्रभाषा है, तो इसी अर्थ में है कि वह किसी प्रदेश की नहीं, सारे राष्ट्र की भाषा है- देशभर में अलग-अलग ढंग से बोली, समझी जाने वाली भाषा हैं दक्खिनी हिंदी से लेकर आज की खड़ी बोली तक इस यात्रा में हिंदी ने कई रूप बदले हैं। आज यदि हिंदी इतनी समृद्ध हुई है, तो इसलिए कि हिंदी विभिन्न भाषाओं को अपनाते चले जाने की प्रक्रिया से परहेज नहीं करती। परहेज करना भी नहीं चाहिए। जहाँ तक अँग्रेजी के शब्दों को हिस्सा बनाने का सवाल है, हमें इस बात का ध्यान रखना जरुरी है कि अँग्रेजी हिंदी का हिस्सा बने, हिंदी पर हावी न हो जाए। आज, दुर्भाग्य से, अँग्रेजी हिंदी पर हावी होने लगी है और उसकी वजह राजनेता तथा नौकरशाहों की अँग्रेजियत मानसिकता, क्योंकि उनकी नीयत में खोट है और भाषा के बारे में उनकी नीति का आधार हिंदी भाषा को ईमानदारी से न तो समृद्ध बनाना है और न ही राष्ट्रभाषा। मात्र ज्ञान बघारने, बाजार के दबाव तथा वैश्वीकरण की विवशताओं आदि के नाम पर अँग्रेजी को हिंदी के शरीर पर ओढ़ाना बेढंगा काम है और दुर्भाग्यपूर्ण भी।

दरअसल, हमारे राजनेताओं ने हिंदी को मात्र अनुवाद की भाषा बनाकर हिंदी को अकारण दुरुह, कठिन और अव्यावहारिक बना दिया और शिक्षा को प्राथमिकता कभी दी ही नहीं, राष्ट्रीय बजट में नगण्य सा हिस्सा शिक्षा को दिया जाता रहा है, साथ ही राजभाषा आयोग वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली आयोग जैसी सरकारी संस्थाएँ सफेद हाथी ही बनी रही हैं। यही नहीं, हिंदी की चिंतन-शक्ति और अपार अभिव्यक्ति-क्षमता को नजरअंदाज किया गया। वस्तुत: परोक्ष रुप में अँग्रेजी को बनाए रखने का षड्यंत्र रचा गया है। सच तो यह है कि कल तक साम्राज्यवादी शक्तियाँ हमारे आँगन में घुसकर अपने झंडे गाड़ती थी, अपनी भाषा, अपनी नीतियाँ और अपनी विचार-धाराएँ हम पर थोपती थीं। हम स्मरण करें लॉर्ड मैकाले को, जिसने अपनी भाषा अपनी नीतियाँ और अपनी संस्कृति थोपकर एक ऐसा वफादार वर्ग तेयार किया, जो रक्त और वर्ण से भले ही हिंदुस्तानी हो, किंतु सोच, रुचियों और आदतों से वह अँग्रेज था। मैकाले की अँग्रेजियतवाले वे संताने आज हिंदी को राजभाषा घोषित किए जाने के साठ साल बाद भी हमारे बीच किसी न किसी रुप में मौजूद हैं, जो राष्ट्र भाषा हिंदी को अपना वाज़िब हक देने से वंचित कर रहे हैं और हमारे राजनेता वोट बैंक के चक्कर में अपने तात्कालिक लाभ के लिए भाषानीति को राजनीतिक रंग देने का प्रयास करते हैं। मगर अब परिस्थितियाँ बदल चुकी हैं। हमें चौकन्ना होने की जरूरत है, क्योंकि आज भी साम्राज्यवादी ताकतें हमारी ही भाषा का उपयोग अपने उत्पाद और अपनी विचार-धाराओं को बेचने में करती हैं कभी धर्म के नाम पर, जातीय विद्वेष को हवा देकर और हमारे देश के हिंदी की रोटी खाने वाले साहित्यकार भी वही कर रहे हैं, जो साम्राज्यवादी ताकते चाहती हैं। इसीलिए हमारे सामने आज चुनौतियाँ एकायामी नहीं, बहुआयामी हैं जिनसे मुकाबला हमें डटकर करना है, क्योंकि हिंदी जीवन का संदेश देती है और यह देशवासियों को जोड़ने का काम करती है। यह हमें उम्मीद जगाती है कि रात कितनी ही अँधकारमरय क्यों न हो उसका जाना आवश्यंभावी है।

डॉ0 बाल शौरि रेड्डी के अस्सी वर्ष पूरे होने पर विशेष

सन 1946 में तेलुगु में चेन्नई से प्रकाशित 'चंदामामा' की लोकप्रियता में इतनी वृद्धि हुई कि यह देश की प्रमुख भाषाओं में प्रकाशित होने लगी। देश की नई पीढ़ियों के लिए बचपन की यादों को समेटे 'चंदामामा' के हिंदी संस्करण के संपादक तेलुगुभाषी डॉ. बाल शौरि रेड्डी थे, जो सन् 1988 ई. तक निरंतर इसमें निखार लाने का प्रयत्न करते रहे और कई मायने में इनके संपादकत्व के चलते यह पत्रिका अद्वितीय हो गई।

नि:संदेह हिंदी दक्षिण के लिए 'अन्य' भाषा है, लेकिन पिछले लगभग आठ

दशक से उसके नियमित प्रचार, पठन-पाठन, शिक्षण-प्रशिक्षण की वजह से बहुत बड़ी संख्या में उसके विद्वान् और प्रेमी दक्षिण के सभी अँचलों में मिलते हैं। डॉ. बाल शौरि रेड्डी उनमें से एक प्रमुख हस्ताक्षर हैं जिनके प्रयत्न से राष्ट्रभाषा हिंदी के शोध, अनुवाद और तुलनात्मक अध्ययन में काफी प्रगति हुई है। कहना नहीं होगा कि जन्मदात्री आंध्र प्रदेश की जिस मिट्टी की सुगंध से डॉ. रेड्डी पले-बढ़े और जन्मघूंटी के साथ वहाँ की मिट्टी की महक की भाषा-'तेलुगु' सीखी, वही इनकी सारस्वत यात्रा की आधार-शिला बनी। राष्ट्रीय आंदोलन के साथ हिंदी भारत की राष्ट्रभाषा के रुप में उभरने के बाद महात्मा गाँधी को प्रेरणा से दक्षिण में हिंदी का बीजारोपन हुआ था। गाँधी जी की प्रेरणा से ही डॉ. बाल शौरि रेड्डी ने हिंदी को पल्लवित-पुष्पित करने का संकल्प लिया और यही भाषा इनकी जीवन-यात्रा एवं सारस्वत यात्रा का पाथेय बनी। तेलुगु और हिंदी इन्हीं दो भाषाओं को डॉ. रेड्डी अपने सृजनात्मक लेखन के दो नयन· मानते हैं, जिनके आलोक में ये अपने पाठकों के बीच पहचाने जाते हैं।

व्यवहार-कुशल और मिलनसार प्रकृति के डॉ. बाल शौरि रेड्डी न केवल दूसरों की प्रतिभा व ज्ञान को पहचानने में माहिर हैं, बल्कि उन्हें प्रोत्साहित कर आगे बढ़ाने में भी वे अपनी सदाशयता का परिचय देते हैं। इनका स्पष्ट मत है कि अन्य भारतीय भाषाओं के उन्नयन के साथ-साथ जबतक राष्ट्रभाषा हिंदी का विकास नहीं होगा, तबतक राष्ट्रीय एकता व भावात्मक एकता की कल्पना नहीं की जा सकती। रेलवे हिंदी सलाहकार समिति के सदस्य की हैसियत से जब कभी मैंने दक्षिण भारत की यात्रा की, डॉ. रेड्डी से हिंदी के प्रचार प्रसार में मुझे न केवल पूर्ण आत्मीय सहयोग मिला, बल्कि इन्होंने मेरा हौसला बढ़ाया। आज जो कुछ भी हिंदी साहित्य तथा पत्रकारिता के क्षेत्र में मेरी सेवा अर्पित है वह डॉ. बाल शौरि रेड्डी के सान्निध्य का भी प्रतिफल है जिसके लिए मैं इनके प्रति हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ।

उत्तर और दक्षिण भारत के साहित्य सेतु डॉ. बाल शौरि रेड्डी के 1 जुलाई, 2008 को अस्सी वर्ष पूरे होने पर **'विचार दृष्टि'** ने साहित्य की इस विभूति के व्यक्तित्व व कृतित्व पर विशेष प्रकाशित कर उनके प्रति सम्मान व्यक्त किया है। वैसे मैं यह महसूस करता हूँ कि इस पत्रिका में महान कालजयी साहित्य विभूतियों का अपेक्षित मूल्यांकन भौतिक दृष्टि से उनकी उपस्थिति में बहुत कम हो पाया है। हालांकि यह भी सच है कि साहित्य, काव्य-कुँज, कहानी तथा समीक्षा आदि स्तंभों के माध्यम से उनकी रचनाएँ प्रकाशित की जाती रही हैं, किंतु उनके समग्र साहित्य का मूल्यांकन करने में कोताही अवश्य की गई है जिसे मैं स्वीकार करता हूँ। सच कहा जाए, तो जीवनकाल में महान साहित्यिक विभूतियों की खोज-खबर रखने का सवाल समाज की सांस्कृतिक चेतना से जुड़ा है और इसका अर्थ इसलिए भी है कि जीवित रहते वह साहित्यिक विभूति

भी तो समझे और उससे प्रेरित हो कि समाज में उसकी कदर हो रही है अन्यथा मरने के बाद उसके बारे में कौन-क्या कहता है उससे उसका क्या मतलब? हालांकि यह भी सच है कि कबीर से निराला, मुक्तिबोध, त्रिलोचन तक लगभग सभी महान कालजयी साहित्यिक विभूतियों का मूल्यांकन भौतिक दृष्टि से उनके अनुपस्थिति होने के पश्चात् ही हो पाया।

विगत तीन-चार दशकों के दौरान डॉ. बाल शौरि रेड्डी दक्षिण भारतीय तथा तेलुगु भाषी होते हुए भी हिंदी के बहुचर्चित व्यक्तित्व रहे हैं तथा 'चंदामामा' जैसी चर्चित पत्रिका के लगभग ढाई दशक तक संपादक रहने के साथ-साथ आंध्र प्रदेश हिंदी अकादमी, दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा, भारतीय भाषा परिषद तथा तमिलनाडु हिंदी अकादमी के माध्यम से राष्ट्रभाषा हिंदी के प्रति समर्पित रहे हैं। लेखन के क्षेत्र में कविता, कहानी, उपन्यास तथा साक्षात्कार आदि में उन्होंने अपने उद्‌भट ज्ञान का परिचय देकर अपना लोहा मनवाया है। पिछले वर्ष अमेरिका के न्यूयॉर्क में आयोजित आठवें विश्व हिंदी सम्मेलन के बाल साहित्य के शैक्षिक सत्र की अध्यक्षता सहित सम्मेलन की साहित्यिक व्यवस्था में उनकी भूमिका को मैंने भी अपनी आँखों देखा और समझा है। वैसे भी उनके जीवट भरे जीवन की चर्चा पटना तथा दिल्ली की सभा-संगोष्ठियों में मुझे हमेशा सुनने को मिलती है। इसलिए मैंने यह लाजिमी समझा कि उनके साहित्य को ठीक से समझने और उनका अध्ययन करने वालों के लिए इस अंक में उनके व्यक्तित्व व कृतित्व पर विशेष प्रकाशन उपयोगी हो सकता है। विश्वास है उनके जीवन और साहित्य पर प्रकाशित सामग्रियाँ सजग और जिज्ञासु साहित्य रुचि के अध्येयताओं और पाठकों का ध्यानाकर्षण करेंगे। डॉ. रेड्डी के अस्सी वर्ष पूरे होने पर 'राष्ट्रीय विचार मंच तथा 'विचार दृष्टि' परिवार की ओर से उन्हें हार्दिक बधाई तथा दीर्घायु रहकर साहित्य-साधना में सदैव सक्रिय रहने की मंगलकामना।

विचार दृष्टि, वर्ष- 10, अंक : 36, जुलाई-सितंबर 2008

◈◈◈

'विचार दृष्टि' के दस वर्ष

भारतीय पत्रकारिता के गौरवशाली इतिहास में हिंदी पत्रकारिता का इतिहास भी पुराना है जिसकी शौर्यगाथा की मिसाल पूरी दुनिया में नहीं है। 1857 की जंगे आजादी के वक्त संपादक, प्रकाशक सहित पत्रकारों ने गोली-बंदूक तथा तोप-तलवार से लड़ने की बजाय कलम से क्रांति की चिंगारी को ज्वाला में बदल दिया। पत्र-पत्रिकाओं के जरिए जनमानस को आंदोलित कर फिरंगियों के विरुद्ध चिंगारी सुलगाने में पत्रकारों ने अहम भूमिका निभाई जिसके परिणामस्वरुप आजादी की पीठिका तैयार हुई। यानी आजादी की पहली क्रांति कलम से ही आई जिसका सच आज भी पत्र-पत्रिकाओं के इतिहास में दर्ज है। आजादी के बाद इस देश में पनपीं विभिन्न समस्याओं का निदान भी वैचारिक क्रांति द्वारा निकाला जा सकता है जिसकी भूमिका पत्र-पत्रिकाएँ बखूबी निभा सकती हैं।

हिंदी भाषा में पत्र-पत्रिकाओं को प्रकाशित करने के पीछे कारण है समसामयिक गतिविधियों से जनता को अवगत कराना, क्योंकि मनुष्य ज्ञान-विज्ञान की नवीन उपलब्धियों के प्रति भी विशेष जिज्ञासु हो उठता है। अन्य पत्र-पत्रिकाओं सहित दिल्ली से प्रकाशित राष्ट्रीय चेतना की वैचारिक संवाहिका **'विचार दृष्टि'** भी एक ऐसी ही पत्रिका है जिसका उद्येश्य है देश की राष्ट्रीय और सांस्कृतिक चेतना को जाग्रत करते हुए हिंदी भाषा एवं साहित्य की अभिवृद्धि में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान देना। इन्हीं उदे्श्यों को मूर्तरुप प्रदान करने हेतु विगत दस वर्षों से अपने विभिन्न स्तंभों व आलेखों के जरिए यह राष्ट्र मानस में नई स्फूर्ति व प्रेरणा संचारित करती रही है।

'विचार दृष्टि' मौजूदा दौर की ऐसी पत्रिका है जिसकी दृष्टि साफ, पूर्वाग्रहमुक्त और राष्ट्रीयता की सांस्कृतिक अवधारणा से विनिर्मित है। यह उन मूल्यों के प्रति अडिग और आस्थावान है जिसकी समसामयिकता का लोप होता जा रहा है और बाजारवादी सभ्यता जिसे तिरस्कृत कर रही है। व्यावसायिकता की इस मरुभूमि में पत्रकारिता की इस मूल्यपरक कसौटी पर **'विचार दृष्टि'** उन गिने-चुने नखलिस्तानों की तरह है, जिसने हाँफती-भागती मनुष्यता के लिए थोड़ा पानी बचा रखा है। इसके सारे सरोकार सामाजिकता और राष्ट्रीयता की संवेदनात्मक अनुभूतियाँ हैं। इसके लेखों व अग्रलेखों में राजनीति से आक्रांत होकर बिखरते समाज, साहित्य, संचार माध्यम, धर्म और संस्कृति के सार्वकालिक

सरोकारों के मानदंडों से जुड़े सवाल हैं, उभरते प्रश्न और संदर्भों से जुड़ी सूचनाएँ हैं।

'विचार दृष्टि' के लिए पत्रकारिता निराशा का कर्त्तव्य भाव नहीं है। इसलिए इसका दायरा वहाँ तक है, जहाँ अभी भी थोड़ी बहुत रोशनी बाकी है। यह उन आवाजों को सुनती है, जिनपर भरोसा किया जा सकता है और तेजी से उजड़ते पास-पड़ोस में ठहरते हैं, जहाँ संग-साथ की गरमाहट थोड़ी बची रह गई है। इसे विश्वास है कि अँधेरा व्यक्ति और समाज की अंतिम नियति नहीं है। यही कारण है कि इसमें वर्णित विषयों पर रचनाकारों के लेखन विषयपरकता को समेटते हुए भी अपना प्रभाव विषय-परक न डालकर दृष्टि और विचार-परक डालते हैं। सीधे तौर पर कहा जाए तो इसके विषय महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। महत्त्वपूर्ण है वह दृष्टि, जो विषय-वस्तु के भीतर सीधे सच्चाई को परत-दर-परत उघाड़ती जाती है। यह दृष्टि विषय को संदर्भ के बाहर खींच ले जाती है। आखिर तभी तो इसे न तो किसी वाद से आरोपित किया जा सकता है और न ही इसको एकांगी कहा जा सकता है।

दरअसल समग्रता में किसी पत्रिका को देख पाना और उसकी नकारात्मकता और सकारात्मकता को विवेचित करते हुए तथ्य के प्रति आग्रहशीलता, एक साधना का विषय है। इस साधना को साधने की कोशिश पिछले दस सालों से इस पत्रिका ने भरपूर की है। इस चिंतन-धारा की समग्रता उसे अलग अलग रंगों का एक ऐसा इंद्रधानुष थमाती है, जिसके रंग अलग-अलग अवश्य . लेकिन उसके जुड़ाव को किसी सीमा रेखा से विभाजित कर पाना बहुत मुश्किल है।

पिछले एक दशक में 'विचार दृष्टि' ने चिंतन और विचार के हर पक्ष को छूने का प्रयास किया है। इसके विषय और लेख अलग-अलग होते हुए भी चिंतन का धरातल एकरस और समतल है। प्रश्न को प्रश्न रहने देना और आँकड़ेबाजी का खेल-खेलकर पाठक पर विद्वता का गुरुडम स्थापित करना इसके लेखकों को पसंद नही है। इसके सहयोगी रचनाकार यदि प्रश्न उठाते हैं, तो उत्तर देने का साहस भी करते हैं। साहस इस माने में कि आज का लेखकीय सच वह चाहे साहित्यकार हो या पत्रकार और चाहे अपने विचारों को जितना ही विद्रोही तेवर देने की घोषणा करता हो, असलियत यह है कि वह कहीं न कहीं से प्रक्षेपित हो रहा है। **'विचार दृष्टि'** के लेखकों में विचारों का वह प्रक्षेपन नहीं है। अगर कुछ है भी, तो वह राष्ट्रीय चिंतन-धारा का प्रवाह, जो वह उस हर किसी को अपना बना लेता है, जो उसे आत्मसात करने को तैयार हो जाता है। इन विचारों

को पुरातन पंथी कहकर भी खारिज नहीं किया जा सकता, क्योंकि ये अँकुर संस्कृति के गर्भ से फूटते हैं, किंतु आज के छद्म बौद्धिकता के प्रति इसके लेखक बहुत निर्मम हैं और उस पर चोट करने से वे नहीं चूकते।

विचार प्रवाह, साहित्य, काव्य-कुँज, शख्सियत, आधी आबादी, दृष्टि, समीक्षा, शिक्षा, समाज, मुद्दा, न्याय-जगत तथा संस्मरण और सम्मान जैसे स्थाई एवं अस्थाई स्तंभों में विभक्त यह पत्रिका कहीं हिंदी राष्ट्रभाषा और अन्य भारतीय भाषाओं की बात करती है, तो कहीं गीत-संगीत और लोकगीतों की चर्चा करती दिखाई देती है। समाजवादी एवं प्रगतिवादी विचारों के साथ-साथ गाँधीवादी विचारधारा के प्रभावों का अँकन भी इसने किया है। काव्य-कुँज के तहत चिंतन और यथार्थ का अनोखा संयोग है तथा इसकी कविताओं में जीवन का सम्यक दर्शन दिखाई देता है। साथ ही राष्ट्रीय, सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्वरों की गूँज भी देखने-सुनने को मिलती है। प्रेमचंद परिवार के सबसे अधिक उम्र के जीवंत कथाकार श्री कृष्ण कुमार राय इसके 'कहानी' स्तंभ के चहेते रहे हैं, जिन्होंने न केवल अपनी कहानियों के माध्यम से **'विचार दृष्टि'** के पाठकों को एक अच्छी-खासी मानसिक खुराक प्रदान की है, बल्कि हिंदी साहित्य को समृद्ध करने में भी महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। संपादक मंडल की ओर से मैं श्री राय के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ।

इसी प्रकार 'आधी आबादी' शीर्षक स्तंभ के माधयम से महिलाओं की युगीन एवं समकालीन समस्याओं तथा उनके समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। हमारी पूरी कोशिश रही है कि 'संस्मरण' स्तंभ के अंतर्गत दिवगंत साहित्यकारों, पत्रकारों, राजनेताओं, कलाकारों, संस्कृतिकर्मियों तथा समाजसेवियों के समग्र व्यक्तित्व व कृतित्व के सारे आयामों को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किए जाएँ। यदि **'विचार दृष्टि'** के सहयोगी रचनाकारों की साहित्य सृजना को समझना हो, तो उनके हृदय की गहराइयों में उतरकर ही उनकी संवेदनाओं को समझा जा सकता है। इसके प्राय: सभी लेख विभिन्न चिंतन की अभिव्यक्ति के प्रतीक हैं। इस संदर्भ में यहाँ यह कहना कदाचित युक्तिसंगत होगा कि पिछले दस वर्षों में **'विचार दृष्टि'** में आए लेख प्रबुद्ध वर्ग के समक्ष एक गरिमा प्रस्तुत करते हैं, क्योंकि यह पत्रिका व्यक्ति की चिंता नहीं कर समष्टि की चिंता करती है और भारत की सबसे बड़ी शक्ति इसकी लोकशक्ति को मानती है। इसकी विचार-धारा 'सर्वेजना: सुखिन: भवन्तु' की है। पिछले दस सालों के दौरान जिन सहयोगी रचनाकारों की रचनाओं के बल पर यह पत्रिका नियमित रुप से प्रकाशित

होकर देश भर के पाठकों को आकर्षित करती रही है उनमें सर्वश्री कृष्ण कुमार राय, प्रो. कुमार रवीन्द्र, डॉ. राम निवास 'मानव', डॉ. बाल शौरि रेड्डी, डॉ. महेश चंद्र शर्मा, डॉ. दया कृष्ण विजयवर्गीय 'विजय', कविवर चंद्रसेन 'विराट', डॉ. मधु धवन, प्रो. राज चतुर्वेदी, डॉ. मंजुला गुप्ता, डॉ. सुषमा शर्मा, डॉ. नरेन्द्र शर्मा 'कुसुम', डॉ. शाहिद जमील, उदय कुमार 'राज', मेहरबान सिंह नेगी, राजभवन सिंह, युगल किशोर प्रसाद, मनु सिंह, वंशीधर सिंह, कविवर सत्यनारायण, डॉ. सतीश राज पुष्करणा, डॉ. शिववंश पाण्डेय, डॉ. धर्मेन्द्र नाथ 'अमन', डॉ. रमाशंकर श्रीवास्तव, प्रो. पी.के. झा 'प्रेम', डॉ. निर्मला एस. मौर्य, डॉ. देवेन्द्र आर्य, यू.सी. अग्रवाल, डॉ. एन.के.पी. श्रीवास्तव, डॉ. रामदेव प्रसाद, डॉ. हितेश कुमार शर्मा, नचिकेता, डॉ. लखन लाल सिंह 'आरोही', आर.एस. पटेल, एन.एस. शर्मा, प्रो. राम बुझावन सिंह, डॉ. डी.आर. ब्रह्मचारी, डॉ. शिवनारायण, जियालाल आर्य, सुरेन्द्र नाथ तिवारी, डॉ. वरुण कुमार तिवारी, गिरीश चंद्र श्रीवास्तव, वीणा जैन, चंद्रमौलेश्वर प्रसाद, प्रो. ऋषभदेव शर्मा, प्रो. नेहपाल सिंह वर्मा, कविता वाचक्नवी, शुक्ला चौधारी, पुष्पा जमुआर, नीलम साहू, डॉ. रेखा मिश्र, डॉ. शशि, राम गोपाल राही, चंद्रदेव सिंह, नागेश्वर शर्मा, ओमप्रकाश मंजुल आदि का नाम उल्लेखनीय है। हम हृदय से आभारी हैं आप सभी सहयोगी रचनाकारों की उदारता एवं सदाशयता के लिए और विश्वास करते हैं कि भविष्य में भी इनका स्नेह **'विचार दृष्टि'** के साथ बना रहेगा।

उल्लेख्य है कि सन् 1997 में राष्ट्रीय विचार मंच, बिहार की ओर से इसके मुख-पत्र के रुप में पटना से प्रकाशित **'राष्ट्रीय विचार पत्रिका'** के दो वर्षों में कुल छह अंक निकलने के पश्चात् भारत के समाचार पत्रों के पंजीयक (आर.एन.आई.), दिल्ली द्वारा **'विचार दृष्टि'** शीर्षक का अनुमोदन हुआ और फिर दिल्ली पुलिस के उपायुक्त के माध्यम से अग्रसारित मंच के आवेदन के आधार पर आर.एन.आई. द्वारा **'विचार दृष्टि'** का पंजीयन राष्ट्रीय चेतना की वैचारिक संवाहिका के रुप में स्वीकृत करने पर मंच को इसलिए प्रसन्नता हुई कि आर. एन.आई. द्वारा अनुमोदित **'विचार दृष्टि'** शीर्षक में पत्रिका के उद्देश्यों के अनुरुप 'विचार' और 'दृष्टि' दोनों का समावेश है, जिन पर पत्रिका प्रकाश डालना चाहती है। पंजीयन के साथ ही मंच तथा **'विचार दृष्टि'** का राष्ट्रीय कार्यालय पटना से राष्ट्रीय राजधानी नई दिल्ली के झंडेवालान तथा कुछ ही महीनों के बाद शकरपुर के यू-207 स्थित 'दृष्टि' फलैट में स्थानांतरित हो गया, किंतु **'विचार दृष्टि'** के प्रवेशांक का लोकार्पण 31 अक्टूबर, 1999 को लौह पुरुष सरदार वल्लभभाई

पटेल के 124वें जयंती-समारोह के अवसर पर पाटलिपुत्र के सुधी श्रोताओं एवं सधे साहित्यकारों व पत्रकारों से खचाखच भरे सभागार में संपन्न हुआ।

'विचार दृष्टि' ने अब तक दस वर्ष सफलतापूर्वक पूरे किए हैं। इस बीच इसने न जानें कितने उतार-चढ़ाव देखे, पर न तो कभी इसका प्रकाशन अनियमित हुआ और न ही संयुक्तांक निकला। यह इस बात का द्योतक है कि इसके संचालक एवं संपादक-मंडल की निष्ठा और सक्रियता काम कर रही है। कहना नहीं होगा कि यह पत्रिका पूर्णरूप से अव्यावसायिक है, जिसका देश भर में फैला एक बहुत बड़ा-सा पाठक परिवार है। साहित्य व समाज को समृद्ध और स्वस्थ रखने तथा आमजन में राष्ट्रीय चेतना जाग्रत करने के उद्देश्यों को पूरा करने के इस पावन कार्य में भारत के प्राय: सभी भाषाओं के रचनाकारों से इसे नैतिक, आर्थिक और रचनात्मक सहयोग मिलता रहा है, क्योंकि इन सब ने इसकी भूमिका को स्वीकार किया है। साथ ही प्रकाशन के दौरान तमाम खट्ठे-मीठे अनुभवों को प्राप्त करते हुए देश भर के पाठकों एवं लेखकों का स्नेह और सहयोग इसके पीछे एक मजबूत स्तंभ की भाँति खड़ा रहा। वैसे भी इतिहास साक्षी है कि देश को नई राह हमेशा रचनाकारों एवं पत्रकारों ने दिखाई है। इसी के आलोक में देश के खोए हुए अतीत का गौरव पुन: प्राप्त करने में तथा लोगों के साथ कदम से कदम मिलाकर चलने में **'विचार दृष्टि'** ने पिछले दस सालों में अपनी अहम् भूमिका निभाई है।

कुल मिलाकर देखा जाए तो यह पत्रिका अपनी वैचारिक, सर्जनात्मक, विश्लेषणात्मक पाठ्य सामग्री के साथ-साथ एक साहित्यिक व राजनीतिक मुद्दों पर भी प्रभावोत्पादक संपादकीय अग्रलेख के लिए भी संभवत: याद रखने लायक बन पड़ी है। यह पत्रिका साहित्य को जहाँ निर्मलता प्रदान करती है, वहीं समाज को लोगों तक अनूठे अंदाज में पहुँचाती है। पत्रिका के जरिए लोगों की बातें, उनकी जीवनी के अंश, साक्षात्कार, संस्मरण, कविता, कहानी आदि साहित्य की तमाम विधाएँ एक साथ कम खर्च में उपलब्ध हो जाती हैं। इसके साथ ही देश और दुनिया में बढ़ते आतंकवाद-नक्सलवाद के माहौल में यह पत्रिका एक दूसरे के बीच मैत्री, शांति, अहिंसा, सद्भाव, समभाव एवं सामाजिक समरसता का भाव जगाने में एक अहम-भूमिका निभा रही है और जनजीवन में सर्जनात्मकता पैदा कर बेरोजगारी और बेकारी की हालत में युवा शक्ति का रचनात्मक उपयोग कर विनाश के तांड़व से बचाने का भरसक प्रयास कर रही है।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि पत्र-पत्रिकाओं का आधुनिक

स्वरुप व्यक्ति की सामाजिक आवश्यकताओं, उपलब्धियों, मध्यवर्गीय संभावनाओं, लोकतांत्रिक इच्छाओं, व्यक्ति स्वातंत्र्य और व्यावसायिक मानदंडों के विकास का प्रतिफल है। सामाजिक प्राणी बनने के साथ ही व्यक्ति के लिए संचार ने एक आवश्यकता का रुप आज ले लिया है। संचार सृजन के माध्यम से समाज को नई चीज, नए विचार देते हैं, नई दिशा देते हैं, क्योंकि उनमें न केवल इतिहासबोध अच्छा है, बल्कि उत्कृष्ट स्तर की युग चेतना भी है। ऐसी स्थिति में हमारे सहयोगी रचनाकारों से यह उम्मीद की जाती है कि उनकी रचनाएँ उत्तम श्रेणी की होंगी और वे अपनी दांभिक मानसिकता से मुक्त होकर अधिकाधिक खोज-बीन करके लेखन की ओर प्रवृत्त होंगे और उनके रचना जगत का स्तर बढ़ा हुआ होगा।

संपादक के रुप में मुझे रचनाकारों, सहयोगियों तथा तथाकथित शुभेच्छुओं के ऐसे पक्षों को भी निकट से देखने का अवसर मिला, जिसे पचाने का मुझमें सामर्थ्य कदापि नहीं हो सकता। उनकी चतुराई और व्यावहारिक युक्ति मुझे नहीं भायी। इस तरह के और भी कई प्रसंग आए, जो साहित्य व साहित्यकारों के बदरंग पहलुओं को उजागर करते हैं। मगर इस बीच ऐसे सुधी सलाहकार भी आए, जिन्होंने न केवल मुझे रास्ता दिखाया, बल्कि आर्थिक रुप से **'विचार दृष्टि'** के डगमगाते कदमों को नजदीक से देखा, संपादक की पीड़ा को महसूस किया और उस पर विजय पाने में अपनी निष्ठा का परिचय दिया। इस सिलसिले में यदि भारतीय लेखा एवं लेखा परीक्षा सेवा के वरिष्ठ अधिकारी तथा **'विचार दृष्टि'** से पिछले दस वर्षों से समर्पण भाव से जुड़े श्री नंदलाल जी की हार्दिकता और सदाशयता को मुक्त कंठ से दाद दूँ, तो इसमें कतई अतिशयोक्ति नहीं होगी। दरअसल असलियत में पत्रिका टीमवर्क और संकल्प से भी चलती है। मैं अपने को इस माने में खुशनसीब मानता हूँ कि संपादक परिवार के रुप में मुझे एक अच्छी टीम तो मिली ही है, संपादकीय सलाहकार के रुप में **'विचार दृष्टि'** की बागडोर को श्री नंदलाल जी ने मजबूती से संभाला है, जिनके समर्पण और लगन की वजह से इसका 35वाँ अंक न केवल नयनाभिराम निकला, बल्कि इसकी सामग्रियाँ भी सारगर्भित तथा प्रभावोत्तेजक रहीं। दस वर्षों के इस कालखंड के अपने अनुभवों को यदि एक शब्द में मैं व्यक्त करना चाहूँ तो वह शब्द होगा 'गौरवपूर्ण' और सहयोगियों के मार्गदर्शन में इसकी गरिमा भविष्य में भी बरकरार रहेगी, इसी विश्वास के साथ **'विचार दृष्टि'** का यह दस-वर्षांक, जो पत्रकारिता के विविधा पहलुओं पर केंद्रीत है और इसके साथ ही राष्ट्रीय अधिवेशन विशेषांक

पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए मैं अतिप्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूँ। अपनी दस वर्षों की सारस्वत यात्रा पूरी करने में और इसके सफल एवं नियमित रुप से प्रकाशन के लिए तमाम लेखकों एवं पाठकों सहित इसके उपसंपादक डॉ. शाहिद जमील तथा सहायक संपादक उदय कुमार 'राज़' के प्रति हम विशेष रुप से आभारी हैं।

इन दस वर्षों की अवधि में हमने अपने पाठकों को वर्तमान के साथ-साथ अतीत से भी जोड़ने का एक विनम्र प्रयास किया और इस दौरान इस पत्रिका में अनेक ऐसी रचनाएँ प्रकाशित हुईं जो हमारे साहित्य की अमूल्य निधि हैं। पत्रिका के विभिन्न अंकों में ऐसी बहुत-सी सामग्रियाँ बिखरी पड़ी हैं, जिसे साहित्यप्रेमी संजोकर रखना चाहते हैं और वे रचनाएँ पाठकों को साहित्य व विचार के एक पूरे दौर एवं परंपरा से परिचित कराती हैं। दस वर्षों के दौरान यों तो राष्ट्रीय एकता, कविवर गोपी वल्लभ स्मृति अंक तो प्रकाशित हुई ही, पर हमारी एक और विशेष उपलब्धि रही **'१८५७ जंगे आजादी विशेषांक'**, जो संघर्ष के 150 साल के विभिन्न आयामों से जुड़ी-स्मृतियों तथा ऐतिहासिक दौर की घटनाओं को आज के संदर्भ में गहरी संवेदनशीलता के साथ देखने-परखने को प्रेरित करता है। तकरीबन 40 लेखों का यह विशेषांक 1857 की घटनाओं के नामकरण विवाद के पचड़े से अलग रहकर यह उन घटनाओं की वस्तुपरक प्रस्तुति करता है और पाठकों को स्वयं निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए स्वतंत्र छोड़ देता है। इसी क्रम में उत्तर एवं दक्षिण के साहित्य सेतु डॉ. बाल शौरि रेड्डी के अस्सी वर्ष पूरे होने पर संपादक मंडल ने उनकी सारस्वत यात्रा को समग्र रूप से समझने के लिए पत्रिका के 36वें अंक में विशेष प्रकाशित कर उनके प्रति सम्मान प्रदर्शित किया है।

हिंदी में साहित्यिक व वैचारिक पत्रिकाओं का जीवन लंबा नहीं होता। आपने देखा नहीं धर्मयुग, दिनमान, रविवार, साप्ताहिक हिंदुस्तान जैसी श्रेष्ठ पत्रिकाएँ काल के गाल में समा गईं, जबकि उनके समक्ष आर्थिक तंगी नही थी। विषम परिस्थिति में भी **'विचार दृष्टि'** किसी भी वाद, गुट या धड़े का समर्थन अथवा विरोध किए बिना निरंतर संतुलित और मर्यादित ढंग से केवल साहित्य, समाज, संस्कृति और विचार को समृद्ध करने की राह पर अनवरत बढ़ती जा रही है। इसने सत्ता से बिना कुछ पाए और उसकी लालसा किए बिना राजनीतिक व प्रशासनिक हस्तक्षेप अथवा दबाव से मुक्त रहकर नए-पुराने रचनाकारों की रचनात्मक और सकारात्मक रचनाएँ प्रकाशित की हैं। वित्तीय दबाव और सरकारी

विज्ञापनों के बिना नियमित रूप से सुरुचिपूर्ण साज-सज्जा एवं साहित्य की प्रायः सभी विधाओं की सतरंगी सामग्री के साथ समय पर यह पत्रिका प्रकाशित हो रही है। ऐसी पत्रिका के संपादक के दायित्व का निर्वहन करते हुए मुझे प्रसन्नता, संतुष्टि और गौरव की अनुभूति होना स्वाभाविक है, किंतु गर्व व हर्ष की इस अनुभूति के बीच मन-मस्तिष्क पर एक दबाव सदैव रहा कि **'विचार दृष्टि'** के नाम, प्रतिष्ठा व परंपरा पर आँच नहीं आने पाए।

मैं यह सहर्ष स्वीकार करता हूँ कि यह दायित्व मुझे मेरे अनुभव या दक्षता की वजह से नहीं, बल्कि उपलब्ध लोगों में बेहतर मानते हुए दिया गया था। हालांकि यह भी सही है कि भारतीय लेखा एवं लेखा परीक्षा विभाग के कार्यालय, प्रधान महालेखाकार (लेखा परीक्षा), बिहार, पटना से प्रकाशित विभागीय पत्रिका 'प्रहरी' के संस्थापक-संपादक का दायित्व संभालते हुए स्वैच्छिक सेवा निवृत्ति केवल लगभग दस वर्षों का अनुभव मुझे प्राप्त था, फिर भी डॉ. साधुशरण, जिया लाल आर्य, यू.सी. अग्रवाल, चंद्रमौलेश्वर प्रसाद, प्रो. ऋषभदेव शर्मा, डॉ. मधु धवन, डॉ. बाल शौरि रेड्डी, पद्मश्री डॉ. श्याम सिंह 'शशि', प्रो. राम बुझावन सिंह, डॉ. देवेन्द्र आर्य, डॉ. शाहिद जमील, मनोज कुमार, उदय कुमार 'राज़', प्रो. पी.के. झा 'प्रेम', राजेन्द्र कुमार प्रसाद, राजभवन सिंह, युगल किशोर प्रसाद, मनु सिंह, शिव कुमार सिंह आदि शुभेच्छुओं का सदैव सहयोग तो मिला ही, इधर-दिल्ली विकास प्राधिकरण के श्री नंदलाल जी के अपेक्षित मार्गदर्शन एवं सहायता से **'विचार दृष्टि'** की नौका को खेने में मैं आजतक गर्व का अनुभव कर रहा हूँ और इसका उच्च एवं गौरवपूर्ण स्तर बनाए रखने का प्रयास कर रहा हूँ। वैसे भी संपादक परिवार और सहयोगी रचनाकारों के सहयोग को ही मैं अपनी पूँजी मानता हूँ, हम इसे संजोकर रख पाएँ, तो यही हमारे लिए बड़ी बात होगी।

"टी.वी. के बढ़ते चैनलों के चलते लोगों को पत्रिका पढ़ने का समय नही है," सुप्रसिद्ध पत्रकार सुरेन्द्र प्रसाद सिंह के इस कथन को सत्य मानते हुए मेरा यही प्रयास रहा है कि **'विचार दृष्टि'** की मूल्यवत्ता में कमी न हो और सामाजिक एवं वैचारिक नैतिक मानदंड विलुप्त न होने पाए। आज विचारहीनता का दौर चल रहा है और विचारहीनता के दौर में समाज न तो स्वस्थ हो सकता है और न राष्ट्र सबल। साहित्य, कला, दर्शन, नैतिक मूल्य, विज्ञान आदि के स्रोत भी तो चिंतन और विचार ही हैं। जब किसी प्रभावशाली व्यक्ति के क्रांतिकारी चिंतन व विचार के द्वारा सामाजिक परिदृश्य बदलता है, तो वह बदलाव सामाजिक परिवर्तन की संज्ञा पाता है। संपादक परिवार इस बात से अवगत है और

इसी से वह दिशा पाता है।

'विचार दृष्टि' अपनी सेवा के दस वर्ष पूरे कर ग्यारवें वर्ष में प्रवेश कर रही है। इस पूरी अवधि में हमें आप पाठकों व लेखकों से जो स्नेह और सहयोग मिला, उसके लिए हम आपके प्रति ह्रदय से आभार व्यक्त करते हैं। साथ ही हम यह भी विश्वास रखते हैं कि आप अपना स्नेह पूर्ववत् बनाए रखेंगे। दस वर्ष की सेवावधि में हमने राष्ट्रीय चेतना जगाए रखने की वैचारिक पहल करने में कभी कोई कोर-कसर नहीं उठा रखा है। 'तब' और 'अब' की अगर हम तुलना करते हैं तो हमें सुखद अनुभव यह सोचकर होता है कि कालक्रम में कितने उतार-चढ़ाव से गुजरते हुए आज हम जिस पड़ाव पर आ खड़े हैं वहाँ **'विचार दृष्टि'** के शुभेच्छुओं की सोच में काफी बदलाव आया है और लोगों ने न केवल एक संपादक-प्रकाशन की पीड़ा को देखा-समझा है, बल्कि उसे महसूस करते हुए उस पीड़ा से मुक्ति के लिए उपाय भी सोच रहे हैं, यह इस पत्रिका के लिए एक शुभ संकेत है, क्योंकि इसमें नजर आता है सुंदर भविष्य और मुझे होता है सुखद अहसास। शुभेच्छुओं के सकारात्मक और रचनात्मक सोच से पत्रिका के नियमित व स्तरीय प्रकाशन का मार्ग प्रशस्त होता है। पिछले एक-दो अंक की जो साज-सज्जा और सामग्रियाँ हैं उसमें मुझे शीतलता और आशा की एक किरण नजर आती है। पत्रिका के परिदृश्य में परिवर्तन का श्रेय निःसंदेह इसके संपादकीय सलाहकार श्री नंदलाल जी को जाता है, जो भारतीय लेखा एवं लेखापरीक्षा सेवा के न केवल एक वरिष्ठ अधिकारी है, बल्कि दिल्ली विकास प्राधिकरण के वित्त सदस्य जैसे महत्त्वपूर्ण पद का दायित्व बखूबी निभा रहे हैं। दरअसल इस पत्रिका से ये विगत दस वर्षों से जुड़े रहे हैं और प्रारंभ में ही उसकी आजीवन सदस्यता स्वीकार कर पत्रकारिता के प्रति अपनी दिलचस्पी का परिचय दे चुके हैं। इनकी सदाशयता और सहृदयता के लिए मैं इनके प्रति अपनी कृतज्ञता इसलिए ज्ञापित करता हूँ कि इन्होंने समय पर और समय के साथ उच्च पद पर रहते हुए भी पत्रिका को आगे बढ़ाने में परहेज नहीं किया जो आमतौर पर नहीं देखने को मिलता है।

'विचार दृष्टि' का भावी रुप क्या होगा? इस प्रश्न का उत्तर एक ही हो सकता है कि **'विचार दृष्टि'** अपनी साहित्यिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक थाती के साथ-साथ सच का सच और गलत को गलत कहने की आदत को कभी नहीं छोड़ेगी और राष्ट्रीयता की भावना को जागृत करते रहने का हर संभव प्रयास करेगी।

विचार दृष्टि, वर्ष- 10, अंक : 37, अक्टूबर-दिसंबर 2008

◈◈◈

खंड- चारः प्रहरी

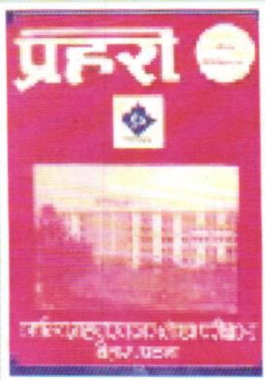

प्रवेशांक

अंक : 2

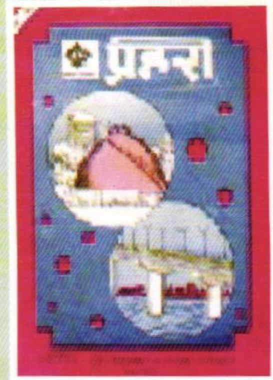

अंक : 5

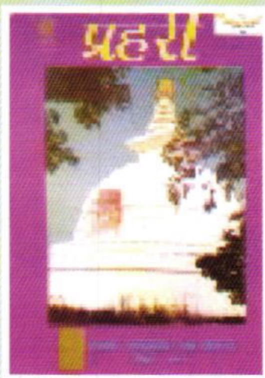

अंक : 9

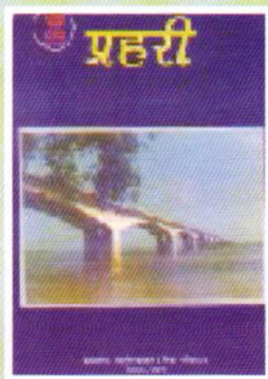

अंक : 10

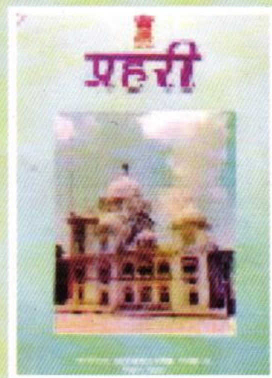

अंक : 11

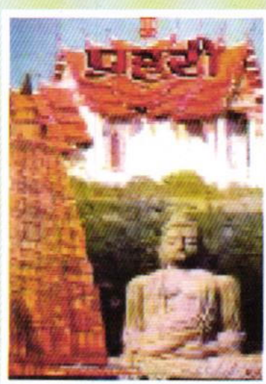

अंक : 12

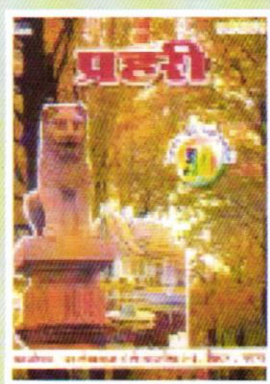

अंक : 13

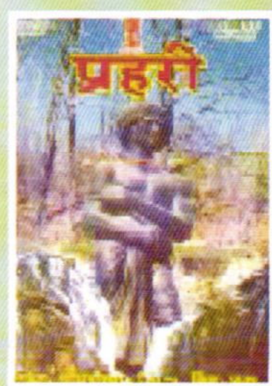

अंक : 14-15

सत्यमेव जयते

समाचार पत्रिका

समाचार पत्रिका

प्रवेशांक : जनवरी-मार्च,1999

कार्यालय-महालेखाकार (लेखा परीक्षा)-I, बिहार, पटना

संदेश

नव वर्ष १९९९ की मंगलकामनाओं के साथ इस कार्यालय की समाचार पत्रिका 'संघमित्रा' जनवरी-मार्च, १९९९ प्रवेशांक आपके समक्ष प्रस्तुत कर मुझे अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है ।

यह समाचार पत्रिका इस कार्यालय एवं विभाग के अन्य कार्यालयों के बीच उपयोगी एवं सौहार्दपूर्ण संबंध स्थापित करने, कला, संस्कृति, साहित्य, खेलकूद, कल्याण, कार्यालय के कामकाज में प्रगति तथा अन्य गतिविधियों के बारे में उपयोगी सूचनाएं प्रदान करने में अपनी महत्वपूर्ण एवं क्रियाशील भूमिका निभाएगी ।

पत्रिका त्रैमासिक एवं द्विभाषी होगी । इस समाचार पत्रिका को और उपयोगी तथा आकर्षक बनाने के लिए आपके सुझावों एवं प्रतिक्रियाओं के लिए हम आपके आभारी होंगे।

नन्दलाल
महालेखाकार
(लेखा परीक्षा)-1, बिहार, पटना

पत्रिका के नामकरण की पृष्ठभूमि

समाचार पत्रिका का नामकरण पाटलिपुत्र के सम्राट अशोक की सुपुत्री संघमित्रा के नाम पर किया गया है । कलिंग-युद्ध में विजय के पश्चात् नर-संहार से द्रवित होकर सम्राट अशोक ने बौद्ध धर्म अपनाया । यही नहीं, उन्होंने बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए संघमित्रा को दूत के रूप में अन्य देशों में भेजा । फलतः बौद्ध धर्म दुनिया के कई देशों में फैला ।

संघमित्रा की तरह यह पत्रिका भी प्रशासन एवं स्टाफ के बीच बेहतर संबंध स्थापित करने के साथ-साथ देश के विभिन्न कार्यालयों के बीच विचारों का आदान-प्रदान का एक माध्यम बनेगी तथा राष्ट्रीय एकता की कड़ी बनकर सौहार्दमय वातावरण का निर्माण करेगी, ऐसा विश्वास है ।

-संपादक

संपादकीय परिवार

संरक्षक : नन्द लाल, महालेखाकार(ले.प.)-1, बिहार, पटना
संपादक : सिद्धेश्वर प्रसाद, वरीय लेखा परीक्षा अधिकारी
उप-संपादक : जयप्रकाश मल्ल, सहायक लेखा परीक्षा अधिकारी
सहायक संपादक : राधेश्याम प्रसाद, सहायक लेखा परीक्षा अधिकारी
संपादन सहायक : मनोज कुमार, वरीय लेखा परीक्षक

प्रकाशक :
कार्यालय, महालेखाकार (ले.प.)-1
बिहार, पटना-800 001
दूरभाष : 221226, 223757-एक्सटेंशन 208

डॉ. बालशौरि रेड्डी के अस्सी वर्ष पूरे होने पर 'विचार दृष्टि' के लिए
साक्षात्कार करते हुए संपादक सिद्धेश्वर जी

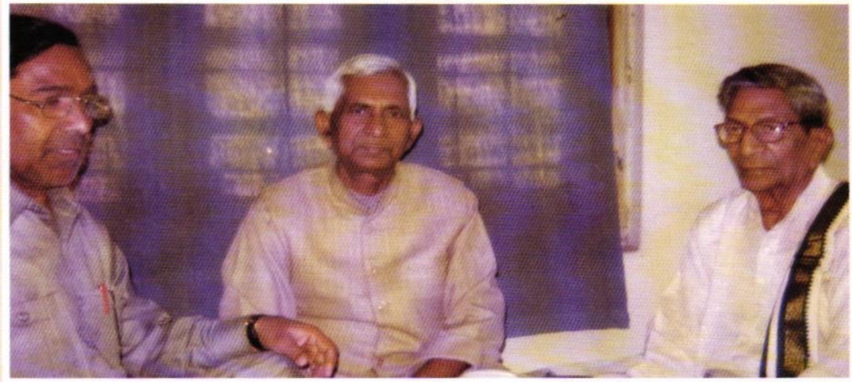

'विचार दृष्टि' के परामर्शी डॉ. बालशौरि रेड्डी से नई दिल्ली में आयोजित द्वितीय राष्ट्रीय अधिवेशन के संबध में विचार विमर्श करते संपादक सिद्धेश्वर एवं सहायक संपादक उदय कुमार 'राज़'

न्यूयॉर्क में आयोजित 'आठवें विश्व हिंदी सम्मेलन' में शामिल संपादक सिद्धेश्वर
के साथ डॉ. मधु धवन एवं डॉ. निर्मला एस. मौर्या

न्यूयॉर्क में आयोजित 'आठवें विश्व हिंदी सम्मेलन' के भारतीय प्रतिनिधि मंडल में शामिल सिद्धेश्वर के बाएं डॉ. निर्मला एस. मौर्य, डॉ. मधु धवन,डॉ. बुद्धिनाथ मिश्र एवं प्रो. राम बुझावन सिंह तथा दाएं डॉ. पांडे एवं श्रीमती इला शर्मा

न्यूयॉर्क में आयोजित आठवें विश्व हिंदी सम्मेलन के शैक्षिक सत्र में भाग लेते हुए सिद्धेश्वर जी के दाएं प्रो. राम बुझावन सिंह तथा बाएं श्री जियालाल आर्य एवं डॉ. राम दयाल मुंडा

न्यूयॉर्क में आयोजित 'आठवें विश्व हिंदी सम्मेलन' के दौरान संध्या समय सागर का लुत्फ उठाते बाएं से प्रो. किरण घई, प्रो. राम बुझावन सिंह, श्री सिद्धेश्वर जी, श्री जियालाल आर्य, प्रो. उषा किरण खान, प्रो. वीणा रानी श्रीवास्तव तथा प्रो. सुखदा पांडे

सजग प्रहरी की तरह 'प्रहरी' आपके सामने

'पहरी' पहली बार आपके समक्ष पेश है। कितना चुस्त-दुरुस्त है यह तो आप सुधी पाठक ही बता पायेंगे। देर हुई है इसे नकारा नहीं जा सकता, किंतु दुरुस्त यदि है तो आप से माफी मिल जायगी, ऐसा विश्वास है। चलिये, जब जागे तभी सबेरा। आप पाठकगण का विश्वास यदि जीत पाये तो विश्वास मानिए, यह 'प्रहरी' सजग प्रहरी की भाँति आपके सामने खड़ा रहेगा।

एक बात और आपको स्पष्ट कर देना चाहेंगे कि यह पत्रिका न तो साहित्यिक है और न व्यावसायिक। यह विशुद्ध विभागीय पत्रिका है और इसमें छपी सभी-की-सभी रचनाएँ अपने कार्यालय में लेखा परीक्षा जैसे तकनीकी कार्यों में व्यस्त अधिकारी तथा लेखा परीक्षकों की ही हैं। फिर, इसका उद्देश्य भी तो सरकारी कामकाज में राजभाषा हिंदी के प्रयोग को बढ़ावा देना है।

अतएव इसकी सभी रचनाओं में न तो आपको साहित्य की अपेक्षित ऊँचाई मिल पायेगी और न गहराई ही।

'प्रहरी' आपके हाथ है और आपकी नजर इसके आवरण पर। 'प्रहरी' अपने नाम से और लोगों को भले ही चौंकाये, किंतु हमें तो यह अपने कर्त्तव्य और जिम्मेदारी का बोध कराता है। स्वाभाविक है कि आज जब राष्ट्र की रग-रग में विसंगति समा गयी दिखती है और जब राजकोष की रखवाली की जिम्मेदारी संविधान ने हम पर सौंप रखी है, तब हमारा भी यह दायित्व बनता है कि हम सजग रहें और सजग बनने में 'प्रहरी' पत्रिका थोड़ी भी सहायता करती है तो यह प्रयास कारगर होगा।

आवरण पर रेखांकित हमारे कार्यालय भवन के अग्रभाग की छवि हमें एक-दूसरे के नजदीक लाने का प्रयास करेगी, यही मकसद है यहाँ यह चित्र देने का।

14 सितंबर अर्थात् हिंदी दिवस के पावन अवसर पर यह पत्रिका अपने प्रवेशांक के साथ आपके सामने सज-धज कर आई है और अपने साथ कई रंगों को लाई है, किंतु इसके लिये तो आपको इसका पन्ना उलटना ही होगा। कविता, कहानी, हास-परिहास, व्यंग्य, लघुकथा, चुटकुले तथा संस्मरण जैसी विधाओं के साथ-साथ लेखा परीक्षा प्रतिवेदनों के पन्नों से कुछ महत्त्वपूर्ण एवं रोचक प्रसंग

आपकी जिज्ञासा को पूर्णरूपेण तृप्त कर पायेंगे या नहीं यह तो नहीं कहा जा सकता, किंतु कुछ देर के लिये ही सही, यह आपकी आँखों को ठहरा लेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है। जरा देखें भीतरी पन्नों को अब।

मनुष्य स्वभाव से संवेदनशील होता है। हर आदमी अपनी जिंदगी में एक-न-एक सपना संजोता है भले ही वह पूरा नहीं, अधूरा रह जाय। लगता है, इस अंक में प्रकाशित 'अधूरे सपने' कहानीकार श्री किशोरी लालजी की आप बीती कहानी हो, उनका वह सपना जो अधूरा रह गया हो। खैर, हम क्यों छेड़ें उनके घाव को। उन्होंने तो स्वयं अपने घाव को उधेड़ा है। हम तो सहानुभूति के मलहम ही लगा सकते हैं उसपर। कालिदास के ख्यातिप्राप्त गीतकाव्य मेघदूत के माध्यम से कहानीकार ने जिस बखूबी से अपनी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति की है, नायक विमल के जीवन के कुछ अंतरंग मनोभावों को जिन शब्द-चित्रों में बाँधा है तथा नायिका की सुंदरता का वर्णन करने में उनकी कलम ने जो कमाल दिखाया है इससे हमें सुमित्रानन्दन पंत की निम्नलिखित पंक्तियाँ बरबस याद आ जाती हैं :-

वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान,
उमड़कर आँखों से चुपचाप, बही होगी कविता अनजान।

मानव स्वभाव का यही शाश्वत सत्य कहानी के पाठक पर एक स्थायी प्रभाव छोड़ जाता है। कहानी का संस्कृतमय पद-विन्यास एवं उत्प्रेक्षाओं का बाहुल्य अपने आप में एक आकर्षण है।

सबका अपना-अपना नजरिया होता है। हम लेखा परीक्षावालों का भी अपना एक नजरिया है। आप लाख चाहें अपनी त्रुटियों को छिपाना, हमारी नजरों से बचकर वह निकल नहीं सकतीं, क्योंकि वह हमारे स्वभाव का एक अंग बन चुकी है। हमारी नजर आपकी विसंगतियों, अनियमितताओं एवं कारनामों पर जायेंगी ही। इस अंक की कविता ''लेखा परीक्षा या दृष्टिदोष'' में लेखा परीक्षा की यही तस्वीर खींचने का प्रयास किया गया है।

एक ओर जहाँ इस अंक ने मन के चोर को आपके सामने खड़ाकर अपनी व्यथा-कथा को उजागर करने का प्रयास किया है, वहीं दूसरी ओर स्थानीय लेखा परीक्षा से जुड़ी कई समस्यायें भी निदान के साथ आयी हैं।

आज हम हिंदी दिवस मना रहे हैं हिंदी भाषा-भाषी जैसे प्रदेश बिहार में भी। आजादी के 43 वर्षों बाद भी राजभाषा हिंदी की बदहाली के लिये आखिर

किसे जिम्मेवार ठहराया जाय। अपने आपमें झाँक कर यदि देखें, तो दोषी स्वयं को पायेंगे। अँग्रेजी के मोह से, पता नहीं, हम क्यों नहीं मुक्त हो पा रहे हैं? हमें याद आता है भारत के पूर्व राष्ट्रपति ज्ञानी जैल सिंह जी का वह कथन जिसमें उन्होंने कहा है "अँग्रेजी को अपने माथे का दाग न समझते हुए उसे माथे का तिलक समझ बैठे हैं, इसको मिटाना होगा।" संवैधानिक दृष्टि से हिंदी भाषा की स्थिति मजबूत है, किंतु यह मजबूती जब व्यवहार में नहीं आती तब शिलालेख की तरह एक स्थान पर बंद बस्ते में निष्प्राण हो जाती है। "राष्ट्रभाषा - एक समीक्षा" में विस्तृत रूप में बहुत सारी जानकारी दी गयी है। साथ ही, हिंदी की इसी महत्ता को मद्देनजर रखते हुए हमने अपनी लेखनी का प्रयोग किया है - "कार्यालय में हिंदी का प्रयोग" में। इनसे कुछ हासिल हो जाय आपको, यही तमन्ना भी है।

पुरानी पीढ़ी तो समझौता कर लेती है, किंतु नई पीढ़ी कतई तैयार नहीं। अतएव व्यथित हृदय को सहलाने की आवश्यकता है, अन्यथा वह चरम पर भी जा सकती है। कहानी "जलती धूप गिरते मेंह" में कहानीकार ने इसे बड़े मार्मिक ढंग से दर्शाया है। विश्वास है, पाठकों को वह छूने का प्रयास करेगी।

जिंदगी के कई रूप होते हैं और मंजिल तक पहँचने में उसे कई दुरूह एवं मुश्किल राहों से गुजरना पड़ता है। हमारे रचनाकार श्री कृष्ण वल्लभ जी ने उन राहों से पार करने का तरीका बताया है आपको अपनी रचना 'जिंदगी' में।

स्थिति का सही चित्र आये, इसके लिये कुछ खट्टा-मीठा भी परोसा गया है इस अंक में। यह कहना सही है कि कविता हृदय को जोड़ती है और राजनीति तोड़ती है। आज जीवन राजनीति से ग्रस्त है और यही कारण है कि कवि की कलम जबतक राजनीति के गलियारे से नहीं गुजरती है, पाठकों को सही मानसिक खुराक नहीं मिल पाता है। हमारे कवि श्री मेहता जी की पैनी लेखनी से भी राजनीति आखिर कैसे बच पाती? व्यंग्य के माध्यम से असलियत को खड़ा किया है उन्होंने अपनी कविता में। हमारे इस प्रथम प्रयास में त्रुटियाँ नहीं होंगी, इसका दावा हम नहीं करते और कर भी नहीं सकते। उन त्रुटियों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट कराना आपका कर्त्तव्य भी बनता है और यह हमारा आग्रह भी है। यही आशा है आपसे और अपेक्षा भी। आपकी प्रतिक्रिया की प्रतीक्षा हमें रहेगी, क्योंकि वही तो होगा हमारा संबल। निःसन्देह वे हमारे उत्साह और दायित्व के निर्वहन के आधार होंगे।

उन सभी रचनाकारों को हम तहेदिल से साधुवाद देते हैं जिन्होंने सहज

रूप से इस पत्रिका के प्रवेशांक के लिये अपनी रचनाएँ भेजकर पत्रिका परिवार के मनोबल को बढ़ाया है। स्थानाभाव के कारण कुछ रचनाएँ इस अंक में स्थान नहीं पा सकी है जिसके लिये हमें खेद है।

पत्रिका परिवार के प्रति कृतज्ञता के दो शब्द कहे बिना हम नहीं रह सकते। पत्रिका के संरक्षक के प्रति मैं आभारी हूँ जिनकी प्रेरणा से 'प्रहरी' पत्रिका प्रकाशित हो पाई। प्रकाशन परामर्शदातृ समिति के अध्यक्ष तथा उसके सभी सदस्यों के सहयोग के लिये भी कृतज्ञ हूँ। श्री राजमणि मिश्र लेखा परीक्षा अधिकारी (प्रशासन), जो हिंदी कोषांग के भी प्रभार में हैं, ने इस पत्रिका के प्रकाशन में एक कड़ी का काम किया है, हम अभारी हैं उनके। हमलोग श्री बी.सी. सिंह के प्रति भी आभारी हैं जिनका सहयोग हमें पग-पग पर मिला है। हम कृतज्ञ हैं हिंदी कोषांग के श्री नागेन्द्र शरण सहित अन्य सहयोगियों के प्रशंसनीय योगदान के लिये।

संपादक मंडल के वरिष्ठ सदस्य श्री श्याम किशोर जी के अथक प्रयास का ही यह प्रतिफल है कि प्रस्तुत पत्रिका 'प्रहरी' आज आपके साथ है। इसके प्रकाशन तथा सफल संपादन में उनके सराहनीय योगदान के लिये आभारी हूँ। संपादक मण्डल के दूसरे वरिष्ठ सदस्य श्री आनन्द मोहन जी ने लेखा परीक्षा के अतिरिक्त अपनी जिंदगी का हर क्षण प्रेस, पत्रिका तथा अपनी लेखनी में ही लगाया है। हर कदम पर उनके अनुभव का भरपूर लाभ मिला है इस 'प्रहरी' को। संपादन में उन्होंने अपनी क्षमता का परिचय दिया है। कृतज्ञ हूँ मैं उनका।

'प्रहरी' के इस प्रवेशांक के साथ कार्यालय में राजभाषा हिंदी के अधिकाधिक प्रयोग को बढ़ावा देने की दिशा में हमने यह जो एक छोटा-सा कदम रखा है उसी के साथ आज यह भी संकल्प लें कि हम हिंदी में ही काम करेंगे और यदि हम ऐसा करने लगें तो अँग्रेजी स्वत: हट जायेगी। भविष्य में भी आप के सतत् सहयोग से हमारे कदम आहिस्ता-अहिस्ता आगे बढ़ते जायेंगे।

सक कुछ कह दिया
सिल सिलेवार
जो नहीं कहा
वह कह दिया
इन जुड़ते हाथों ने
निर्विकार।

जय भारत! जय हिन्दी!! जय 'प्रहरी''!!!

'प्रहरी' प्रवेशांक : जुलाई-दिसंबर, 1990

◈◈◈

राजभाषा के प्रति हमारी अटूट निष्ठा

'आन भद्रा कतवो यन्तु विश्वत:' अर्थात् सभी दिशाओं से हममें सद्विचारों का प्रवेश हो। राजभाषा से प्रति अटूट निष्ठा इन्हीं सद्विचारों में से एक है और उसे कार्यान्वित करना पुनीत राष्ट्रीय कर्त्तव्य। 'प्रहरी' का प्रकाशन इसी दिशा में किए गए प्रयासों की एक कड़ी है जिसके द्वितीय अंक को आप तक पहुँचाने में साहित्यिक जगत में अकिंचन रहने के बावजूद कर्त्तव्यबोध से अनुप्राणित होकर इस राष्ट्रीय अनुष्ठान में यदि हम प्रतीक-पुष्प ही अर्पित कर सके हैं तो हम अपने सेवाभाव से परितुष्ट हैं। राष्ट्रीय अस्मिता, एकता और अखंडता को उद्‌भासित करने का सशक्त माध्यम इसके अलावा भला और क्या हो सकता है?

'प्रहरी' का दूसरा अंक बसंत की मधुरिमा से संलिप्त होली के उल्लसित निर्द्वंद्व उन्मुक्त वातारवण में बसंत अंक के नाम से प्रकाशित करने का विचार था और इस संदर्भ में रचनाएँ भी समसामयिक और विषयानुकूल आमंत्रित की गई थीं, लेकिन ऐसी रचनाओं के कदाचित अभाव में पत्रिका को, बासंती परिधान में आवृत करते हुए भी, अपेक्षित रस-रंग-राग से सराबोर रचनाएँ और आकर्षक साज सिंगार के साथ निकालना संभव न हो सका। फिर भी, कुछेक ललित निबंध और हास-परिहास-व्यंग्यमूलक रचनाओं को, जो हमें प्राप्त हुईं, पत्रिका में यथोचित स्थान प्रदान किया गया है। विश्वास है, ये रचनाएँ आपको गुद-गुदाएँगी, रोमांचित करेंगी और पसंद भी आएँगी। अन्य रचनाएँ आपके मस्तिष्क को कुरेदने-झकझोरने में किस हदतक कामयाब हुईं हैं और इस दिशा में हमारा प्रयास कहाँ तक सफल हुआ है यह आप सुधी पाठकों की प्रतिक्रया ही बताएगी, क्योंकि आपका मूल्याँकन ही हमारा मार्गदर्शक और प्रेरणस्रोत है। हमारा कार्य ही कुछ ऐसी तकनीकी प्रकृति का है कि हम अंकों से खेलने के आदी हो गए हैं। इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि हम अक्षरों से अनभिज्ञ हैं और संवेदनाओं से शून्य। सच तो यह है कि अंक अक्षर द्वारा ही परिभाषित होता है, दोनों का संयोग मणिकाँचन का संयोग है। अक्षर से भाव उत्पन्न होते हैं और भाव से संवेदना। यदि हम अपने ज्ञान को अक्षर के माध्यम से व्यक्त करते हुए संवेदनापूरित अनुभूत भावों को 'प्रहरी' द्वारा आप तक पहुँचा सकें और आपसे अपनापन का रिश्ता जोड़ सकें तो अपने को धन्य समझेंगे।

हम अपने तमाम रचनाकारों और सहकर्मियों के हृदय से आभारी हैं जिन्होंने अपनी विशिष्ट रचनाएँ हमें प्रकाशनार्थ भेजी हैं अथवा प्रकाशन के क्रम में अपेक्षित प्रत्यक्ष सहयोग प्रदान किया है। विभागीय अथवा विभागोत्तर सुधी पाठकों, जिन्होंने प्रवेशांक 'प्रहरी' के प्रकाशन पर हमें बधाई, शुभकामना और प्रशंसा पत्र भेजे हैं, उनके प्रति कृतज्ञता और आभार प्रकट किए बगैर हम नहीं रह सकते।

अंत में, राजभाषा हिंदी के प्रति प्रतिबद्ध निष्ठा हमें कर्त्तव्यबोध की ओर, यथा-सत्य को उद्घाटित करने के लिए, सदैव प्रेरित करता रहे यही हमारी उत्कट इच्छा है। वही एक है जो भावविहीन नहीं होता- 'नासतो विद्यतेभावो नाभावो विद्यते सतः।'

'प्रहरी' अंक : 2, मार्च-अक्टूबर, 1992

◈◈◈

आज का सामाजिक-सांस्कृतिक परिदृश्य

मानवी समाज में सभी घटनाएँ वर्ग-संघर्ष के कारण होती हैं अत: किसी समाज में इस सतत् वर्ग-संघर्ष की जिस समय जैसी स्थिति रहती है उसी के अनुसार उस समाज का भावी इतिहास पूर्व निर्धारित होता है। इसी कल्पना का नाम ''भौतिक नियतिवाद'' है।

हर समाज को यथा जिंदा रहना और बने रहना होता है। ऐसे में ही विशिष्ट व्यक्तियों का जन्म होता है, जो उसे जिंदा रहने का उपाय सुझाते हैं। आज जो समाज की स्थिति है उसमें भाईचारे, सहानुभूति और सहृदयता तथा सामाजिक प्रतिबद्धता की कमी स्पष्ट झलकती है। सामाजिक प्रतिबद्धता की कमी ने जहाँ व्यक्ति को केंद्रीत और आलसी बनाया है, वहीं समाज को निर्जीव और स्थितर भी बना दिया है। कोई समाज नए प्रयोग, नए अविष्कार और नए सुधार तब करता है जब वहाँ के नागरिक समाज की हर अच्छाई-बुराई के लिए स्वयं को जिम्मेदार माने और सुधार के लिए प्रयास करे।

ऐसे समय में आज के उत्साही एवं सक्रिय समाज में भविष्य की छटपटाहट तो देखते हैं, लेकिन परिस्थितियों के सामने भेद और स्वार्थ के कारण हर व्यक्ति अलग-थलग पड़ जाता है। हालाँकि उस अँधेरे में उसे विकल्प की तलाश है। इसके समाधान में मुख्य प्रश्न यह है कि हम विचार और अनुभव के दो स्तरों पर स्वयं के समर्पण से किस हद तक इसे पाट सकते हैं। समान विचारधारा तथा एक मन के लोग एक साथ बैठें तथा टुकड़ों में बिखरी शक्तियों को संजोकर समय का साक्षात्कार करें तो बौखलाए और उकताए हुए राष्ट्र एवं समाज को एक वैकल्पिक सभ्यता दे सकते हैं।

हमारा राष्ट्र सामाजिक- सांस्कृतिक आंदोलनों का केंद्र रहा है। सामाजिक न्याय और समाजवाद हमारा लक्ष्य एवं आदर्श रहा है। भारत भूमि को विश्व की समस्त संस्कृतियों का उद्‌गम स्रोत माना गया है। किंतु वही राष्ट्र आज अभूतपूर्व सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक बदहाली के बीच खड़ा है। दूसरों को प्रवहमान करने वाला इसका उद्‌गम स्रोत स्वयं सूख रहा है। आखिर क्यों? हम अपने सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों से कटते जा रहें हैं। सामाजिक स्तर पर हम विभिन्न जातियों, उप जातियों, धर्मों आदि में बँटते चले आ रहे हैं। आज हमारे

जीवन में असहिष्णुता व्याप्त है। धैर्य का सर्वथा अभाव पाते हैं तथ्यों और चीजों के विकृत होने में आज देर नहीं लगती।

हमें अपनी प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति पर गर्व है पर आज दूरदर्शन, रेडियो आदि दूरसंचार माध्यमों के द्वारा पश्चिमी सभ्यता एवं संस्कृति को हम पर थोपने का सतत् प्रयास चल रहा है। आज जिस गति से टी.वी. चैनलों की संख्या बढ़ती जा रही है और मुग्ध भाव से जिस टी.वी. केबुल की फैलती दुनिया को हम देख रहें है वह हमारी जरुरतों और प्राथमिकताओं से बिल्कुल अलग है। यह एक पूरी पीढ़ी के दिमाग पर हावी होता आ रहा है और उसे मंदबुद्धि बनाने पर उतारू हैं, क्योंकि अश्लीलता, विकृति तथा भौंडापन ही उसके प्रमुख विषय हैं। अधिकांश चैनल चमक-दमक के शिकार हैं। उसमें बस पश्चिमी उपभोक्तवाद, सेक्स एवं हिंसा पर आधारित कार्यक्रम ही प्रसारित होते हैं। युवा मनों पर उनके बुरे प्रभाव से हम सभी परिचित हैं। यह हमारी सांस्कृतिक विरासत पर जबरदस्त हमला है। इसके परिणामस्वरूप आज का सामाजिक-सांस्कृतिक परिदृश्य बड़ी तेजी से बदल रहा है। यह एक अजीब से अंर्तद्वंद से गुजर रहा है। हम अपनी पहचान अंदर से नहीं, बाहर से बना रहे हैं जो भौतिकवादी जीवन का प्रभाव है। किंतु सच्चाई यह है कि मनुष्य के अंदर जो देवगुण है, वही संस्कृति है, पर हर कोई मंदिर, मस्जिद, गिरजा, गुरुद्वारा और धार्मिक मेलों में लगा है। आज समाज में दोहरी जिंदगी जी रहे लोगों के चरित्र में रूढ़ियों, अँधविश्वासों एवं असमर्थों को ठगे जाने की विवशताओं ने हमें मजबूर किया है कि हम अपने समाज व राष्ट्र के बारे में सोंचे, विचारें और सवारें।

आज जरूरत इस बात की है कि सामाजिक जीवन में तेजी से विलुप्त होती जा रही साहित्य कलाओं तथा संस्कृतियों का नैतिक परिस्कार कर उनमें वैचारिक चेतना का संचार करें, सामाजिक प्रासंगिकता, अश्लीलता की समस्याओं से निबटने का उपाय सोंचे तभी समाज में आ रही विकृति से बचा जा सकता है, क्योंकि साहित्य एवं कला स्वयं अपने आप में इस सांस्कृतिक विपन्नता का सबसे बड़ा प्रतिकार है, जो सिर्फ बुद्धि का नहीं, भावना, कल्पना और ऐंदिक अनुभवों की भी दीक्षा है।

'प्रहरी'- अंक-5 जनवरी-जून, 1995

◈◈◈

आजादी के 50 वें वर्ष में हिंदी

आजाद देश की जनता आज भारत की आजादी की स्वर्ण जयंती मना रही है। स्वतंत्रता के 50 साल आते-आते राष्ट्रभाषा हिंदी की यह हालत हो गई है कि वह दासी बनकर सबके सामने खड़ी है, क्योंकि यहाँ के लोग आज भी अँग्रेजी बोलने, लिखने तथा अपने बच्चों को अँग्रेजी माध्यम से ही शिक्षा देने में अपनी शान समझ रहे हैं। यह सच है कि अँग्रेजी के माध्यम से शासन, संपदा और स्टेट्स पर वर्चस्व रखने वाला विशिष्ट वर्ग उसे मरने-मुरझाने नहीं दे पा रहा है जिसके परिणामस्वरूप हिंदुस्तान में हिंदी की बजाय अँग्रेजी का पाया ही दिनों-दिन मजबूत होता जा रहा है। भारतीय संविधान के अनुसार राष्ट्रध्वज, राष्ट्रगीत और राष्ट्रभाषा रूपी-राष्ट्रीय तिपाई के एक पैर राष्ट्रभाषा के दुर्बल होने से अन्य दो पैरों पर कितना अधिक भार पड़ेगा, इसकी सहज कल्पना की जा सकती है। राष्ट्रध्वज, राष्ट्रगीत की तरह क्या हम आज राष्ट्रभाषा हिंदी को सम्मान दे पा रहे हैं? क्या बापू के इस कथन को हम भूल नहीं गए कि राष्ट्रभाषा के बिना राष्ट्र गूँगा है? क्या हम उसी गूँगे राष्ट्र के साथ इक्कीसवीं सदी में प्रवेश करेंगे?

आज जब हम सब लोग स्वतंत्रता की स्वर्ण जयंती का उत्सव मना रहे हैं तो हमारे लिए यह अवसर राष्ट्रभाषा हिंदी से जुड़ी स्वतंत्रता के विभिन्न अर्थों और परिभाषाओं की पड़ताल एवं आत्म विश्लेषण करने का है, क्योंकि आजादी के 50 वर्ष के बाद भी अँग्रेजी तथा अँग्रेजियत से भारत जिस प्रकार आज तक अपना पिंड नहीं छुड़ा सका है और अँग्रेजी की यह जंजीर हिंदी एवं अन्य भारतीय भाषाओं के गले में जिस प्रकार पड़ी है, इस स्थिति में हिंदी के नंगे पैरों की बात अगर हम रचनाकार नहीं करेंगे तो कौन करेगा?

आज हम यह भूल गए कि स्वतंत्रता-संग्राम में योगदान करने एवं उसे सही दिशा प्रदान करने में हमारे देश के हिंदी रचनाकारों, पत्रकारों तथा कलाकारों ने जो भूमिका अदा की, उनके सपनों का क्या होगा, वैसे स्वतंत्रता सेनानियों एवं हिंदी साहित्यकारों जिनका साहित्यिक जीवन राष्ट्रीय एवं युग चेतना की भावनाओं से भरा हुआ था, उनके अरमानों का क्या होगा, भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम में उल्लेखनीय योगदान करने वाले हिंदी साहित्यकारों की एक लंबी शृंखला है। उन दिनों देशभक्ति और राष्ट्रप्रेम की भावना से ओत-प्रोत रचनाएँ काफी संख्या में लिखी गयीं। तब राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न करने, अँग्रेजी हुकूमत के जन-विरोधी स्वरूप को उजागर करने तथा उसकी दासता से मुक्ति की

अभिलाषा को स्वर प्रदान करने में हिंदी काव्यधारा अजस्र बहती रही। ऐसे कवियों में माखनलाल चतुर्वेदी, सोहन लाल द्विवेदी, जयशंकर प्रसाद, सूयकांत त्रिपाठी 'निराला', मैथिलीशरण 'गुप्त', महादेवी वर्मा, रामवृक्ष बेनपुरी, केदारनाथ मिश्र 'प्रभात', रामगोपाल शर्मा 'रूद्र', रामधारी सिंह 'दिनकर', सुभद्रा कुमारी चौहान, सुमित्रानंदन पंत, गोपाल सिंह 'नेपाली' आदि का नाम उल्लेखनीय है। एक भारतीय आत्मा यानी माखनलाल चतुर्वेदी की ये पंक्तियाँ आज भी जनमानस को आंदोलित करती हैं-

मुझे तोड़ लेना वनमाली
उस पथ पर देना तुम फेंक
मातृभूमि पर शीष चढ़ाने
जिस पथ जाएँ वीर अनेक।

महात्मा गाँधी ने जब स्वराज्य-आंदोलन का नेतृत्व अपने हाथों में लिया तो उन्होंने हिंदी को राष्ट्रभाषा घोषित कर राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़े कार्यकर्ताओं के लिए इसका ज्ञान अनिवार्य कर दिया था। हिंदी साहित्य सम्मेलन, दक्षिण भारत राष्ट्रभाषा प्रचार सभा एवं नागरी प्रचारणी सभा जैसी संस्थाओं के माध्यम से उन्होंने हिंदी के प्रचार-प्रसार का जो वातावरण बनाया, उसे कभी भुलाया नहीं जा सकता। गाँधी जी ने भारत की राष्ट्रभाषा के रूप में जिस हिंदी की वकालत की और भारत के व्यक्तित्व के विकास के लिए अँग्रेज, अँग्रेजी और अँग्रेजियत के जिस तर्क से मुक्त होने की चेतावनी दी, उस पर चलकर ही भारत अपनी भारतीयता को मिटने से बचा कर पूरे मानव-समाज की डूबती नैया के लिए पतवार का काम कर सकता है, और फिर लोकभाषा हिंदी के बिना हमारा लोकतंत्र कैसे मजबूत बनेगा?

जब मनुष्य का मनुष्यता पर से विश्वास उठ जाता है तभी वह अधिकाधिक हिंसा का सहारा लेने के लिए विवश हो जाता है। इसी हिंसा के प्रतीक अँग्रेज, अंग्रेजी और अँग्रेजियत से मुक्ति का आंदोलन छेड़ते हुए बापू ने ह्रदय परिवर्तन की बात कही थी। संतों, भक्तों एवं साधकों की गोद में पली हिंदी उस आत्मबल की प्रतीक है जिससे भारत की राष्ट्रीयता एवं भावात्मक एकता सुदृढ़ हो सकती है। राष्ट्रीय एकता में भाषा और साहित्य का बहुत बड़ा योगदान होता है। साहित्य किसी भी राष्ट्र का प्राण होता है। जिस देश का साहित्य समृद्ध नहीं है वह देश प्रगतिशील नहीं कहा जा सकता। इतिहास इसका साक्षी है। अमेरिका, इंग्लैंड, फ्राँस, रूस, जापान, जर्मनी, चीन आदि देश इसके प्रमाण हैं। हर देश अपनी आवश्यकता के अनुसार ही अपनी भाषा का चयन करता है। हिंदी

यदि ऐतिहासिक कारणों से भारत की संपर्क भाषा या राष्ट्रभाषा बनी है, तो इसका स्वागत या सम्मान होना चाहिए। हिंदी हिंदुस्तान की बोली है, कहीं से लायी हुई भाषा नहीं है। हिंदी क्रांति, जागरण, देशोत्थान की ऐतिहासिक भाषा है। इसके लिए आज त्याग और मनन की जरूरत है। त्याग सर्कीणता का, मनन इस भाषा की। हिंदी माँगती है समस्त भारतवासियों के खून पसीने, सपने को। इसलिए, बेरोक, बेशर्त्त इन तकाजों को स्वीकार कर हिंदी भाषा गढ़ें, हिंदी साहित्य को रचें।

पत्रिका के इस अंक में कार्यालय की गतिविधियों और कार्यों के साथ ही इसमें कार्यरत साहित्यकारों के समकालीन सृजन, उपयोगिता और प्रासंगिकता को रेखांकित करने का प्रयास किया गया है। इस प्रयास से हिंदी साहित्य थोड़ा भी पल्लवित और फलित होता है तथा इसकी सुगंध और कार्यालयों में यदि फैलती है तो इसका श्रेय 'प्रहरी' को जायगा। मैं यह दावा नहीं करता कि इस अंक की रचनाओं में बहुत गहराई है पर इतना अवश्य है कि इनकी ताजगी और पठनीयता बनाए रखने में किसी प्रकार की कोताही नहीं की गयी है। समय-संदर्भ के साये में ये वैचारिक जागरूक धरातल पर सदा जीवित रखने की क्षमता रखती हैं। इसी विश्वास के साथ इसे आपके हाथों सौंप रहा हूँ।

अपने समस्त रचनाकारों के प्रति आभार प्रकट करना संपादक अपना कर्त्तव्य समझता है जिन्होंने अपनी रचनाओं से इस अंक को समृद्ध किया। पत्रिका के संरक्षक श्री नंदलाल, महालेखाकार (लेखा परीक्षा) बिहार, पटना के प्रति पत्रिका-परिवार की ओर से मैं आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने इसकी साज-सज्जा से लेकर इसके तेवर एवं कलेवर को बढ़ाने में न केवल अत्यधिक रुचि ली है वरन् हर कदम पर उन्होंने मार्गदर्शन किया है। पत्रिका की प्रधान संपादिका श्रीमती रीमा प्रकाश तथा परामर्शी श्री जी.सी.एल. श्रीवास्तव एवं श्री मनीष कुमार ने इसे पठनीय तथा स्तरीय बनाने में जिस सूझबूझ का परिचय दिया है उसके लिए संपादक-मंडल आभारी है। पत्रिका-परिवार एवं हिंदी अनुभाग के सभी सहयोगी धन्यवाद के पात्र हैं जिनके अथक परिश्रम से यह पत्रिका आपके सामने है।

अंत में हम उन सभी सहकर्मियों के प्रति अपनी शुक्रिया अदा करते हैं जिन्होंने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सृजन के इस अभियान को सफल बनाने में सहयोग प्रदान किया है।

'प्रहरी' - अंक : 9, जुलाई-दिसंबर, 1997

◈◈◈

लेखा परीक्षा सामाजिक प्रतिबद्धता में संज्ञेय

कार्यालय, महालेखाकार (लेखा परीक्षा)-1, बिहार, पटना से प्रकाशित हिंदी पत्रिका 'प्रहरी' का 10वाँ अंक आप सुधी पाठकों के हाथों में है। इसके पूर्व के 9वें अंक के आकर्षक आवरण एवं साज-सज्जा को आपने मुक्त कंठ से सराहा। उसके विषय-वस्तु पर भी आप सबों के द्वारा अच्छी प्रतिक्रियाएँ भेजी गयीं। सच है कि आपके पत्रों से मुझे प्रोत्साहन मिला है जिसके लिए मैं पत्रिका-परिवार की ओर से आभार व्यक्त करता हूँ एवं यह सूचित करते हुए अपार हर्ष हो रहा है कि वर्ष 1999 से यह पत्रिका त्रैमासिक होगी।

प्रस्तुत अंक में भी विविध विषयों पर अच्छी खासी सामग्रियों का समावेश किया गया है। खासकर सभी क्षेत्रों की नैतिकता में आयी गिरावट, राजभाषा हिंदी के अविर्भाव तथा लोकतंत्र की चुनौतियों पर विशेष तौर पर प्रकाश डाला गया है।

बिहार विधानसभा तथा बिहार विधान परिषद् के विगत सत्र में भारत के नियंत्रक-महालेखापरीक्षक के 31 मार्च 1997 को समाप्त हुए वर्ष का सिविल प्रतिवेदन पेश हुआ। इस प्रतिवेदन में बिहार सरकार के विभिन्न विभागों में हुई करोड़ों रुपये की घोर अनियमितताओं एवं घोटालों को उजागर किया गया है। पर आश्चर्य यह है कि उस पर सदन में हंगामा न होकर मात्र एक अँग्रेजी शब्द के हिंदी अनुवाद में हुई त्रुटि पर काफी हंगामा हुआ। हुआ यह कि उक्त प्रतिवेदन की पृष्ठ सं.-351 की कंडिका के पैरा -6.9 में अँग्रेजी शब्द एनोमलस (Anomalous) का हिंदी रूपांतर मुद्रण की भूल की वजह से 'असंगत' न होकर 'समरूप' छप गया है जो अर्थ के स्तर पर विपरीत है। इस विसंगति को लेकर परिषद् में काफी हंगामा और शोरगुल हुआ। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि सभापति ने हस्तक्षेप करते हुए इस मुद्दे पर अपने नियमन के दौरान व्यवस्था के लिए 'खतरे की घंटी' बताई। उन्होंने यह भी कहा कि सदन में रिपोर्ट प्रस्तुत करने से पूर्व हिंदी रूपांतर की त्रुटियों से राज्यपाल को यदि अवगत कराया गया होता तो वे किसी भी हालत में इस रिपोर्ट को पेश करने की अनुमति नहीं देते। माननीय सभापति जी ने पुनः चेतावनी देते हुए कहा कि दोषपूर्ण दस्तावेज, त्रुटिपूर्ण अनुवाद पर आधारित दस्तावेज के निराकरण के लिए संसदीय संस्थाएँ सतर्क एवं चौकस हों। प्रसन्नता इस बात की है कि विधायिका के सदस्य एवं सभापति अँग्रेजी के एक शब्द के हिंदी अनुवाद में हुई भूल पर ही इतने सतर्क दिख रहे हैं पर इससे भी अधिक प्रसन्नता तब हुई होती जब सदन से लोक

लेखा समिति का शीघ्र प्रतिवेदन प्रस्तुत करने को कहा जाता तथा रिपोर्ट में प्रकाशित घोर-घोटालों पर चर्चा हुई होती।

बिहार विधान सभा के पिछले सत्र में प्रस्तुत सी.ए.जी. का प्रतिवेदन स्पष्ट तौर पर इस तथ्य को उजागर करता है कि सत्ता पर बैठे राजनेता, मंत्री तथा नौकरशाह सब मिलजुलकर सरकारी तंत्र और धन का खुला दुरुपयोग कर रहे हैं। पर आश्चर्य यह है कि सदन में सरकारी धन के दुरुपयोग तथा लूट पर चर्चा न होकर या तो छोटी-छोटी बातों में ही सत्र की समाप्ति हो जाती है या फिर मामूली सी कार्रवाई करके खानापूरी कर कर्त्तव्यों की इतिश्री मान ली जाती है। कुछ दिनों तक मीडिया में चर्चित रहने के पश्चात् ऐसे प्रकरण बिना समुचित कदम उठाए संचिकाओं में दफन हो जाते हैं।

उल्लेखनीय है कि एक संवैधानिक संस्था के प्रमुख भारत के नियंत्रक-महालेखापरीक्षक का यह दायित्व है कि एक सरकारी धन के दुरुपयोग एवं लूट को इंगित करे और संबंधित सरकार का दायित्व है कि वह उन पर ध्यान दे, दोषी को सजा दे, सबक ले तथा भविष्य में उनकी पुनरावृत्ति पर रोक लगाए। इसमें राजनीति से प्रेरित होने का सवाल कहाँ उठता है? लोकतंत्र में राजकोष जनता की गाढ़ी कमाई से ही बनता है और यह सही है कि लोकतंत्र में जनता का कद बड़ा होता है तथा उसके प्रतिनिधियों का बोलबाला होता है पर इसका यह मतलब कतई नहीं कि जनता की ओर से उनकी गाढ़ी कमाई से कर के रूप में उगाही गई रकम को ही हजम कर जाने की जन-प्रतिनिधियों को खुली छूट दे दी जाय। जब सी.ए.जी. सरीखे एवं संवैधानिक संस्था के प्रमुख उनके गलत कारनामे को उजागर कर जनता के समक्ष प्रस्तुत करें तो उनपर छींटाकशी की जाए।

किसी भी प्रजातांत्रिक व्यवस्था में राज्य के एक अंग के रूप में ऑडिट का भी उतना ही महत्त्वपूर्ण स्थान है जितना कि विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका का। वस्तुतः जनता की जानकारी तीक्ष्ण तथा प्रशासन सतर्क सिर्फ तभी होता है जब ऑडिट द्वारा प्रस्तुत प्रतिवेदनों पर उसके द्वारा सतत अनुवर्ती कार्रवाई की जाय और प्रजातांत्रिक सरकार की सफलता भी बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करती है कि लेखा परीक्षा और न्यायपालिका कितना स्वतंत्र और चौकस है। इन संवैधानिक संस्थाओं की स्वतंत्रता का अभिप्राय यह है कि वृहत् सामाजिक हित के लिए उनके कार्य कितने प्रभावी तथा कार्य-संपादन कितने संसुरक्षित हैं। भारतीय लेखा परीक्षा के संदर्भ के नाते मैं यह दावा कर सकता हूँ कि शैक्षणिक दुनिया में जिन गुणों की आवश्यकता है वे ही भारतीय लेखा एवं लेखा परीक्षा विभाग के अधिकारियों के लिए भी आवश्यक हैं।

इस प्रकार लेखा परीक्षा की यह चेष्टा रहती है कि वह न्यायपालिका की निष्पक्षता, स्थूलता और जाँच-पड़ताल की प्रवृत्ति दोनों का समावेश अपने दायित्वों के निर्वहन में करे। इसके संपादन में लेखा परीक्षा अधिप्रमाणित अधिकारिक अभिलेखों के आधार पर जन-प्रतिनिधियों तथा प्रशासन के हित के लिए तथ्यों को उजागर करती है। उसकी प्रवृत्ति तथा रचनात्मक दृष्टि बिल्कुल गैर-राजनीतिक होती है। इसलिए उसके प्रतिवेदन का राजनीति से प्रेरित होने का प्रश्न ही नहीं है। जहाँ तक जनहित का सवाल है लेखा परीक्षा सामाजिक अनिवार्यता तथा प्रतिबद्धता में भी असंज्ञेय नहीं है। अतएव लेखा परीक्षा के बारे में यह गलत अर्थ नहीं लगाया जाना चाहिए कि यह सरकार का सिर्फ अनभिज्ञ आलोचक या छिद्रान्वेषक है, बल्कि प्रशासन के प्रजातांत्रिक दायित्व के निर्वहन में वह एक विश्वसनीय सहयोगी जैसी है।

इस संदर्भ में इस बात की ओर भी ध्यान दिया जाना चाहिए कि विध ायिका तथा जाग्रत जनता स्वभावतः सरकार की विभिन्न परियोजनाओं एवं कार्यकलापों के बारे में पूरी दिलचस्पी दिखाती है। इसने भारतीय लेखा परीक्षा की प्रवृत्ति, दृष्टिकोण तथा उद्देश्यों को परिवर्तित कर दिया है। अतएव लेखा परीक्षा के लिए यह आवश्यक है कि तेजी से बदलते राजनीतिक एवं आर्थिक परिप्रेक्ष्य में जनता के प्रति अपनी जबावदेही का निर्वाह बखूबी से करे। सरकार के बढ़ते सामाजिक-आर्थिक कार्यकलापों के मद्देनजर लेखा परीक्षा के समक्ष आज यह प्रश्न है कि क्या राजकोष से खर्च उन उद्देश्यों के लिए हो रहे हैं जिनके लिए उसका निर्माण हुआ था? इस प्रकार लेखा परीक्षा का यह कार्य अधिक चुनौतिपूर्ण हो गया है और साथ ही दुष्कर भी। इसलिए यह अपने दायित्व का निर्वाह निष्ठा और ईमानदारी से करने के लिए बाध्य है, किंतु जब सरकार तथा विधायिका के द्वारा इसके कार्यकलापों पर छालेदर हो तब इसे संवैधानिक उल्लंघन अवश्य माना जाना चाहिए खासकर तब जब यहाँ की लोकतंत्र व्यवस्था में निरंकुशता अपनी पूरी शानो-शौकत के साथ जीवित हो तथा प्रशासन की रीढ़ पूरी तरह कैंसर ग्रस्त हो जाए, क्योंकि आज सार्वजनिक जीवन से जुड़े लोगों तथा प्रशासनिक अधिकारियों की नैतिकता कर्त्तव्य-बोध और ज़मीर इस प्रकार तेजी से मृत हो चुका है कि वे अपने पद की गरिमा को भूल चुके हैं।

एशिया का एक देश जापान भी है जहाँ किसी भी प्रकार के भारी घोटाले के प्रकाश में आने के बाद सत्तारूढ़ प्रधानमंत्री जिम्मेदारी अपने ऊपर लेकर इस्तीफा दे देते हैं, और एक भारत देश है जहाँ के प्रधानमंत्री, मुख्यमंत्री तथा अन्य मंत्रियों पर अरबों रुपयों के घोटाले का आरोप लगने के बाद भी वे संवैधानिक संस्था पर राजनीति से प्रेरित होने की बात कहकर लोकतंत्र को मखौल बनाने

का प्रयास करते हैं। जिधर यह देश चला जा रहा है, उधर से देश को चौराहे पर लाने के लिए और ठीक रास्ते पर चलने के लिए सी.ए.जी. तथा न्यायालयों के संकेत का महत्त्व तभी होगा जब सरकार चेतेगी, जनता सजग होगी। जब सी.ए.जी. तथा संवैधानिक संस्था इस तरह खुले तौर पर विधायिका में छीछालेदर की जाए तो संविधान का भी उल्लंघन माना जाएगा। भारतीय संविधान द्वारा प्रदत्त जवाबदेही का निर्वाह एक ओर सी. ए. जी. करे और उसी संविधान के द्वारा प्रदत्त जवाबदेही का निर्वाह करने में जब विधायिका असफल हो, तो लोकतंत्र के लिए 'यह खतरे की घंटी' अवश्य दिखती है। संसद तथा विधानसभाओं का ही यह काम था कि वह घोटालों पर कड़ी नजर रखती, दोषियों को सजा देती। लेकिन जब स्वयं वह मूक-बधिर बनी रह जाए तो प्रबुद्ध देशवासियों तथा आम जनता को इस पर गंभीरता से सोचना होगा। लोकतंत्र की रक्षा कैसे की जाए, राजनीति के गिरते मूल्यों, मर्यादाओं को कैसे रोका जाए, उन्हें पुनः सिद्धांतों से कैसे जोड़ा जाए तथा नैतिकता को पुनः कैसे स्थापित की जाए यह सवाल आज सबके सामने खड़ा है। अतएव अब वह समय आ गया है जब देश में काले धन और प्रशासनिक भ्रष्टाचार के असर को कम करने के लिए कुछ सशक्त और अप्रिय कदम सरकार को उठाने ही होंगे अन्यथा जनता के सब्र का बाँध टूटने के बाद इस बढ़ते सैलाब को रोकने से कोई बचा नहीं सकता। इसे रोकने के लिए जनता को अब एकजुट होना ही पड़ेगा, क्योंकि देश को अब सरकारी नेताओं और नौकंरशाहों के हाथ में नहीं छोड़ा जा सकता। अब तो स्थिति यहाँ तक आ पहुँची है कि आज राजनीतिक दलों, विचारधाराओं, कार्यक्रमों और आश्वासनों की बहुलता के बावजूद कोई ऐसा प्रतिनिधि खोजना कठिन है, जो जनता में कोई राजनीतिक भरोसा जगा सके या भविष्य में परिवर्तन की तस्वीर दिखा सके। लोकतंत्र के मुखौटे में सत्ता हासिल करने के तमाम कर्म-कुकर्म धड़ल्ले से किए जा रहे हैं। स्वार्थ की राजनीति जिस ढंग से बढ़ रही है वह चिंतनीय ही नहीं, दुर्भाग्यपूर्ण भी है। जनता की गाढ़ी कमाई पर विधायिका के सदस्य, राजनेता, नौकरशाह और व्यापारी सुख-समृद्धि के शिखर पर बैठे हैं और भारत की लगभग 45 करोड़ जनता मनुष्य से सौ दर्जा नीचे पशुवत जीवन जीने को अभिशप्त है। एक ओर आकाश छूती महँगाई, सीमातोड़ भ्रष्टाचार, बर्बरता की हद पर पहुँची आपराधिक हिंसा, सत्ता के लिए सांप्रदायिकता, जातिवादिता और सामाजिक न्याय का नग्न नृत्य है, दूसरी ओर शिक्षित एवं अशिक्षित बेरोजगार भूख के कगार पर खड़ा नौजवान है, यही है हमारा आजाद हिंदुस्तान। ऐसी भयावह स्थिति में हम भारत के नागरिक क्या मात्र तमाशाबीन बनकर रह जाएँगे?

'प्रहरी' - अंक : 10, जनवरी-जून- 1998

◈◈◈

अपने हिस्से की जवाबदेही

वैसे संकल्प तो था कि इस पत्रिका को त्रैमासिक किया जाय पर उसे जामा पहनाने में थोड़ी कठिनाई हो रही थी। इसका श्रेय जाता है भारत के विभिन्न क्षेत्रों के इसके पाठकों एवं दिल्ली स्थित मुख्यालय के राजभाषा अधिकारियों को जिनकी प्रेरणा से अपने वादे के अनुरूप नववर्ष में नियमित रूप से इसे त्रैमासिक प्रकाशित करने में सफलता मिली है। लेकिन सफलता के इस सोपान तक पहुँचने में कार्यालय के वर्तमान अधिकारियों तथा सहकर्मियों के योगदान को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है। हिंदी के प्रचार-प्रसार और उस त्रैमासिक क्रम में पत्रिका के प्रकाशन के संबंध में महालेखाकार ने जो व्यक्तिगत रुचि ली है वह निश्चित रूप से इस निर्णय का मूलाधार रहा है। हिंदी के प्रति सहकर्मियों के स्नेह और उत्साह की मुखरता ने हमें यहाँ तक पहुँचने में मदद की है।

पत्रिका के इस अंक में कार्यालय की गतिविधियों और कार्यों के साथ ही इसमें कार्यरत अधिकारियों एवं कर्मचारियों के समकालीन सृजन, लेखापरीक्षा की उपयोगिता और प्रासंगिकता को रेखांकित करने का भरपूर प्रयास किया गया है। विश्वास है हिंदी भाषा एवं साहित्य इस प्रयास से प्रभावित और पुष्पित होगा और इसकी सुगंध सभी कार्यालयों में फैलेगी। नववर्ष में प्रिंट मीडिया पर इलेक्ट्रॉनिक मीडिया का संकट जिस प्रकार गहराया है उसे देखते हुए ऐसा लगता है कि क्या आज शब्दों की सत्ता समाप्त हो जाएगी? यदि ऐसा हुआ तो क्या हमारी सामाजिक एवं साहित्यिक संस्कृति और इसके इतिहास की वे जीवंत तस्वीरें जिन पर हम गर्व करते हैं बच जाएँगी? इसलिए आज जरूरत इस बात की है कि पाठक समुदाय और प्रबुद्ध सृजनहार को इस विचित्र स्थिति पर गंभीरता के साथ विचार करना समीचीन होगा तथा सृजनात्मक शब्दों की सत्ता खत्म न हो इसके लिए उन्हें सर्तक होना होगा।

इस संदर्भ में रचनाकारों को अपने हिस्से की जवाबदेही पर भी एक नजर डालनी चाहिए। उन्हें अपनी सृजनात्मक शक्ति पर भी विचार करना होगा और विश्लेषण करना होगा कि उनकी रचनाओं में सहजता कितनी है, कहीं शिल्प और कथ्य को चमत्कारी प्रयोगों में उलझाकर तो पाठकों को नहीं रखा गया है? अतएव रचनाकार का यह दायित्व बनता है कि वह अपने रचनाकर्म और पाठक से संवाद संस्थापित करने की ईमानदार कोशिश करे, क्योंकि रचना की सार्थकता

इसी में होती है कि वह पाठक को कितना सम्मोहित कर सकी और स्वयं भी कितना संप्रेषित हुई। बेहतर समाज और श्रेष्ठतर मनुष्य होने का स्वप्न ही हमें मजबूर करता है कि यथास्थिति के चंगुल से छूटकर भविष्य की ओर देखें। स्वप्नहीन स्मृति सिर्फ समाधि-लेख होने के लिए अभिशप्त हैं इसलिए हिंदी साहित्य के नाम पर सिर्फ समाधि-लेख लिखने से बाज आना चाहिए। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि परिवार ही परिवर्तन के सबसे बड़े प्रतिरोधक गढ़ होते हैं। इसलिए आज जरूरत इस बात की है कि स्थिति को बेबाक ढंग से सामने रखकर आत्मगुग्ध लोगों को कुछ सोचने के लिए उकसाया जाय। अश्क के शब्दों में-

''जनाब,
मैं जैसे भी जिया
अपनी तरह जिया
और यदि मैंने जिंदगी
से बहुत कुछ लिया
तो बदले में कम नहीं दिया।''

अश्क की उक्त पंक्तियों के हवाले से यह संवाद मीलों लंबा हो सकता है।

प्रसन्नता इस बात की है कि बीते वर्ष में यह संवाद स्थापित करने में हिंदी के रचनाकारों ने अपनी क्षमता का परिचय दिया है। वक्त अपनी रफ्तार से चलता रहता है और वह धीरे-धीरे अतीत का हिस्सा होता जाता है। कालावधि में उससे फिर इतिहास का निर्माण होता रहता है और समाज का दर्पण होने के नाते उस इतिहास में वर्तमान तथा भावी पीढ़ी अपना मुखड़ा देख सकती है। आज जब हम पीछे मुड़कर देखते हैं, तो हिंदी साहित्य की उपलब्धियों का अतीत याद कर हमें गौरव का अनुभव होता है। जब वर्तमान का रंग धूमिल होने लगे तो मन अतीत के रंगों की ओर लौटने लगता है। वर्ष 1998 भी जीवन के क्षेत्रों में उथल-पुथल तथा विविध घटनाओं से भरा रहा और बहुत कुछ हमारे साहित्य और संस्कृति में जोड़ गया।

यदि सच कहा जाय तो जनकवि एवं 'बलचनमा' के लेखक बाबा नागार्जुन देशभक्ति की भावना से ओत-प्रोत गीतों के कवि प्रदीप तथा 'दिल्ली दूर है', 'गली आगे मुड़ती है', 'नीला चांद' एवं 'अनहद गरजे' साद जैसी

कालजयी कृतियों के सृजनहार शिव प्रसाद सिंह के देहावसान से साहित्य-जगत् को यदि अपूरणीय क्षति नहीं हुई होती, तो वर्ष उन्नीस सौ अट्ठानवे को हिंदी साहित्य के लिए उपलब्धियों का पूर्ण वर्ष कहा जा सकता था। इसी प्रकार 'अनारो' की लेखिका मंजुल भगत का निधन हिंदी कथा साहित्य के लिए दुर्भाग्यपूर्ण ही रहा।

हम एक नजर डालते हैं गुजरे वर्ष के हिंदी साहित्य की उपलब्धियों पर। क्योंकि कुछ पीछे मुड़कर देखना उससे आगे को जोड़ने के लिए जरूरी होता है। पिछले वर्ष के साहित्य में कम से कम कथा साहित्य में कुछ गुणात्मक परिवर्तन हुए हैं। रचना के माध्यम से शोधपरक साहित्य की प्रवृत्ति बढ़ी है। पिछले वर्ष प्रकाशित अलका सरावगी के उपन्यास 'कलिकथा : वाया वाईपास' और इससे पूर्व उदय प्रकाश की कहानी 'वारेन हेस्टिंग्स का सांढ़' आदि कृतियों में इसे परिलक्षित किया जा सकता है। पिछले दिनों प्रकाशित सुरेन्द्र वर्मा के उपन्यास 'दो मुदों के लिए गुलदस्ता' की सराहना हुई।

उस वर्ष हिंदी में अनेक कहानी-संग्रह प्रकाशित हुए जिनमें सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था के कारण मनुष्य की जिंदगी में आ रहे बदलावों के संकेत मिलते हैं। इनमें पुरानी पीढ़ी के मधुकर सिंह के माइकल जैक्सन की टोपी, मंजूर एहतेशाम के 'तसबीह' से. रा. यात्री के 'खारिज और बेदखल' रामधारी सिंह 'दिवाकर' के धरातल', मंजुल भगत के बूंद जयदान देथा के सपन, प्रिया नारिसा शर्मा के 'खुदा की वापसी' तथा नयी पीढ़ी से संजय सहाय के 'सुरंग', मीराकांत के हाइफेन मधुकांकरिया के अंतहीन मरुस्थल आदि संग्रह में भारतीय समाज की जिंदगी तथा उसके मार्मिक चित्र मिलते हैं। इसी प्रकार भारत यायावर के संपादन में प्रकाशित रेणु की हास्य व्यंग्य कहानियाँ तथा विश्वनाथ त्रिपाठी की कहानी आलोचना की पुस्तक ''कुछ विचार'' एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

इस वर्ष से ढेर सारी उम्मीदें हैं। सच तो यह है कि दस्तक देती 21वीं शताब्दी के पहले दशक की यह पूर्व पीठिका तैयार करेगा। वर्ष 1999 के आने पर मुझे हिंदी कवि राजेश जोशी की कविता की दो पंक्तियाँ याद आती हैं -

आ गया है सदी का अंत,
कहाँ है, कहाँ है, कहाँ है वसंत

जिस देश में गरीबों को दो वक्त की रोटी नहीं मिल पा रही हो, दिल्ली से लेकर प्राय: सभी राज्यों में अपराध, बलात्कार तथा अपहरण की घटनाओं

में निरंतर वृद्धि होती जा रही हो, बेरोजगार नौजवानों को काम नहीं मिल पा रहा हो, धर्म और जाति के नाम पर दंगा-फसाद लगातार होते रहे हों, पड़ोसी देशों से संबंध सुधारने की कोई गुंजाइश नहीं दिख रही हो, ऐसी परिस्थिति में इन्हीं सौगातों के साथ नये वर्ष का पदार्पण हुआ। अतएव देश के समक्ष चुनौतियाँ हैं। नये वर्ष में हमें जहाँ सभ्यता व संस्कृति को बचाने का संकल्प लेना होगा, वहीं राजनीति के आवरण में लिपटे अपराधियों से देश को बचाने, अशिक्षा के अँधकार को भगाने, बढ़ती जनसंख्या को रोकने तथा आर्थिक संकट से उबारने जैसे चुनौतियाँ भी स्वीकार करनी होंगी। और इसके लिए खेत-खलिहान से लेकर महानगर के तमाम हम भारतवासियों को निष्ठा एवं ईमानदारी से अपने-अपने दायित्वों का निर्वाह हेतु कंधे से कंधा मिलाकर करना होगा तभी इक्कसवीं सदी में सर उठाकर हम प्रवेश कर सकेंगे।

अंत में हम उन सभी रचनाकारों, पत्रिका-परिवार के सभी सदस्यों के प्रति आभार व्यक्त करते हैं जिन्होंने इसके संवर्द्धन में सहयोग प्रदान किया है।

'प्रहरी' - अंक : 11, जुलाई 1998-मार्च 1999

◈◈◈

भारतीय जनता का सामूहिक विवेक

छीनता हो स्वत्व कोई और तू, त्याग-तप से काम ले यह पाप है
पुण्य है विछिन्न कर देना उसे, बढ़ रहा तेरी तरफ जो हाथ हो।

राष्ट्रकवि दिनकर की उक्त पंक्तियाँ आज इस देश के लिए सचमुच बहुत समीचीन है। दुनिया भर में हुई थू-थू के बावजूद अगर पड़ोसी देश पाकिस्तान कारगिल की सरहदों पर अपनी हरकतों से बाज न आए, तो उसे सबक सिखाने की जरूरत है। हमें पाकिस्तान की कमर तोड़ने के लिए उन पाकिस्तानी इलाकों को ध्वस्त करना होगा, जहाँ से घुसपैठिए की शक्ल में आए पाक सैनिकों को सहयोग मिल रहा है। पाकिस्तान ने हमारे ऊपर युद्ध थोपा, क्योंकि एक तरफ हम लाहौर बस यात्रा पर बिगड़ैल पड़ोसी के साथ संबंध सुधारने का सबसे अनोखा व सदाशय प्रयास कर रहे थे, तो दूसरी ओर पाकिस्तान ने चुपके-चुपके कारगिल में घुसपैठिए भेज दिया तथा मौका पाकर धावा बोल दिया। कहा जाता है कि अकेले कारगिल क्षेत्र में लगभग चालीस हजार पाकिस्तानी सैनिकों का जामवाड़ा था। ऐसी स्थिति में भारत इस तरफ सिर्फ कदमताल नहीं कर सकता। हमें जबरन कारगिल क्षेत्र को घुसपैठियों से मुक्त करना ही था। 'टाइगर हिल्स' को साफ करने में जुटे हमारे सैनिक, दुनिया की सबसे कठिन लड़ाई लड़ रहे थे।

इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि पाकिस्तान ने कायरता व नीचतापूर्ण व्यवहार किया है। इन हरकतों से यह स्पष्ट हो चुका है कि पाकिस्तान ऐसी विषबेल है जिससे 'मीठे फल' की अपेक्षा करना ही मूर्खता है। इसी को देखते हुए अपनी भूमि, गौरव और आत्मसम्मान की रक्षा के लिए पूरा भारत एक मजबूत चट्टान की तरह किसी तरह की कुर्बानी देने में पीछे नहीं हटेगी। पाकिस्तान को यह अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए कि न केवल हम अपनी सरहदों की रक्षा करना जानते हैं, बल्कि पाकिस्तान यदि अपनी हरकतों से बाज नहीं आया तो 1965 तथा 1971 के दो पूर्व युद्ध की तरह उन्हें इस बार भी सबक सिखा देंगे। शून्य से नीचे तापमान और तेज कंटीली हवाओं के बावजूद जबरदस्त धैर्य एवं साहस का परिचय देते हुए भारतीय सैनिक जिस प्रकार पहाड़ों की हजारों फुट ऊँची चोटियों तक चढ़ आए और वहाँ के तोलोलिंग और हम्प क्षेत्र में छिपे घुसपैठियों को उनके ठिकानों से खदेड़ दिया, वह काबिलेतारीफ है। **यह कहना नहीं होगा कि जब भारतीय सेनाएँ कुछ कर गुजरने पर**

आमादा हो जाती हैं, तो दुश्मन को कोई नहीं बचा सकता। इसलिए इस लड़ाई को देश हमेशा याद रखेगा, क्योंकि सैकड़ों जांबाज जवानों ने देश की संप्रभुता को अक्षुण्ण रखने के लिए अपने प्राण न्योछावर कर दिए। आखिर तभी तो विपरीत मौसम और दुश्मन की जबरदस्त गोलाबारी के बीच 14 हजार फुट ऊँची तोलोलिंग चोटी और 16 हजार फुट ऊँची टाइगर हिल के चारों ओर के भाग पर कब्जा कर हमारे वीर सैनिकों ने एक अनोखा उदाहरण प्रस्तुत किया है। **लेफ्टिनेंट कर्नल आर॰ विश्वनाथ और मेजर आर.एस. अधिकारी के बलिदान का इस अभियान में विशिष्ट स्थान है।** 18 ग्रेनेडियर्स के इन दोनों अधिकारियों ने शत्रु की पंक्ति को तोड़ डाला। साथ ही राजपुताना राजइफल्स के जवानों ने तोलोलिंग शिखर पर पूर्ण कब्जे और टाइगर हिल्स को घेर लेने के लिए भारी कुर्बानियाँ दीं। टाइगर हिल को चारों ओर से घेर कर घुसपैठियों की आपूर्त्ति ठप कर दी। **देश रक्षा की भावना, देशवासियों के प्रति प्रेम और प्रबल कर्त्तव्य-बोध से ही जोखिम के ऐसे काम किए जा सकते हैं।** दरअसल, कारगिल संकट मूलरूप से पाकिस्तान की इस रणनीति का अंग है जिसके तहत वह कश्मीर को भारत के लिए एक **'नासूर'** में तब्दील करना चाहता है। लेकिन तेजी से बदल रहे अंतरराष्ट्रीय समीकरणों के परिप्रेक्ष्य में अब यह पाकिस्तान के लिए गहरे संकट का कारण बनता जा रहा है। टाइगर हिल पर भारतीय सेना का कब्जा एक बड़ी कूटनीतिक सफलता है और यह सफलता **आपरेशन विजय** में थलसेना को वायुसेना की पूरी मदद से प्राप्त हुई है। कारगिल जैसे दुर्गम पहाड़ी क्षेत्र में सेना ने जो रणनीति अपनायी वह अत्यंत सटीक एवं सराहनीय है। हमारा जवान खुले में पहाड़ पर चढ़ा था, इसलिए तोपों को सुरक्षित दूर पर रख कर गोले दागने पड़ते थे, ताकि दुश्मन की थल सेना को बनाया जा सके। इसलिए भारतीय सेना ने पर्वतीय क्षेत्रों में दुश्मन को मारने से पहले उसे घेरने की रणनीति अपनायी, जिसके परिणामस्वरूप पाकिस्तानी घुसपैठियों एवं आतंकवादियों को मुँह की खानी पड़ी।

आज जरूरत इस बात की है कि कारगिल जैसे गंभीर मामले का राजनीतिकरण न कर सभी राजनीतिक दलों को एकजुटता का परिचय देना चाहिए तथा यही समय की माँग है। उन्हें भारतीय रणबांकुरों का उत्साह बढ़ाने का हर संभव प्रयास करना चाहिए। वर्तमान स्थितियों में अंतरराष्ट्रीय स्तर पर अनुकूल वातावरण बनाना किसी भी समय की तुलना में आज सर्वाधिक आवश्यक है। सभी देशों के पास सही संदेश पहुँचे इसके लिए देश की समस्त शक्तियों को एक स्वर में इस घोर अन्यायपूर्ण अतिक्रमण और कायर घुसपैठ की

निंदा करनी चाहिए। खुशी इस बात की है कि दुनिया के अधिकांश देश भारत की दृढ़ता, राजनयिक एवं सामरिक दोनों मोर्चों पर मिल रही लगातार सफलता तथा इसके समानांतर पाकिस्तान की दयनीय विफलता को निरंतर महसूस कर रहा है।

अनेक विसंगतियों और विभिन्न रुचियों के बावजूद अंततः जनता के सामूहिक विवेक पर ही कोई देश खड़ा रहता है और यह कहने में कतई संकोच नहीं कि **भारतीय जनता का सामूहिक विवेक बहुत जाग्रत है जो शेष-प्रसंगों और रुझानों को गौण कर देता है। आखिर तभी तो वह भ्रष्ट राजनीतिक माहौल के बावजूद प्रजातंत्र को जीवित रखे हुए है।** छोटे-छोटे कस्बों तथा नगरों में शहीदों को इस देश की जनता ने जिस प्रकार भावभीनी विदाई दी तथा तहेदिल से श्रद्धांजलि अर्पित की है, वह आज के बड़े-बड़े धुरंधर नेताओं के लिए ईर्ष्या का विषय भी हो सकती है। क्योंकि छोटी-छोटी जगहों में भी शहीदों की शवयात्रा में 25-25 हजार तक आमजन का शामिल होना वास्तविक मानदंड है मनुष्य के बलिदान को आँकने का। ये रैलियों की भीड़ और प्रायोजित मातमपुर्सी जमातें नहीं थीं। इनमें भेद स्पष्ट पहचाना जा सकता था। इन बलिदानियों ने धर्म, भाषा, जाति तथा प्राँत के नाम पर इस देश की जनता को बाँटने वाले नेताओं, देशद्रोहियों तथा समाज विरोधियों को यह संदेश दिया है कि राष्ट्र से बढ़कर कुछ भी नहीं और सच्चा देशभक्त वही है, जो इन संकीर्णताओं से ऊपर उठकर राष्ट्रहित में अपना सर्वस्व न्योछावर कर देता है। कारगिल में हमारे सैनिकों का बलिदान व्यर्थ नहीं जाएगा। इन शहीदों के परिजनों के गौरवपूर्ण उद्‌गार, उनके त्याग और साहस हमारे वीरों की शहादत से कम नहीं हैं। ऐसे सपूतों को जन्म देने वाली माताओं पर पूरे राष्ट्र को गर्व है और हम उनके आगे नतमस्तक हैं। इस राष्ट्र का कण-कण आज उन शहीदों और उनके परिजनों से अपने को गौरवान्वित अनुभव कर रहा है।

कार्यालय महालेखाकार (ले. प.) -1, बिहार, पटना के समस्त कर्मचारियों एवं अधिकारियों की ओर से देश की अस्मिता को अक्षुण्ण रखने के लिए आहत बलिदानियों को विनम्र श्रद्धांजलि, आहतों को आदर व सम्मान तथा युद्धरत रहे सेनानियों के प्रति कृतज्ञता।

'प्रहरी', अंक : 12, अप्रैल-जून-1999

किसी से दान में नहीं चाहती हिंदी अपना भविष्य

14 सितंबर, 1949 को हिंदी राजभाषा के रूप में प्रतिष्ठित हुई। हम फूले न समाए। और तब से हम हिंदी दिवस, हिंदी सप्ताह और हिंदी पखवाड़ा मनाते चले आ रहे हैं। हर साल की तरह इस बार भी कुछ उपदेश होंगे, कुछ कविताओं का कल्याण होगा और कुछ लोगों को पुरस्कार मिलेंगे और फिर पूरे साल के लिए भूला दी जाएगी हिंदी। साल दर साल इसी पाखंड की पुनरावृत्ति हो रही है और अब तो इसकी अर्द्धशती यानी स्वर्ण जयंती तक आ धमकी। यह विचित्र स्थिति है कि राजभाषा अधिनियम को लागू हुए आधी शताब्दी के बाद भी हम अपनी हिंदी भाषा को, जो पर्याप्त समृद्ध है, उसको उचित स्थान नहीं दे पाये। प्राय: सभी राजनैतिक दल इस समस्या को छूने से डरते हैं। जबकि सच तो यह है कि हिंदी में देश बोलता है और अस्मिता मुखरित होती है। जिस भाषा में देश नहीं बोलता है उसकी वास्तव में कोई प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। कोई भी परिवेश अपनी भाषा में ही व्यक्त होता है। परिवेश हो और उसकी अपनी भाषा न हो तो समझिए या तो परिवेश झूठा है या फिर उसका प्रतिबिंब।

जैसे किसी स्वदेशी भाषा को राजभाषा या राष्ट्रभाषा अथवा संपर्क भाषा जैसा सम्मानित पद देने का उदाहरण किसी भी स्वतंत्र राष्ट्र में नहीं है, उसी तरह राष्ट्रभाषा के नाम पर कोई विशिष्ट दिवस, सप्ताह तथा पखवाड़ा मनाने की परंपरा भी भारत के अलावा किसी अन्य देश में नहीं है।

इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता है हिंदी भारत की राजभाषा ही नहीं, राष्ट्रभाषा भी है। यह गौरव हिंदी भाषियों ने नहीं, बल्कि संविधान लागू होने से पहले ही भारत के संतों, समाज सुधारकों, अहिंदी भाषी विद्वानों और स्वतंत्रता संघर्ष के सेनानियों ने राष्ट्रीय एकता और स्वाभिमान जागृत करने के लिए हिंदी को चुना था। महर्षि दयानंद, स्वामी रामतीर्थ, महर्षि अरविंद घोष, महात्मा गाँधी, केशवचन्द्र सेन, सुभाषचन्द्र बोस, बाल गंगाधर तिलक, कन्हैयालाल मानिक लाल मुंशी जैसे प्रखर देशभक्तों ने यह माना था कि विभिन्न भाषाओं और विश्वासों से भरे इस देश में हिंदी के द्वारा सामाजिक एकता और राष्ट्रीय अखण्डता को बल मिलेगा। सर टी० विजयराघवाचारी ने 1928 में हिंदी को भारतीय शिक्षा में अनिवार्य बना देने की बात कही थी। श्री गोपालस्वामी आयंगर ने हिंदी का प्रस्ताव संविधान सभा में पेश किया था। श्री रामास्वामी या रंगास्वामी

आयंगर जैसे तमिल भाषी नेताओं ने हिंदी के लिए असाधारण काम किया था। किंतु आज अँग्रेजी समर्थकों द्वारा एक षड्यंत्र के तहत हिंदी बनाम भारतीय भाषाओं का संघर्ष जारी है। इसी कारण भारतीय भाषाओं को अँग्रेजी से मुक्त कराने की कोशिश पर चीख-पुकार प्रारंभ हो जाती है। यह अँग्रेजी भाषा और अँग्रेजियत संस्कृति को अनंतकाल तक हिंदुस्तान पर थोपे रखने की लंबी साजिश है। इस षड्यंत्र के खिलाफ प्रादेशिक भाषाओं को संगठित करना होगा। यह काम हिंदी भाषी राज्यों और हिंदी सेवकों को करना पड़ेगा। पिछले 50 वर्ष के दुष्प्रचार से उन्हें मुक्त कराना होगा और यह काम उनकी सेवा और विश्वास के बल पर ही हो सकेगा।

हिंदी या भारतीय भाषाओं का समर्थन केंद्र या अन्य राजनैतिक दलों के लिए केवल दिखावा और चुनाव जीतने का साधन है। संसद में उनकी भूमिका किसी से छिपी नहीं है। ऐसे दलों और नेताओं को बेपर्दा करना होगा।

हिंदी अपना भविष्य किसी से दान में नहीं चाहती। वह तो उसकी गति का स्वाभाविक परिणाम होना चाहिए। जिस नियम से नदी की गति रोकने के लिए शिला नहीं बन सकती; उसी नियम से हिंदी भी किसी सहयोगिनी का पथ अवरुद्ध नहीं कर सकती।

14 सितम्बर, 1949 को भारतीय संविधान ने सर्वसम्मति से हिंदी को देश की राजभाषा बनाने का निर्णय किया था और 26 जनवरी, 1950 को देश का जो लोकतांत्रिक संविधान बना उसमें राजभाषा हिंदी का निर्णय भी शामिल था। उस समय संविधान सभा ने यह सर्वसम्मति से फैसला किया था कि राजभाषा हिंदी को 15 वर्षों के बाद यानी 1965 तक पूरी तरह से लागू कर दिया जाएगा। आज 15 वर्ष की बजाय 50 वर्ष का समय बीत गया है और आज हम इसकी स्वर्ण जयंती मना रहे हैं पर यह बड़े दुख के साथ कहना पड़ता है कि स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया दिखता है। भारत के साथ अभिन्न संबंध स्थापित करने वाले शख्स फादर कामिल बुल्के अक्टूबर, 1935 में जब भारत आए तो यहाँ मातृभाषा हिंदी की उपेक्षा देख उन्हें भारी आघात लगा। उन्होंने महसूस किया कि यहाँ विदेशी भाषा अँग्रेजी का वर्चस्व है तथा मातृभाषा हिंदी पूर्णत: उपेक्षित है, जबकि उन्होंने भारतीयों के मन में हिंदी के प्रति समर्पण की भावना को परखा था।

मुझे यह कहने में तनिक संकोच नहीं कि राजभाषा या राष्ट्रभाषा हिंदी के विरुद्ध कुचक्र चल रहा है और इस कुचक्र के सामने सरकार भी झुकती प्रतीत हो रही है। यदि सरकार का यह दब्बूपन बरकार रहा, तो हिंदी बेमौत मारी

जाएगी और राष्ट्र अपनी पहचान खो बैठेगा। ऐसा लगता है कि राष्ट्रभाषा की प्रगति और विकास का सरकारी संकल्प पर अपने हित साधन के लिए पक्ष तथा विपक्ष के लोग भी राष्ट्रहित को नजरअंदाज कर निर्णय ले रहे हैं तथा हिंदी विरोधियों या यों कहिए कि अँग्रेजी के समर्थकों के सामने घुटने टेक रहे हैं। हिंदी विरोधियों के सामने घुटने टेकने की इस मजबूरी के पीछे आखिर उनकी कौन सी मंशा है। हिंदी का हित चाहने वालों को इस रहस्य को सामने लाना ही होगा। व्यवहारिक कठिनाई अथवा हिंदी नहीं थोपने पर सरकार हिंदी के विकास के मार्ग में निश्चित रूप से अवरोध पैदा कर रही है। नहीं तो राजभाषा अधिनियम लागू होने के 50 वर्ष बाद भी आज हिंदी दिवस मनाने की आवश्यकता क्यों पड़ रही है। दिल्ली राज्य 'क' क्षेत्र में आता है फिर भी क्या यह सही नहीं कि भारत सरकार के मंत्रालय परस्पर पत्राचार आज भी अँग्रेजी में करते हैं जो सरासर राजभाषा नियमों का उल्लंघन है। यही नहीं लाल फीताशाही में हिंदी की प्रगति के आँकड़े भी प्राय: संदिग्ध होते हैं।

एक साहित्यकार तमिल लेखक श्री का.ना. सुब्रह्मण्यम् का कहना है **''मैं राष्ट्रीय एकता, विचार विनियम, सार्वजनिक कार्य और बाद में साहित्य रचना के लिए भी, एक राष्ट्र की भाषा में विश्वास करता हूँ। स्वतंत्रता पूर्व युग में महात्मा गाँधी ने जिस हिंदी को प्रचारित करने में पहल की थी, उसने एक राष्ट्रीय भाषा के आदर्श के साथ विश्वासघात किया है।''** उनका मानना है कि भाषा का स्वतंत्र विकास सरकारी तंत्र से मुक्त होना चाहिए इसे स्कूल-कॉलेजों के अकादमिक प्रभावों से भी दूर रखना चाहिए।

इसी प्रकार मलयालम भाषी रचनाकार डॉ. विश्वनाथ अय्यर के अनुसार हिंदी का विरोध करने वालों में सरकारी कर्मचारी-अधिकारी, प्राध्यापक, वैज्ञानिक तथा राजनीतिक नेता-इन तीन श्रेणियों के लोग हैं जो अभी तक अँग्रेजी में ही अपना सारा धँधा करते आए हैं और सफलता पायी है, उन्हें सत्ता छूटने का डर है, दूसरे उन्हें भारतीय भाषा-माध्यम पर भरोसा नहीं। भारत के स्वतंत्र होने के बाद भी उनके हृदय में पूर्ण भारतीयता की लगन नहीं समा पायी। भारतीय भाषा परिषद् के पूर्व निदेशक तथा **'चंदामामा'** के 24 साल तक संपादक रहे डॉ. बाल शौरि रेड्डी का मत है कि शिक्षित वर्ग में भी हिंदी को राजभाषा के पद पर प्रतिष्ठित करने में संदेह और भय व्याप्त है। उसके कई कारणों में एक कारण तो यह भी है कि संविधान की भाषा-संबंधी नीति में संशोधन किया गया। संशोधन में कहा गया है - **''जब तक हिंदीतर क्षेत्रों के**

तीन-चौथाई सदस्य एकमत से हिंदी को स्वीकार नहीं करते, पत्राचार द्वारा प्रशिक्षण-योजना आदि योजनाएँ पूर्ण रूपेण उपयोगी नहीं हैं।''

हिंदी की स्वर्ण-पदक विजेता गायिका एवं कवयित्री हेमलता आंजनेयलू का मत है, **''सरकारी आदेशों और उनके कार्यान्वयन में काफी अंतर रहता आया है। हिंदी प्रशिक्षण योजना, पत्राचार द्वारा प्रशिक्षण-योजना आदि योजनाएँ पूर्ण रूपेण उपयोगी नहीं हैं।''**

हिंदी जगत के सुपरिचित हस्ताक्षर डॉ. प्रभाकर माचवे के अनुसार हिंदी के आगे न बढ़ने के पीछे हिंदी भाषी प्रदेशों में साक्षरता की कमी, त्रिभाषा-फार्मूले का ईमानदारी से पालन नहीं होना, हिंदी लेखकों में बहुत अधिक गुटबंदी, कुनबापरस्ती नीति आदि अनेक कारण रहे हैं। इन खामियों से निजात पाने के बाद ही हिंदी का सच्चा विकास हो पाएगा। उन्होंने आधी सदी तक यही तमाशा देखा कि कोरा, आदर्शवाद, चतुर व्यावसायिकों के आगे सदा हारता आया है।

आज हम जिस लोकतंत्र में जी रहे हैं उसमें चालीस प्रतिशत लोग हिंदी जानते और समझते हैं। सही है कि हिंदी किसी पर थोपी नहीं जाएगी। उसे अहिंदी भाषियों का समर्थन मिलेगा, तभी वह चलेगी, बढ़ेगी। वारूचि ने कहा था - ''शास्त्राद रूढ़िर्बलियासी'' अर्थात्, शास्त्री पंडित भाषा नहीं बनाते, जनसाधारण उसे रूढ़ करते हैं। वे ही भावी हिंदी को बनाएँगे।

'प्रहरी', अंक : 13, जुलाई - सितंबर -1999

भारतीय समाज एवं संस्कृति का बदलता परिदृश्य

हमारा समाज आज ऐसे संक्रमण काल से गुजर रहा है जब परंपराएँ लगभग टूट रही हैं, संस्कारों को ढोना नई पीढ़ी के बस की बात नहीं रही है और पश्चिमी उपभोक्तावादी संस्कृति की तरफ हमारे नौजवान अँधाधुँध भागते चले जा रहे हैं। आज समाज में जो विद्वेष, ईर्ष्या, घृणा जैसी विकृतियाँ एवं विसंगतियाँ व्याप्त हैं उसकी वजह से पूरा समाज और परिवार विघटन के कगार पर है। आज आदमी, आदमी को कुचलकर आगे बढ़ रहा है। हत्याएँ, बलात्कार, अपहरण जैसे जघन्य अपराधों के कारण हमारे मानवीय, सांस्कृतिक व सामाजिक मूल्य गिरे हैं। चारों ओर का परिवेश आपाधापी का, शोरगुल का, अर्थलोलुपता का, भ्रष्टाचार-अनाचार, व्यभिचार का, कामचोरी और दामचोर का हो गया है। कम-से-कम समय में अधिक-से-अधिक प्राप्त करने की पैशाचिक दौड़ ने कुछ ऐसा पागलपन पैदा किया है कि सारे आदर्श, सारे सिद्धांत, सारे नीति-नियम ताक पे धरे रह गए हैं। आदमी जानता है कि वह गलत काम कर रहा है, फिर भी उसे किए चला जा रहा है। अब घर में, परिवार में, समाज में सत्यनिष्ठ आदमी नक्कू अथवा बुद्धू माना जाता है। क्षमाशीलता दब्बूपन का पर्यायवाची हो गई है। आस्था और आदर का भाव पिछड़ेपन का प्रतीक माना जाता है। आज देश व समाज चरित्र के संकट से गुजर रहा है। चरित्र का यह संकट राष्ट्रीय जीवन को शक्ति, धन और पद के लिए चल रही होड़, भाई-भतीजावाद और भ्रष्टाचार के रूप में भीतर-ही-भीतर खोखला कर रहा है। त्याग, बलिदान और सेवा की भावना लुप्त होती जा रही है तथा पद एवं सत्ता का मोह हमें विमूढ़ बनाता जा रहा है। सामाजिक स्तर पर भी हम बहुत पीछे चल रहे हैं। जातिबद्ध समाज की जकड़न अब भी ज्यों की त्यों है। ऊँच-नीच की भावना अब भी मन में बनी हुई है। छुआछूत शहरों में न सही, किंतु गाँवों में अब भी मौजूद है। जिस वर्ण व्यवस्था के खिलाफ भगवान महावीर और महात्मा बुद्ध ढाई हजार वर्ष पहले संघर्ष चलाया, वह अब भी बरकरार है। समाज आज ने केवल भौतिक साधनों के मामले में गरीब है, बल्कि दिमागी तौर पर भी अभी आदिम अवस्था में है। हमारे दिल और दिमाग सदियों पुरानी दकियानूसी मान्यताओं के बंदी हैं। वह धार्मिक अँधविश्वासों में जकड़ा है और जरा सा मौका मिलने पर धर्म के नाम पर मरने-मारने के लिए तैयार हो जाता है। पश्चिमी उपभोक्तावादी संस्कृति की

नित नई चकाचौंध से मुग्ध होकर हम भारतीय भी आकांक्षाओं के मुक्त आकाश का स्वप्न देखने लगे। विकास और प्रगति का आयातित स्वप्न हमारी आँखों में समा गया और तब प्रारंभ हुआ आत्मछलना का एक घातक दौर, क्योंकि हमें परंपरा अवरोध-सी प्रतीत होने लगी। इस नई सभ्यता और संस्कृति की आँधी में हम अपनी जड़ों को संभालकर रखना भूल गए। लंगड़े समाज की यह आत्म-विस्मृति अंतत: उसे अँध-विश्वासों की भूल-भूलैया में न जाने कहाँ ले जाकर छोड़ेगी।

आज इंसान एक नागरिक की जगह उपभोग करने वाले यंत्र में रूपांतरित हो गया है। घर-परिवार अब प्रेम, सौहार्द, उत्साह, आनंद जैसे मानवीय तत्त्वों से कम पहचाना जाता है, बल्कि टी.वी., वी.सी.आर., कूलर, फ्रिज, पलंग आदि उपभोग्य वस्तुओं के होने से उसकी पहचान बनने लगी है। बुजुर्गों के बसने की जगह कई उपभोग्य वस्तुएँ रख दी गई हैं। व्यक्ति का निजी और पारिवारिक एकान्त छिन गया है। समाज लगातार व्यक्तियों की सामूहिकता और सहभागिता से वंचित होता जा रहा है। पर्वो-अनुष्ठानों की जगह ड्राईंग रूम की निस्संगता ने ले ली है। लोक-अनुष्ठानिक गीतों की जगह अपसंस्कृति के माया-बाजार में पॉप, रॉक और डिस्को का शोर है। मनोरंजन उद्योग ने अश्लील मुद्राओं का घटाटोप रच डाला है। हम अपनी सांस्कृतिक पहचान खोते जा रहे हैं। हमारी आत्मा का सबसे जीवंत भाग लहुलुहान हो चुका है। हमारी करुणा-संवदेना तक **फ्लॉपी** में बंद हो चुकी है।

अब सवाल यह उठता है कि ऐसे संक्रमण काल में, जो जाग्रत व्यक्ति हैं जो चेतनशील हैं उनका क्या दायित्व है। क्या वे भी समय के प्रवाह में बह जाएँ या उसका प्रतिरोध करें या शब्द के माध्यम से उसे समझा या समझाया जा सकता है? क्या हम अपने विवेक से नैतिक-अनैतिक में भेद कर सकते हैं? अज्ञान, आडंबर, शोषण, भेदभाव और अन्याय से लुटती हुई मानवता के प्रति क्या हमारी करुणा उमड़नी चाहिए? क्या हमें अपने विचार समय के साथ बदलने होंगे? ये सब कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिसका उत्तर हमें ढूँढ़ना होगा। भारतीय समाज एवं संस्कृति के बदलते परिदृश्य ने हमें मजबूर किया है कि हम समाज, देश और संस्कृति के बारे में सोचे, विचारें और खुद को संवारें अन्यथा वे जो सत्ता के शिखर पर बैठे हैं, आजादी का फल चाभते रहेंगे और आजादी की लड़ाई में असली भूमिका अदा करने वाले लोग उसके लाभ से वंचित रहेंगे। आज यदि समाज को सही दिशा नहीं प्रदान की गई तो वह उपभोक्तावादी संस्कृति को इस दौड़ में ही लटपटाता-छटपटाता रह जाएगा। हमारी

पीड़ा यह है कि इस वक्त हमारे पास न कोई विचारक है न मसीहा। इसलिए प्रत्येक मनुष्य की भीतर के विचार को जगाए रखकर ही इस संकट से हम उबर सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को अपना मसीहा स्वयं बनना होगा और योजनाकारों के दिमाग को बदलना होगा।

हिंदी पत्रकारिता एवं प्रहरी की स्थिति

अब मैं अपने अनुभव के आधार पर हिंदी की साहित्यिक पत्रिका के साथ-साथ विभागीय पत्रिका प्रहरी की स्थिति के बारे में अपने विचार व्यक्त करना चाहता हूँ। वह भी इसलिए कि हमारी स्वैच्छिक सेवा निवृत्ति लेने के पूर्व हमारे सेवाकाल का यह अंतिम अंक है। आज स्थिति यह है कि हिंदी में जो भी पत्र-पत्रिकाएँ मंत्रालय या विभाग से मासिक अथवा त्रैमासिक के रूप में निकल रही हैं उसे पढ़कर संतोषप्रद साहित्यिक गतिविधियों का पता नहीं चलता। प्राय: अधिकतर पत्रिकाओं में साहित्य कम, प्रचार अधिक होता है। कुछ तो केवल इसलिए निकलती हैं कि निकलनी चाहिए। सरकारी पत्रिकाएँ एक महकमे की तरह चलती हैं-कोई भी संपादक हो जाता है; कुछ भी सामग्री मात्र छपने के लिए छपती जाती है। मसलन पठनीय रचनाएँ बहुत कम ही रह पाती हैं। न पढ़ने वाला शिकायत करता है, न छपने वाला। सभी कार्यालयों से प्राय: एक जैसी पिटी-पिटाई लाइन पर प्रतिक्रियाएँ यथा-रचनाएँ स्तरीय हैं, पठनीय हैं, कवर आकर्षक है तथा छपाई अच्छी है आदि आदि प्राप्त हो रही हैं। सभी सरकारी, अर्द्धसरकारी और संस्थागत साहित्यिक पत्रिकारिता को खा जाने वाले-व्यावसायिक तथा सनसनीखेज राजनीतिक पत्रकारिता यही दो राक्षस हैं। सेक्स और हिंसा में राजनीति की चासनी मिलाकर कई पत्रकार-साहित्यकार बड़े-बड़े रचनाकार बन गए।

मेरा मानना है कि इन दिनों प्राय: सभी राज्यों खासकर हिंदी भाषी प्रदेशों में समाचार से अधिक विचार में लोगों की रुचि बढ़ती जा रही है, जो वैचारिक संकट की घड़ी में एक शुभ सूचक है। यही कारण है कि आज विचारधाराओं पर आधारित पत्रिकाओं की खपत बढ़ने लगी है। इसलिए हिंदी पत्रकार-रचनाकार को अब अपने सामान्य पाठक से प्रतिबद्ध होना पड़ेगा, क्योंकि वर्तमान दौर में हिंदी पत्रिका की भूमिका अब महज एक साहित्यिक संलाप नहीं, बल्कि निरंतर ढह रहे मूल्यों को बचाने के लिए अलख जगाने की है, भाषा के भोथरे हो चले औजारों को फिर से सान पर चढ़ाने की है। कुछ इसी भाव से प्रेरित होकर प्रहरी को उसी रास्ते पर ले चलने का सतत प्रयास हुआ है। इसके पिछले चार-पाँच

अंकों के स्तंभों मं इसी ख्याल से परिवर्तन कर नए स्तंभों के साथ-साथ साहित्य के अंतर्गत कहानी, लघु कथा, काव्य-कुँज एवं व्यंग्य आदि विधाओं में पाठकों के लिए विचार प्रधान रचनाओं को प्रकाशित कर प्रबुद्धजनों को एक अच्छी-खासी मानसिक खुराक प्रदान करने का प्रयास जारी है। फलत: कार्यालय के लोगों में नयी ऊर्जा का संचार हुआ है। विश्वास है यह पत्रिका वैचारिक संवाद की बुझ रही मशाल को जलाकर न केवल सार्थक संवाद को और सशक्त कर रही है, बल्कि सरकारी कामकाज में राजभाषा के प्रगामी प्रयोग को निंरतर बढ़ावा दे रही है। अपने सभी सहकर्मियों, पत्रिका परामर्शदात्री समिति एवं संपादक-मंडल के सभी सदस्यों तथा प्रशासन से जुड़े सभी सहकर्मियों एवं अधिकारियों के प्रति मैं अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। साहित्यिक अनुष्ठान के इस प्रयास को अमली जामा पहनाने का श्रेय निश्चित रूप से पत्रिका के संरक्षक तथा वर्तमान महालेखाकार को इसलिए जाता है कि इस कार्यालय में पदभार ग्रहण करने से लेकर आज तक उन्होंने न केवल इसके तेवर व कलेवर को बढ़ाने में अपनी व्यक्तिगत दिलचस्पी ली है, बल्कि हर कदम पर संपादक-मंडल का अपेक्षित मार्गदर्शन बड़ी ईमानदारी से किया है। संपादक-मंडल की ओर से मैं उनकी इस हार्दिकता के लिए तहेदिल से आभार व्यक्त करता हूँ। कहना नहीं होगा कि प्रहरी के नियमित रूप से सफल प्रकाशन में कार्यालय के सभी सहकर्मियों, रचनाकारों, परामर्शदात्री समिति एवं संपादक-मंडल के सदस्यों, प्रशासन से जुड़े सभी कर्मचारियों एवं अधिकारियों की सक्रिय सहभागिता रही है। पटना नगर तथा नगर के बाहर के सुप्रसिद्ध रचनाकारों ने अब तक के प्राय: सभी अंकों में अपनी विचार प्रधान रचनाएँ भेजकर प्रहरी को पठनीय एवं स्तरीय बनाया है। आखिर तभी तो भूरि-भूरि सराहना के शब्द निरंतर मिल रहे हैं। मैं इन सबों के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ और आशा करता हूँ कि भविष्य में भी नए संपादक-मंडल के सबल कंधों को वे अपेक्षित सहयोग प्रदान करते रहेंगे। जहाँ तक 'प्रहरी' को हमारी सेवा का सवाल है, मैं हर-हमेशा अपनी सेवा देने में गर्व का अनुभव करूँगा, क्योंकि यह हमारी रुचि और गरिमा के अनुरूप होगा। एक बार पुन: उन सभी सहकर्मियों एवं उच्चाधिकारियों के प्रति आभार प्रकट करता हूँ, जिन्होंने प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से हमें अपने कर्त्तव्य के निर्वहन में सहयोग प्रदान किया है।

'प्रहरी', संयुक्तांक : 14-15, अक्टूबर -दिसंबर-1999 एवं जनवरी-मार्च-2000

◈◈◈

खंड- पाँचः पुस्तकों का संपादन
'यादें' एवं 'मयुरा'

कविवर भोला प्रसाद सिंह 'तोमर' की स्मृति में
प्रकाशित पुस्तक 'यादें'

कविवर भोला प्रसाद सिंह 'तोमर'

महामहिम राष्ट्रपति डॉ. शंकर दयाल शर्मा के साथ दाएँ खड़े हैं
डॉ. तोमर एवं उनके अन्य साथी

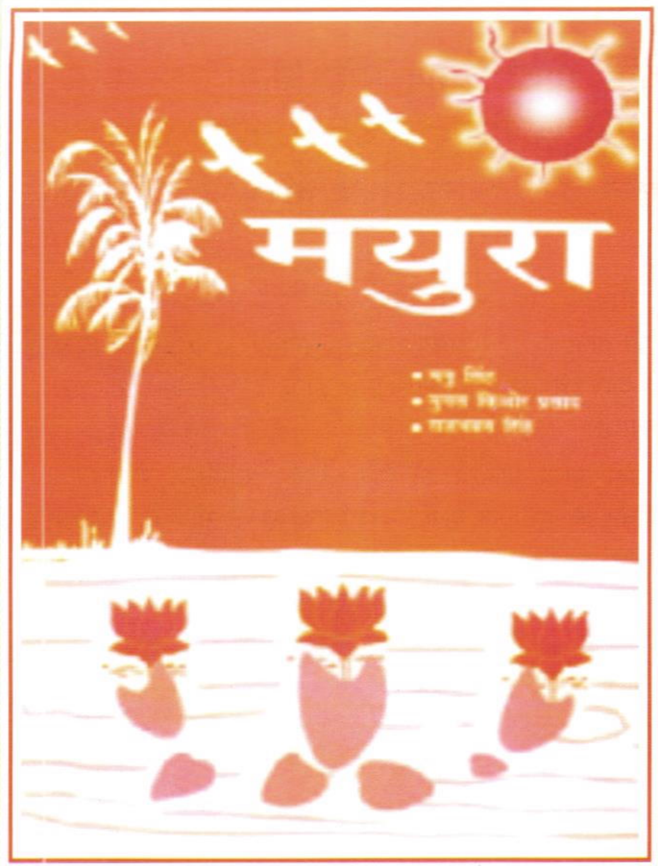

साझा कृति 'मयुरा' के संपादक श्री सिद्धेश्वर के साथ बाएँ लेखक
श्री मनु सिंह तथा दाएं श्री राजभवन सिंह एवं श्री जुगल किशोर प्रसाद

कवि भोला प्रसाद सिंह 'तोमर' की स्मृति में प्रकाशित 'यादें' - अप्रैल 1997

जीवन और रचना-संघर्ष के बीच कवि 'तोमर'

साहित्य सिर्फ साहित्य नहीं होता। वह सामाजिक चेतना का दुतरफा रोजनामचा होता है। लंबे समय तक सुगबुगाती परंपराएँ और प्रवृत्तियाँ अनके घटनाओं और रचनाओं के रूप में प्रगट होती हैं जिसे साहित्य में युग परिवर्तन कहा जाता है।

हिंदी काव्य साहित्य को जिन तत्त्वों ने सर्वाधिक प्रभावित किया है - उसमें जीवन के दार्शनिक पक्षों की अभिव्यक्ति के साथ ही व्यवहारिक जीवन की हलचल भी महत्त्वपूर्ण रही है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि आज हमारे समक्ष वैचारिक संकट अपने असली रूप में सारे नकाब झाड़कर खड़ा है। वैचारिक संकट का सबसे दरिद्र और दयनीय प्रदर्शन संस्कृति और साहित्य के दावेदारों द्वारा ही किया जाता रहा है। आज मौलिक चिंतन का अभाव खटकता है। मौलिक चिंतन की इस अनुपस्थिति के परिणामस्वरूप ही कोई बड़े सामाजिक आंदोलन न हो पाते हैं। मौलिक चिंतन के अभाव का और कारण चाहे जो हो, धर्मप्राण संस्कृति का होना भी उनमें से एक है, जो भाग्य, भगवान और अवतारों में मात्र लौ लगाना सिखाती है।

ऐसी विकट परिस्थिति में राष्ट्रीय विचार मंच के द्वारा कविवर स्व. भोला प्रसाद सिंह 'तोमर' की पुण्य स्मृति में सहकारिता के आधार पर प्रकाशित काव्य-संग्रह ''यादें'' के सहभागी रचनाकारों ने अपनी रचनाओं में मौलिक चिंतन का परिचय दिया है। प्राय: सभी कवियों ने देश व समाज की वर्तमान स्थिति को बेबाक ढंग से सामने रखकर आत्ममुग्ध लोगों को कुछ सोचने के लिए उकसाने का काम किया है। कविताओं में व्यक्त विचार आज के समाज के कठिन सवालों से तो टकराता है ही, व्यापक मानवीय सच्चाईयों के साथ साक्षात्कार भी कराता है। कवि ने गहरे ईमानदार रचनाकारों के दायित्व का एहसास कराया है। यह हिंदी साहित्य के उज्ज्वल भविष्य की ओर संकेत है। इस संग्रह के कुछ अनुभवी तथा उदयीमान रचनाकारों ने अँधेरे से निकलने के लिए अँधकार की जड़ खोजने की अपेक्षा रोशनी के स्रोत को ढूँढ़ना श्रेयष्कर समझा

है, क्योंकि प्रकाश के अभाव में अँधकार का अपना कोई अस्तित्व नहीं होता।

अमंगल कभी नहीं पसीजता, आत्मीयता से भी नहीं। स्मृतियाँ सहेजकर रखी हैं, पर जब तक लिपिबद्ध कर किसी संग्रह में उसका समावेश ने कर लें तो वह मानस-पटल से खिसक भी सकती हैं। पुरानी यादें बरसों में निथरकर उजली हो जाती हैं, पहले से कहीं ज्यादा नुकीली और साफ। स्मृतियाँ घुलनशील होती हैं पर आज उन पर धूल की परत नहीं, सिर्फ उजास के गीले कण सबकुछ बिल्कुल साफ होकर उभर रहा है।

'तोमर' जी के साथ बीत सुहाने समय तथा उनके साथ जुड़ी जीवंत स्मृतियाँ भाव-विह्वल एवं गला अवरूद्ध कर देने के लिए आज भी काफी है, जबान लड़खड़ाने के लिए काफी हैं, शब्द बड़बड़ाने के लिए काफी हैं। 'तोमर' जी के साथ बीते वह गहरे अनुभव के क्षण आज भी मेरे मानस-पटल पर एक-एक कर उभर रहे हैं। हम एक दूसरे के कितने करीब थे। मित्रों की तरह एक दूसरे को कितनी आसानी से पढ़ सकते थे। जब-जब मैं और मेरे मित्र उनके साथ रहते थे, हवाएँ हमारे मनों में कुछ बुनती रहती थीं।

ऐसा लगता है कि इस संग्रह के रचनाकारों ने श्रद्धांजलि स्वरूप कविवर स्व. 'तोमर' के आदर्शों को मूर्त रूप देने का प्रयास किया है। यह सच है कि जीवनपर्यंत स्व. भोला प्रसाद सिंह 'तोमर' ने जो कुछ साहित्य को दिया, उसे शब्दों में व्यक्त करना तो कठिन अवश्य है पर इतना जरूर है कि मानवीय मूल्य, ईमानदारी तथा त्याग की जिस भावना से उन्होंने अपने दायित्व का निर्वाह किया, उसकी चर्चा आज भी करते हम नहीं अघाते। आज से ठीक एक वर्ष पूर्व यानी 27 अप्रैल, 1996 को विधाता के क्रूर हाथों ने आपको हमसे छीन लिया, किंतु अपनी सहृदयता, उदारता, निःस्वार्थ सेवाभाव, सचरित्रता के कारण हम सबों के दिल व दिमाग में आज भी आप उपस्थित हैं।

मृत्यु न केवल जिंदगी में एक दर्दनाक घटना है, बल्कि हमारे भीतर की बहुत सारी चीजें मृत्य हो जाती है। जबतक हम जीवित रहते हैं, मात्र यादें ही बच जाती हैं। आज हम उनकी बातों को यादकर स्फूर्त्ति से भर जाते हैं। किसी लेखक का मानवीय दायित्व और चिंता यही होती है कि वह मनुष्य को बेहतर जीवन की ओर बढ़ने की प्रेरणा दे। इसलिए निरंतर जटिल होते हुए यथार्थ को पकड़ना रचनाकार का महत्त्वपूर्ण काम होता है। स्व. 'तोमर' जी ने हमें यही सिखाया कि लेखक का यह कर्त्तव्य होता है कि वह नागरिक को बराबर उस खाई के प्रति, जो उसकी चेतना के बीच में खुदती जाती है, बड़ी होती जाती

है, सचेत करवाते रहे। इसलिए लेखक की चेतना में वह सब मौजूद होना चाहिए जो उसके इर्द-गिर्द हो रहा है। आप हमेशा कहा करते थे कि दूसरों की समस्याओं तथा परिस्थितियों को समझने का प्रयास करना चाहिए। 'तोमर' जी की न जाने कितनी स्मृतियाँ एक साथ मेरे मानस-पटल पर उभर कर मन को उद्वेलित कर रही हैं। उनके आदर्श, उनकी व्यवहार-कुशलता, हिंदी साहित्य के प्रति उनकी निष्ठा और मानवीय मूल्यों के प्रति उनकी प्रतिबद्धता हम सबों को अनुप्राणित करती रहेंगी। उनके कार्यकलाप तथा उनकी चिंतनधारा का विश्लेषण करने पर स्पष्ट होता है कि साहित्य की काव्य विधा पर उनकी एक पकड़ थी, नारी के उत्थान के लिए उनके मन में एक ललक थी और शृंगार रस पर कविता लिखकर उन्होंने अपनी एक अलग पहचान बनाई थी।

उनकी स्मरण शक्ति का सब कोई कायल था। दिनकर, निराला, पंत तथा प्रसाद की पंक्तियों को वे हमेशा एक स्वर सुना दिया करते थे। उनकी सहजता, उनका खुलापन और उनकी आत्मीयता ही उनके व्यक्तित्व की विशेषता थी। वे सदैव एक प्रेरक व्यक्तित्व के रूप में याद किए जाएँगे और यह काव्य-संग्रह 'यादें' उनकी याद को ताजा रखने का काम करेगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

कविवर 'तोमर' ने जीवन-संघर्ष और रचना-संघर्ष के बीच अपना जीवन जीया। इनके वर्जनामुक्त व्यक्तित्व को सह पाना बहुतों के लिए कठिन था, नैतिकता और मानवीयता के उनके मापदण्ड थे। सुपुत्र का देहावसान उनके जीवन के लिए सबसे बड़ा आघात था। 'तोमर' भीतर से बहुत टूटे, पर अपने मानसिक संघर्ष को अद्भूत संतुलन देते हुए उन्होंने कविताएँ रची। यह कहने की जरूरत नहीं कि 'तोमर' को कवि-प्रतिभा का समुचित मूल्याँकन उनके जीवन-काल में नहीं हो सका जिसकी अपेक्षा आज के समीक्षकों से की जाती है। यही उनके प्रति सच्ची श्रद्धांजलि भी होगी। तोमर की रचनाओं की व्याख्या सुप्रसिद्ध समीक्षक डॉ. कुमार विमल की इन पंक्तियों को उद्धृत कर उनकी स्मृति को नमन करता हूँ-

''तम में जीकर मीत
ज्योति के गीत लिखे हैं मैंने
विष पीकर सुर में गाये हैं
गीत अमृत के मैंने।''

और कविवर नेपाली की ये पंक्तियाँ तोमर की जिंदगी की सच्चाई को

उजागर करती दिखाई देती हैं-

''अफसोस नहीं इसका हमको, जीवन में हम कुछ कर न सके
झोलियाँ किसी की भर न सके, संताप किसी का हर न सके
अपने प्रति सच्चा रहने का, जीवन भर हमने यत्न किया
देखा-देखी हम जी न सके, देखा-देखी हम मर न सके।''

मैं हृदय से आभारी हूँ, सुप्रसिद्ध उपन्यासकार डॉ. भगवतीशरण मिश्र का जिन्होंने इस काव्य-संग्रह का प्राक्कथन लिखकर इसे गरिमा प्रदान की है।

अपने समस्त रचनाकारों के प्रति आभार प्रकट करना संपादक अपना पुनीत कर्त्तव्य समझता है जिन्होंने अपनी रचनाओं से इस संग्रह को समृद्ध किया। खासकर सरिता त्यागी के प्रति उनकी रचनाओं के लिए मैं आभारी हूँ जिनकी छोटी-छोटी कविताएँ मन को छूती हैं और जिसे बार-बार पढ़ने को मन करता है। राष्ट्रीय विचार मंच के संयुक्त सचिव (साहित्य एवं प्रकाशन) मनोज कुमार मेरे हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने मंच की ओर से इस संग्रह को प्रकाशित करने में अत्यधिक रुचि ली है।

◈◈◈

रचनाकारत्रयी की साझाकृति 'मयुरा' का संपादन
वर्ष 2005
साहित्य-यात्रा का दीप-स्तंभ

परिवेश और समकाल के प्रति सचेत और उनके प्रति रू-ब-रू खड़े रह अपनी उपस्थिति दर्ज कराने वालों के लिए यह कोई जरूरी नहीं कि वे बहुत बड़े साहित्यकार ही हों। खेत-खलिहानों, कल-कारखानों और सरकारी एवं गैर-सरकारी कार्यालयों में काम करने वाले लोग भी साहित्य की सेवा कर सर्जक की पंक्ति में खड़े होकर लोगों को परिवेश के प्रति सचेत कर सकते हैं। हाँ, सर्जक होने के लिए उनमें संवेदना के साथ-साथ चेतना अवश्य होनी चाहिए जिसके बल पर वे साधना कर सकें। वह उसका सहज-प्राप्य है, पर उस सहज-प्राप्य की प्रस्तुति सभी के लिए सहज नहीं होती। प्रस्तुति का महत्त्व इसलिए है कि उसी से रचनाकार स्रष्टा कहलाता है। उम्र भी मायने नहीं रखती सृजन में। उम्र के साठ पड़ाव पार कर चुके प्रस्तुत संग्रह- 'मयुरा' के रचनाकारत्रयी मनु सिंह, युगल किशोर प्रसाद और राजभवन सिंह ने पाठकों व लेखकों के समक्ष इसे प्रस्तुत कर उपर्युक्त तथ्यों की संपुष्टि की है। केंद्र तथा राज्य सरकार की सेवाओं में रहकर भी इनकी संवेदना और चेतना बरकरार रही तथा साहित्य के प्रति इनका रुझान बना रहा। उसी का प्रतिफल है 'मयुरा'- गद्य और पद्य दोनों का समावेश करता एक अनोख संग्रह।

सही कहा गया है, दार्शनिक की सृजनशीलता उम्र के सारे बँधनों और बंदिशों को तोड़कर आगे चली जाती है। मेरा तो मानना है कि सृजन में अगर संघर्ष नहीं हो, तो उसमें न तो तेजी आती है और न माधुर्य। शहद के स्वाद के पीछे मधुमक्खियों का कठिन परिश्रम और संघर्ष होता है, तभी वह मीठा और स्वास्थ्यवर्धक होता है। 'मयुरा' के रचनाकारत्रयी अपने इसी परिश्रम और संघर्ष के परिणामस्वरूप उम्र के इस पड़ाव पर आने के बाद भी सृजन के क्षेत्र में कामयाबी के रास्ते तय कर रहे हैं। कुछ लेखकों का लेखन उनके जीवनकाल में ही काल-कवलित हो जाता है और कुछ का लेखन ही जीवित रहता है। पर शायद लेखकों की एक किस्म और भी है जो अपने लेखन में और लेखन के साथ जीता है। 'मयुरा' के रचनाकारत्रयी ऐसे ही लेखक हैं जो अपनी सेवानिवृत्ति के बाद भी जगे हुए हैं और देर-सबेर हिंदी जगत में इनकी कृतियों का आदर

होगा। उनके वैविध्यपूर्ण लेखन-विस्तार का आभास भी मुझे है पर उनकी गहराई में मैं अभी तक नहीं जा पाया हूँ। रचनाकारत्रयी द्वारा लिखित 'मयुरा' ने मुझे प्रभावित किया और तभी मैंने इसके संपादन का दायित्व संभालने की स्वीकृति भी दी, क्योंकि इस प्रकार के प्रयास को प्रोत्साहित करना मैं अपना साहित्य-धर्म समझता हूँ। इससे हिंदी साहित्य के अबतक के एक उपेक्षित अंग की क्षतिपूर्त्ति ही नहीं होती, बल्कि ऐसे प्रयास से हिंदी साहित्य का गौरव और भी निखरता है और लोग जान पाते हैं कि आज का हिंदी साहित्य अब इने-गिने हाथों की बात नहीं रह गया है। इस संदर्भ में 'मयुरा' का हिंदी साहित्य में महत्त्वपूर्ण योगदान माना जाएगा।

'नकेन' की तरह 'मयुरा' का भी अर्थ खोजना मुनासिब नहीं होगा, क्योंकि 'मयुरा' का नामकरण भी मनु से 'म', युगल किशोर से 'यु' और राजभवन से 'रा' को लेकर हुआ है। दरअसल हिंदी की तरह इन तीनों ने मिलकर 'मयुरा' नामक एक हार बनाया जिसमें रंग-रंग के, किस्म-किस्म के फूल हैं और जिन्हें कोई सूत्र एक माला में पिरोया है। सच तो यह है कि वह सूत्र है राष्ट्रीय चेतना की वैचारिक संस्था 'राष्ट्रीय विचार मंच' और उसका मुख-पत्र 'विचार-दृष्टि' जिससे जुड़कर 'मयुरा' के रचनाकारत्रयी को एक साथ बैठने और विचारों के आदान-प्रदान करने का मौका मिला है उसी सूत्र से यह माला बनी। एकता के इसी सूत्र की आज जरूरत है।

हिंदी साहित्य को समृद्ध कर समाज को एक सही दिशा प्रदान करने का 'मयुरा' एक सार्थक प्रयास है। इसलिए भाई मनु सिंह की इस बात से सहमत नहीं हुआ जा सकता कि इस संग्रह की रचना साहित्य जगत में महज अपनी पहचान बनाने और अपनी प्रतिभा को सामने रखने के ख्याल से की गई है। कारण कि सत्साहित्य ही किसी रचनाकार को उसकी पहचान बनाता है। कथा सम्राट 'प्रेमचंद' तथा अमर कथा शिल्पी फणीश्वरनाथ 'रेणु' की यदि आज साहित्य में अपनी पहचान है तो उनके सत्साहित्य के चलते। इस संदर्भ में कवि दिनेश रघुवंशी की ये पंक्तियाँ कुछ यूँ व्यक्त करती हैं -

'साथ चलने का इरादा जब जवां हो जाएगा,
आदमी मिल आदमी से कारवां हो जाएगा।
तू किसी के पाँव के नीचे तो रख थोड़ी जमीं,
तू भी नजरों में किसी की आसमां हो जाएगा।'

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि कहानी, कविता, निबंध आदि

विधाओं की सामग्रियों को समेटे यह संग्रह वस्तुत: एक सुशिक्षित मस्तिष्क की देन है और पाठक एवं लेखक के स्तर पर भी यह संग्रह सुशिक्षित प्रतिक्रिया की माँग करता है, क्योंकि इसमें समाज की विसंगति और विडंबना के उद्घाटन से पाठक के संपूर्ण संस्कारों को विचलित करने की प्रक्रिया है। रचनाकारत्रयी की रचनाओं में इकहरापन नहीं, बल्कि अभिव्यक्ति-शिल्प के अधिकाधिक उपादानों में सरसता और पैनापन है। इनकी रचनाएँ 'विचार-दृष्टि' सहित देश की प्रसिद्ध पत्र-पत्रिकाओं की शोभा बढ़ा चुकी हैं तथा समय-संदर्भ के साये में वैचारिक और जागरूक धरातल पर सदा जीवित रहने की क्षमता रखती हैं।

रचनाकारत्रयी के परिश्रम की सार्थकता इस संग्रह से उच्च स्वर में बोलती है। यदि मुक्तिबोध के शब्द उधार लेकर कहें, तो यह इन रचनाकारों की 'संकल्पधर्मी चेतना का रक्तप्लावित स्वर' है। प्राय: तीनों रचनाकारों ने बहुत खुलकर और बेबाकी से अपनी बातें कही हैं। आखिर तभी तो वीर कुँवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा के हिंदी विभागाध्यक्ष एवं आचार्य डॉ॰ दीनानाथ सिंह ने इस कृति की भूमिका - 'प्रसंगवश' में एकदम सही टिप्पणी की है - इन रचनाकारों ने साहित्य की समकालीन चेतना से अपने को जोड़कर रखा है। अस्तु, इनकी रचनाओं की प्रासंगिकता असंदिग्ध है। हिंदी साहित्य के यशस्वी साहित्यकार डॉ. सिंह ने जहाँ युगल किशोर प्रसाद के गद्य-लेखन को अधिक प्रौढ़ावस्था का आस्थावान कवि बताते हुए कहा है कि उन्हें ग़ज़ल में बहुत सिद्धि प्राप्त है। इसी प्रकार मनु सिंह की कविताओं को उन्होंने प्रेमिल भावुकता की अभिव्यक्ति कहा है।' इस दृष्टिकोण से देखा जाए तो इन रचनाकारों ने पाठक वर्ग की पहुँच का पूरा-पूरा ध्यान रखते हुए अपनी संवेदनाओं को उकेरा है, अनुभव-चिंतन को आकार दिया है। इनकी नजर और नीयत दोनों साफ है। यह इनकी ईमानदारी है। इस प्रकार गद्य और पद्य के पुष्कल-प्रसूनों को रचनाकारत्रयी ने हिंदी के चरणों में चढ़ाकर अपनी राष्ट्रभाषा-भक्ति का परिचय तो दिया ही है, अपने साहित्य-धर्म का निर्वहन कर उदयीमान रचनाकारों को प्रेरणा भी दी है।

निष्कर्षत: प्राय: तीनों रचनाकारों ने अपनी-अपनी रचनाओं में एक विशिष्ट प्रकार की सौंदर्यपरक अभिव्यक्ति प्रदान की हैं, जिनकी सार्थकता से इनकार नहीं किया जा सकता। वैसे युगल जी के दर्शन, राजभवन जी की ग़ज़ल की सिद्धता और मनु जी कि कविताओं की स्नेहिल भावुकता को जब देखने वाले की आँखों की पुतली ही न हो, दृष्टि पथरा गई हो, आधुनिक संगीत में कान बधिर हो चुके हों तो बात ही दीगर। सच पूछा जाए तो आज व्यक्ति कुण्ठित

और नगण्य हो गया है और साहित्य व्यक्ति से शुरू होकर फिर व्यक्ति पर आकर रुकता है। क्या, आज है वह व्यक्ति? और जब व्यक्ति नहीं, तो अभिव्यक्ति के क्या मानी हैं? पर मैं रचनाकारत्रयी के इस संग्रह को पढ़कर निराश नहीं हूँ, क्योंकि मेरे भीतर कहीं गहरे में कोई प्रणव झंकार गूँज रहा है।

'मयुरा' के माध्यम से इसके रचनाकारों ने लेखकों को यह भी संदेश दिया है कि साझा संस्कृति उत्पन्न कर रचनाओं के प्रकाशन की समस्या का बहुत कुछ समाधान निकाला जा सकता है।

'मयुरा' का यह प्रथम प्रयास है। यह सिलसिला जारी रहेगा। इसके रचनाकारों का भविष्य उज्ज्वल और संभावनाओं से भरा है, क्योंकि हिंदी के इन सेवकों में त्याग, सेवा-संयम और प्रमाणिकता की कमी नहीं है और इन्होंने नवनीत-मृदु हृदय पाया है। साहित्य-यात्रा का यह संग्रह अत्यंत महत्त्वपूर्ण दिशा-दर्शक दीप-स्तंभ बनेगा, इसमें कतई संदेह नहीं। रचनाकारत्रयी को मेरी हार्दिक बधाई और ढेर सारी शुभकामनाएँ। हमारा अपेक्षित सहयोग इन्हें मिलता रहेगा ताकि ऐसे संकलन से सामाजिक एवं राष्ट्रीय एकता सशक्त बन सके। इसी आश्वासन और विश्वास के साथ आपके हाथों मैं इसे सौंप रहा हूँ। हमें आपकी प्रतिक्रिया की प्रतीक्षा रहेगी।

◈◈◈

खंड-छहः स्मारिका

(अक्तूबर 1997 से सितंबर 1999)

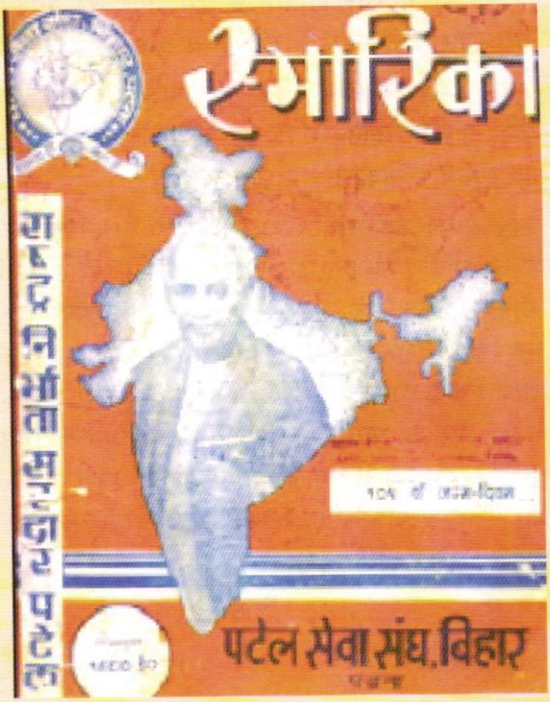

31. अक्तूबर, 1980

31 अक्तूबर, 1981

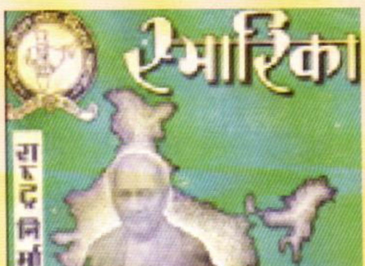

31 अक्तूबर, 1983

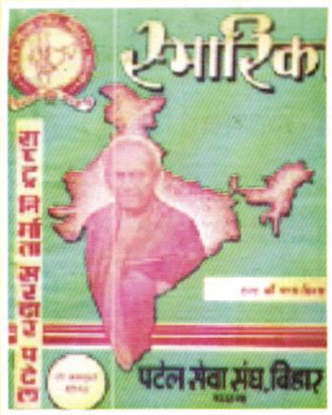

31 अक्तूबर, 1984

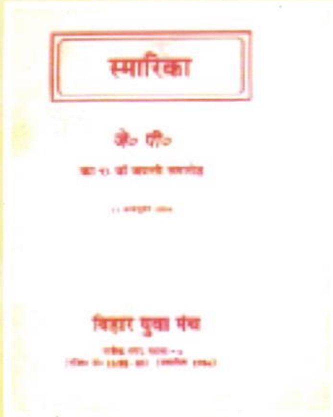

31 अक्तूबर, 1994

31 अक्तूबर, 1995

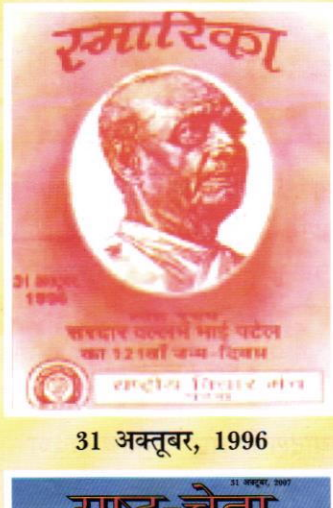

31 अक्तूबर, 1996

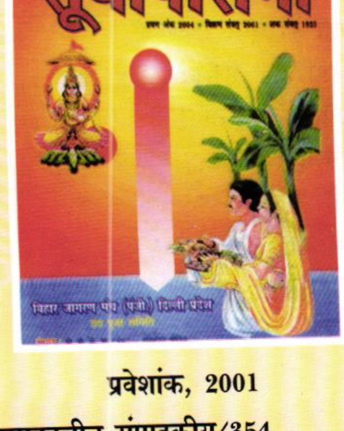

प्रवेशांक, 2001

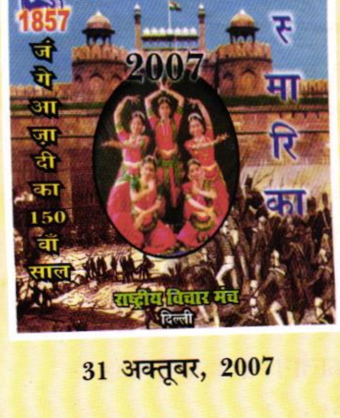

31 अक्तूबर, 2007

सरदार की जयंती और हमारी जिम्मेवारियाँ

सरदार पटेल को हम प्राय: छ: सौ देशी रिसासतों के बिखरे हुए सैंकड़ों टुकड़ों को जोड़कर एक विशाल भारत के निर्माता के रूप में वर्षों से जानते-मानते आ रहे हैं और हर वर्ष उनकी जयंती के अवसर पर उनके इस रूप के प्रति श्रद्धावनत होते हैं। साथ ही, देश में भावात्मक एकता स्थापित करने का संकल्प भी इस दिन हम दुहराते हैं। इसीलिए उनके जन्म दिवस को राष्ट्र-निर्माण-दिवस के रूप में हमने स्वीकार कर लिया है।

पर आज एक दूसरे तौर पर हमारा देश फिर टुकड़ों में बिखरने-बँटने को हो रहा है। दरारें फिर पड़नी शुरू हो गयी हैं। ये दरारें बाहर की नहीं, भीतर की हैं, जो कभी-कभी बाहर भी झांक जाया करती हैं। ये दरारें धर्म और संप्रदाय के नाम पर पड़ने लगी हैं, जिनकी ताजा मिसाल कुछ जगहों पर हाल में ही घटी दुर्घटनाएँ हैं। इन्हें हवा दे रहे हैं हमारे तथाकथित धार्मिक गुरु और मुल्ला मौलवी, जो अपने-अपने ढंग से हमें एक राष्ट्रीय इंसान बनाने की बजाय या तो पहले हमें हिंदु बनाना चाह रहे हैं, या मुसलमान। हम इंसान बनने से तो रहे, नेक हिंदु या मुसलमान भी बनने से गए और बन गए खालिस हैवान, जो हाथ में पुराण-कुराण लेकर पड़ोसियों का घर जलाने निकल पड़े हैं। अगर यही हाल रहा, तो लौह-पुरुष सरदार को एकबार फिर हमारे बीच आना पड़ेगा।

विजयादशमी और दसमाथ रावण

अभी-अभी हमारे देश में शक्ति-पूजा सोल्लास सम्पन्न हुई है और गाँधीमैदान में रावण-वध किया गया है। दशहरे की दशमी को दस सिरवाले रावण का वध पिछले कई वर्षों से किया जाता रहा है। मगर रावण है कि हर साल काटे जाने पर भी रक्त बीज बनकर उठ खड़ा होता है। इस साल सुनने में आया कि पिछले सालों की अपेक्षा वह कुछ और ऊँचा उठा हुआ था। इसी तरह वह यदि उठता गया तो एक दिन वह आसमान छू लेगा, जहाँ राम के बाण पहुँच भी नहीं पायेंगे। आसार ऐसे ही नजर आ रहे हैं। राजधानी की तो बात जाने दीजिए और उधर बजरंगबली सड़कों पर लड़कों के जुलूस के साथ पूंछ डुलाते फिर रहे हैं। जमाने का रंग देख कर तुम भी बदल गए बजरंग बली?

संसदीय तथा प्रांतीय चुनाव :

चुनावों की दृष्टि से इस वर्ष को सहज ही चुनाव वर्ष कहा जा सकता है जिसके प्रारंभिक महीने जनवरी में संसदीय चुनाव हुआ, तो मई में प्रादेशिक विधान सभाओं का चुनाव। एक सर्दी में, तो दूसरा ठेठ गर्मी में। राजनीति में सर्दी-गर्मी के खास महीने नहीं होते, पर लोग मौसम के मुताबिक सर्दी-गर्मी में पोशाक बदल ही लिया करते हैं। इसबार का संसदीय चुनाव सन् 77 के चुनाव का करारा जबाब बनकर आया। अभी भी जहाँ कहीं, दीवारों पर यह नारा लिखा हुआ मिलता है-'सत्तहत्तर की यही पुकार-दिल्ली में जनता सरकार।' इसी नारे को इस बार के चुनाव में जनता ने संशोधित कर दिया - 'सन् अस्सी की यही पुकार-दिल्ली में इंका सरकार।' बकौल एक माहिर बुजुर्ग नेता के हमारे नेता बेबकूफ हो सकते हैं, हमारी जनता बेबकूफ नहीं हो सकती। सो हमारी समझदार जनता ने कल उस नेता के माथे पर चमरौंधा चलाया, तो आज इस नेता के माथे पर। बारी-बारी से सभी अपना-अपना माथा सहला रहे हैं और अगली बार उसी जनता के हाथों से सेहरा बँधवाने के लिए तैयारियाँ भी कर रहे हैं। तब तक जनता और भी अधिक समझदार हो जाएगी। वह प्याज के छिलके पर किसी को फिसला सकती है, तो वह चीनी की चाट कर क्यों नहीं किसी को धूल चटा सकती? सिर्फ वक्त का इंतजार है।

पर इतना तय-सा लगता है कि अब चुनावों में लहरें ही आया करेंगी, जो अपने बहाव में मजबूत से मजबूत तटबंधों को भी तोड़ती-फोड़ती बहुतों को नेस्तानाबूद कर देगी, बहुतों को बेघर बना देगी। थोड़े से ही भाग्यवान बच जायेंगे-अपने खंडहरों को देख-रेखकर रोने-बिसूरने के लिए। सन् 77 की जनता लहर ने ऐसा ही किया था, सन् 80 की इंका-लहर ने भी वैसा ही किया। लहर का जवाब अब लहर ही रहेगी। 77 की लहर ने शोर मचाया था कि पिछले तीस वर्षों की हुकूमत ने देश को रसातल में पहुँचा दिया है, जिसकी मरम्मत के लिए हमें कम-से-कम तीस महीने भी तो चाहिए। पर उसके नसीब में तीस महीने भी नहीं बच थे। 80 की लहर ने जवाबी नारा उछाला कि पिछले तीस वर्षों में हमने जो कुछ भी किया था, इस हुकूमत ने 27 महीनों में ही उन सब पर पानी फेर दिया। कबीर चौराहे पर खड़ा होकर चिल्ला रहा है-अरे, इन दोउन राह न पाई।

प्रेमचंद-शताब्दी और हम :

यह संयोग ही कह लीजिए कि इस साल प्रेमचंद का शताब्दी वर्ष है, जब सारे देश में पूरे जोश-खरोश के साथ शताब्दी-समारोह मनाया जा रहा है। हमारी राजधानी के एक चौराहे पर अभी 8 अक्टूबर को उनकी एक संगमरमरी प्रतिमा भी प्रतिष्ठित की गयी और उस पथ का नाम भी प्रेमचंद-पथ रख दिया गया। इतना ही नहीं, वहाँ की एक रंगशाला का नाम भी प्रेमचंद-रंगशाला रख दिया गया है। किसी रंगशाला के साथ प्रेमचंद का नाम जोड़ देना मन को बहुत रमता नहीं, क्योंकि इसके लिए तो किसी नाटककार को याद किया जाना चाहिए था। पर ऐसा शायद उनकी 'रंगभूमि' का ख्याल कर किया गया हो, तो आश्चर्य नहीं।

बहरहाल, किसी कलाकार को इसी बहाने याद तो किया गया, यही क्या कम है? नहीं तो आज राजनीति के नक्कारखाने में कलाकार की कूची को पूछता ही कौन है? इसके लिए भी इसके आयोजकों की जितनी सराहना की जाय, थोड़ी है।

पर दूसरी ओर प्रेमचंद को लेकर उनके पथ-बँधुओं में ही कम छीना झपटी नहीं चल रही है। राजनीति की तरह साहित्य के क्षेत्र में भी कई खेमे खुले हुए हैं, जो प्रेमचंद को अपने-अपने खेमे का सिपहसालार साबित करने पर तुले हुए हैं। कहीं से उन पर दक्षिण पंथ का लेप चढ़ाया जा रहा है, तो कहीं से वाम पंथ का, कहीं से समाजवाद का, तो कहीं से गाँधीवाद का। हमें यह बूरा नहीं लगता, उल्टे, प्रसन्नता ही होती है कि उनमें सबों को अपना-अपना रंग दिखाई तो पड़ता है। सभी प्रेमचंद का 'कफन' उधार-उधार कर देख रहे हैं कि भीतर से क्या निकलता है-अलाव में आलू घुसेड़ते हुए घीसू, कि शराब का कुल्हड़ लिए हुए माधव, कि प्रसव-पीड़ा से दम तोड़ती हुई बुधिया, कि ....

हमसे पूछिए तो हमें वे दिखाई पड़ते हैं यमुना नदी के पुल पर मुंशी वंशीधर दारोगा से पं. आलोपदीन के रूप में हँसकर बातें करते हुए- 'हम सरकारी हुक्म को नहीं जानते और न सरकार को।.......... यह तो नहीं हो सकता कि इधर से जाएँ और इस घाट के देवता को भेंट न चढ़ावें।'

पटने की गंगा पर भी पुल बन रहा है, जिससे आशा बँधती है कि आज न कल, वहाँ अलोपीदीन से भेंट होकर रहेगी।

हमारे हृदय-सम्राट! यही तुम्हारी सादर भेंट हम करते हैं।

छात्र, इम्तहान और ईमानः

तक्षशिला के गुरुकुल में कभी गांधार नरेश आम्भीक ने वहाँ के आचार्य चाणक्य को डांटते हुए पूछा था- क्यों चाणक्य, तुम गुरुकुल में छात्रों को राजनीतिक कुचक्र की शिक्षा देते हो?

उत्तर में चाणक्य तो मौन था, पर उसके शिष्य सिंहरण का उत्तर कुछ और। 'नरेश' आकर कहता-आचार्य, प्रधान जी कल सवेरे पधार रहे हैं, शिष्यों की जमात लेकर हवाई अड्डे पर पहुँचा, गाड़ियाँ भेज दी जाएँगी। और हाँ, याद है न, चुनाव-नजदीक आ रहा है ....

ऐसे ही छात्रों के ईमान पर आज 'नरेश' शक कर रहे हैं। अपने ईमान का इम्तहान छात्र आज कहाँ-कहाँ दे, किस-किस रूप में दे?

आचार्य चाणक्य आज भी मौन है, बेबस है। वह किसकी सुने? 'नरेश' की या 'सिंहरण' की? उसके दोनों ओर चक्की के दो पाट हैं जिनके बीच से बच कर साबित निकल जाने में ही चाणक्यत्व है।

स्मारिका - सरदार पटेल -105 वीं जयंती-31 अक्टूबर, 1980

◈◈◈

राष्ट्र-निर्माण का संकल्प और स्वरूप

सरदार वल्लभभाई पटेल को दीर्घ काल से ही राष्ट्र निर्माता और लौह पुरुष के नाम से देशवासी संबोधित करते आ रहे हैं तथा उनके जन्म-दिवस को राष्ट्र-निर्माण के रूप में स्मरण करते हुए उनके प्रति श्रद्धांजलियाँ अर्पित करते रहे हैं। पर ऐसा लगता है कि राष्ट्र-निर्माण के संकल्प को शब्दों से हम जितना दुहरा रहे हैं, कार्यों से हम उतना ही उसे झुठला भी रहे हैं, जिसकी मिसाल आज कई छोटे-बड़े मुद्दों पर हमारी राष्ट्रीयता की भावना का बिखराव के रूप में मौजूद हैं। बिखराव के उन मुद्दों की चर्चा हमने हर साल सरदार की जयंतियों के अवसर पर की है। आज जो बिखराव का सब से ताजा घातक मुद्दा पूरे भारत राष्ट्र के सामने मुँह बा कर खड़ा हो गया है, वह खलिस्तान के नाम से एक नये देश की माँग के रूप में, जिसके कारनामों से समाचार पत्रों के पाठक पूर्णतः परिचित हैं।

अभी अभी जिस भारतीय विमान को अपहृत कर लाहौर ले जाया गया था, वह न केवल हमारी, बल्कि दुनिया की आँखों में ऊँगली डालकर यह दिखाने के लिए काफी है कि भारत की राष्ट्रीयता की भावना की दिशा में हमारी मानसिकता का रुख क्या है। शायद उस विमान-अपहरण का उद्देश्य भी यही था, जो उनकी समझ से पूरा हो गया है। इस रुख के प्रति हमारा रुख क्या हो, आज यही सोचना-समझना है।

राष्ट्र के पूर्वांचल असम की समस्या दिन प्रतिदिन विषम बनती जा रही है। दक्षिण भारत से आए दिन यह आवाज सुनने को मिलती है कि उत्तर का वर्चस्व दक्षिण पर हावी होता जा रहा है। कश्मीर के शेख के तेवर की बात तो और ही है। उन्हें समझाते और सुलझाते हुए लोकनायक तक लोक से बिदा हो गए, तो हमारी क्या बिसात?

और अब पंचनद की नदियों का पानी खौलने लगा है। विमान-अपहरण तो हमारे यहाँ एक मनोरंजक खेल-सा हो गया है। कोई क्रिकेट गेंद दिखाकर इसे उड़ा ले जाता है, तो कोई कृपाण और अमरूद पर कागज लपेट कर। देखें, अगला खिलाड़ी क्या खेल दिखाता है।

इससे भी मजे की बात तो इन खिलाड़ियों के पुरस्कार की योजना की है। ज्ञात होगा,

कुछ दिन पहले एक विमान का अपहरण कर वाराणसी ले जाने वाले पांडेय बंधु खिलाड़ियों को उतर प्रदेश की विधान सभा में सदस्यता का पद देकर सम्मानित किया जा चुका है। इस बार लाहौर ले जाने वाले खिलाड़ी को संभवत: संसद की सदस्यता से विभूषित किया जायगा, कौन जाने !

मोरवा नाचे हे, नाचे हे, पैरवे देख झमा हे।

पटेल सेवा संघ बिहार, जिसकी बहुमूल्य सेवाओं की चर्चा अब पटना नगर तक ही नहीं, अपितु बिहार के सुदूर देहातों में भी सुनी जा रही है और इस मंच से भी सुनी जा रही है, की भी बिलकुल यही स्थिति है। वह संस्था ही क्या जिसके पास बैठने के लिए अपनी जमीन न हो। पर यह हमारा दुभाग्य है कि 1975 से ही पटेल सेवा संघ के अथक प्रयास के बावजूद हमें आज भी जमीन के लिए रोना ही पड़ रहा है। न मालूम क्यों हमारे सतत् प्रयास के बावजूद भी न संघ के शुभेच्छुओं का पौरुष जाग पाया है और न सरकार के कर्णधारों के कान पर जूँ ही रेंग पायी है, फलत: संघ अपने बहुमुखी निर्दिष्ट लक्ष्यों की प्राप्ति में समर्थ नहीं हो पा रहा है।

यदि हमें सकारात्मक प्रेरणा मिल जाय तो हम पूरे आत्म-विश्वास के साथ यह घोषणा करने में सुख का अनुभव करेंगे कि उस जमीन पर भव्य इमारत बनाकर अपना वृहत् कार्यालय बना लेंगे, जिसमें बैठकर हम समाज सेवा की विभिन्न विधाओं को कार्यरूप देंगे और निश्चित रूप से अपना अगला जयंती-समारोह अपनी ही जमीन पर अपने ही मंच से और भी धूम-धाम से मनाएँगे।

पिछली सरकार से कम

आज की सरकार जहाँ कई मानों में पिछली सरकार से बहुत आगे है, वहाँ कई मानों में उससे बहुत पीछे भी हैं। कुछ मिसालें पेशे नजर हैं। आए दिन अखबारों में ऐसी-ऐसी दुर्घटनाओं, उच्छृँखलताओं तथा उत्पातों की खबरें पढ़ने को मिलती हैं, जिन्हें पढ़कर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। पर उनसे भी बढ़कर रोंगटे तब खड़े हो जाते हैं जब उनके बारे में सरकारी वक्तव्य पढ़ने को मिलते हैं।

अभी वह रेल दुर्घटना बिहार के लोगों के दिल-दिमाग से धुल-पुछ कर साफ न हो गयी होगी, कि किस प्रकार ट्रेन के सात-सात डब्बे पुल से कूद कर बागमती नदी के गर्भ में समा गए। डब्बों की इस छलांग के कारणों की खोज में तरह-तरह के तथ्य लोगों को हाथ लगे। किसी ने उसे रेल की पटरी पर

अचानक आ गए, दो बैलों को बचाने में एकाएक कसकर ड्राइवर का ब्रेक लगाना बताया, तो किसी ने पुल का पुरुष पुरातन की जर्जर बूढ़ी-सी होना बताया। पर अभी तो सरकार के लाल बुझक्कड़ वाली सूझ का आना बाकी था। वह इस रूप में आया कि उस क्षण बड़े जोर की आँधी आई थी, जो डब्बों को उड़ाकर नदी में ले गई थी। भावी पीढ़ी के बच्चे अब यह सुनकर अधिक चमत्कृत नहीं होंगे कि किस प्रकार हनुमान ही पर्वत को हथेली पर रखकर उड़ा करते थे, और भीम पेड़ उखाड़ कर राक्षसों से लड़ा करते थे। आँधी की यह डब्बा-उड़ान घटना उन्हें पूर्णतः आश्वस्त कर देंगी कि यह कोई अनहोनी बात नहीं है। हम तो प्रत्यक्षदर्शी और भुक्तभोगी ही ठहरे। इस उड़ान में जो सदा के लिए उड़ गए, उन्हें सौभाग्यशाली समझना चाहिए। क्योंकि बच गए लोगों की तरह उन्हें सरकार का यह राहत भरा बयान सुनने को तो न मिला कि पहले की अपेक्षा अब रेल दुर्घटनाएँ कम होती हैं।

इतना ही नहीं, आए दिन सरकारी बसों एवं इससे भी बढ़कर ट्रेनों के लूटे जाने की घटनाएँ सुनने को मिलती हैं, जिनसे पहले तो रोंगटे खड़े हो जाते थे, पर अब नहीं होते। कब तक खड़े होते रहें? अब तो वे रोज-मर्रे की बातें हो गई हैं। साधारण मुसाफिरों की तो बात जाने दीजिए, अभी उस दिन राजपुर पुलिस चौकी के दारोगा महेन्द्र प्रताप सिंह जब डिहरी से एक केस में गवाही देकर बस से लौट रहे थे, तो बस में ही उन्हें गोली मारकर खत्म कर दिया गया। पर यहाँ भी हम सरकारी बयानों से आश्वस्त हैं कि पिछली सरकार की अपेक्षा अभी भी बसों में लूट मार कम है।

अभी कुछ दिन पहले बिहार की राजधानी पटने की पेंदी में बसे बिक्रम थाने के सिपाहियों का सारा बल-विक्रम जाने कहाँ चला गया था कि उनके सामने ही उनके थाने के कागजात जला डाले गए और वे हाथ पर हाथ धरे तमाशा देखते रहे, कि सिर पर पाँव रखकर कहीं भाग गए, भगवान जाने। उसके एक पखवारे की भींतर ही पटने से सिर्फ दस कोस की दूरी पर बसे दूसरे थाने मसौढ़ी के थानेदारों एवं सर्किल अफसर को एक गाँव में 12 घंटों तक 12 राइफलधारी जवानों के साथ कैद रहना पड़ा। ये लहसुना के राजकिशोरी सिंह को उग्रवादियों के चंगुल से छुड़ाकर साथ लिए आ रहे थे कि स्वयं उनके चंगुल में फंस गए। बेचारे राजकिशोरी सिंह को तो ये नहीं छुड़ा सके, खुद अपनी जान छुड़ा सके, यही क्या कम था? सुनते हैं कि थानेदारों में कोई एक दारोगा वीर विक्रमादित्य भी थे। पर यह जो कुछ भी हुआ, पिछली सरकार से कम ही हुआ।

इसके दो ही दिनों के बाद जब 19 उग्रवादियों को पकड़कर पुलिस लिए आ रही थी, तो उनसे छीन लेने के प्रयास में उग्रवादियों की गुरिल्ला फौज ने नदवाँ स्टेशन को तहस–नहस कर दिया। यह भी पिछली सरकार से कम ही हुआ।

स्मारिका - सरदार पटेल की 106 वीं जयंती-31 अक्टूबर, 1981

◈◈◈

क्या कोई रास्ता दिखलाओगे सरदार?

हर साल की तरह इस साल भी हम सरदार पटेल की जयंती मना रहे हैं और आगे भी मनाते रहेंगे। हर जयंती के अवसर पर हम सरदार को याद करते हैं, उनके प्रति श्रद्धा से सिर झुकाते हैं और अपना यह विश्वास दुहराते हैं कि सरदार की जरूरत आज भी हमें है, बल्कि पहले से ज्यादा ही। सच पूछिए तो किसी की भी जयंती की सार्थकता तभी तक बनी रहती है, जबतक उसकी जरूरत हमें महसूस होती है। जरूरत नहीं रहने पर जयंतियाँ अपना महत्त्व खोने लगती हैं, और एक दिन वह महज रस्म अदाई बनकर रह जाती है। सरदार की जयंती को भी हम इसी कसौटी पर कस कर देखें कि क्या सचमुच इस की जरूरत आज भी है या हम इसकी केवल रस्म अदाई भर कर रहे हैं?

जयंतियाँ किन्हीं भावनाओं का प्रतीक बनकर हमारे सामने आती है। इसीलिए अलग-अलग व्यक्तियों की जयंतियाँ अलग-अलग भावनाओं की प्रतीक बन जाती है। सरदार की जयंती हमारे देश की अखण्डता, एक राष्ट्रीयता के प्रतीक के रूप में बद्धमूल हो गई है। इसलिए जबतक इस देश को एक राष्ट्र के रूप में अखण्ड बने रहने की आवश्यकता बनी रहेगी सरदार की जयंती तबतक हमारे लिए आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य बनी रहेगी। आज हमारे देश की इसी अखण्डता, एक राष्ट्रीयता पर प्रश्न चिह्न-सा लगने लग गया है। बड़ी तेजी से हमारे यहाँ बिखराव, अलगाव की प्रवृत्तियाँ सिर उठाने लग गई हैं जिससे सरदार की जयंती की सार्थकता पर गहराई से सोचने को हम मजबूर हो गए हैं।

देश परतंत्रता की बेड़ी तोड़कर स्वतंत्र हुआ, सरदार ने भारत के सैकड़ों छोटे-बड़े टुकड़ों में बँटे भूखण्डों को जोड़कर एक देश, एक राष्ट्र की मर्यादा में इसे बाँधा और डंके की चोट पर ऐलान किया कि जो इस देश की अखण्डता और राष्ट्रीयता को स्वीकार न कर सकें, उन्हें पूरी छूट है कि वे अपने लिए किसी दूसरे देश को तलाश कर सकते हैं। पर इस देश में रहते हुए इसके भीतर अंतरदेश, इस राष्ट्र में रहते हुए इसके अंदर अंतरराष्ट्र की बात हम हर्गिज गवारा नहीं कर सकते। इस देश के निवासी इस तथ्य को अपने गले के नीचे उतार ही लें-सीधे चाहे टेढ़े, और हमने देखा कि बहुतों ने इसे चुपचाप अपने गले के नीचे उतार लिया, दो-एक को मजबूर होकर उतारना पड़ा, पर उतारना ही पड़ा – इसे

छोड़ कर दूसरा कोई रास्ता न था। जहाँ थोड़ा सा भी रास्ता रह गया था, चाहे जिसकी बुद्धिमानी से रह गया हो, वहाँ रह रहकर अब भी विवाद उठता रहता है और कसमें खा-खाकर सफाई देनी पड़ती है कि हमें गैर न समझिए। जहाँ कसमें खाकर सच कहने की जरूरत पड़ती है, वहाँ सच संदिग्ध हो जाता है। कश्मीर इसका जीता जागता उदाहरण बन रहा है। वहाँ हाल में हुए क्रिकेट-मैच के कारनामों ने हमारे कान खोल दिए हैं कि हम कसमों पर कितना यकीन करें।

जब तक हम परतंत्र थे, स्वतंत्रता के लिए छटपटा रहे थे। और अब जब स्वतंत्र हो गए हैं 36 वर्षों से, तो स्वतंत्रता के साथ हमारा नाता भी 36 की ही तरह होता जा रहा है, 3 का मुँह अलग, तो 6 का मुँह अलग। अब हमें स्वतंत्रता से बढ़कर स्वायत्तता चाहिए और देश के भीतर अपना अलग देश, राष्ट्र की भीतर एक अलग राष्ट्र। क्योंकि इस देश में एक राष्ट्रीयता कभी रही नहीं। यहाँ हिंदू राष्ट्रीयता रही है, तो मुस्लिम राष्ट्रीयता भी। तो फिर सिख राष्ट्रीयता क्यों न रहे? और ईसाई राष्ट्रीयता भी पीछे क्यों छूटे? क्योंकि हम बात बात में यह दुहराते रहे हैं-हिंदू मुस्लिम, सिख, ईसाई। हिंदू-मुस्लिम को एक करने में हमारे संत-फकीरों का भी अंत हो गया, अब सिख ईसाईयों को एक करने की कोशिश कर रहे हैं, जिसमें हमारी कामयाबी सामने है। असम विषम हो रहा है, पंजाब सिर दर्द। हम सिर थाम कर बैठ गए हैं, क्या करें? अरब का किस्सा कहते हैं, तो कुरान भड़कता है, गुरुओं की कथा बाँचते हैं तो ग्रंथ गुर्राता है, आम से तंग आकर बबूल का पेड़ बोते हैं, तो उसमें भी खैर नहीं। हर रोज दूरदर्शन हमें दर्शन सिखा रहा है-देश पर खतरा आ रहा है, बाहर से और भीतर से भी। हमारा पड़ोसी अखाड़े में कसरत करता है और अपने पुट्ठों पर अमेरिकी तेल की मालिश करता है, तो हमारी पिल्ही चमक रही है कि हमी से लड़ने के लिए वह तैयार हो रहा है।

हमें रोज सिखाया जा रहा है कि हम एकजुट हों। इस नसीहत पर अमल करने के लिए अगर अलग-अलग दलों के लोग एकजुट होते हैं, तो उसमें भीतरी खतरा नजर आने लगता है।

हम आज चौराहे पर आ गए हैं जहाँ से हमें पता नहीं चल पा रहा है कि हम कौन-सा रास्ता पकड़ें। क्या कोई रास्ता दिखलाओगे सरदार?

स्मारिका-सरदार पटेल की 108 वीं जयंती-31 अक्टूबर, 1983

◈◈◈

महापुरुषों की जयंतियाँ

महापुरुषों की जयंतियाँ विशिष्ट भावनाओं की प्रतीक बन जाती हैं, जिनका स्मरण कर हम अपने में उन भावनाओं का समावेश करते हैं तथा अपने आचरण को उनके अनुरूप ढालने का प्रयत्न करते हैं। पौराणिक देवी-देवताओं का स्मरण भी हम इन्हीं रूपों में करते हैं। महात्मा गाँधी का जन्म-दिवस आज हरिजन दिवस बन गया है, जब हम अछूतों को गले लगाने का संकल्प करते हैं। पूर्व राष्ट्रपति राधाकृष्णन का जन्म दिवस शिक्षक दिवस के रूप में ढल गया है। सरदार वल्लभ भाई पटेल का जन्म दिवस राष्ट्र निर्माण दिवस के रूप में सारा देश मनाता है। इधर कुछ वर्षों से किसान दिवस के रूप में भी इसे आयोजित करने की शुरुआत हो गई है जिसका श्रेय चौधरी चरण सिंह को है, क्योंकि सरदार किसानों की समस्या से बड़े घने रूप से जुड़े हुए थे और चौधरी जी तो किसानों के अलंबदार हैं ही। इस प्रकार सरदार और इन अलंबरदार दोनों का जुड़ाव किसानों के लिए असरदार बन जाता है। पर सामान्य जन सरदार को राष्ट्र की एकजुटता की साकार प्रतिमा ही मानता है और इसी रूप में वह सरदार पटेल की जयंती पर एक राष्ट्र-निर्माण का संकल्प दुहराता है। भारत एक राष्ट्र है, एक देश है, इसके भीतर कोई अंतरराष्ट्र बने, कोई अंतरदेश पनपे, यह सरदार-विरोधी भावना है। सभी जानते हैं कि इसे सरदार ने अपने जीवन में कभी भी पनपने नहीं दिया। राष्ट्र विरोधी भावना को जरा भी सिर उठाते देखा कि उसे बड़ी निर्ममता से कुचल दिया। वल्लभभाई पटेल ने किसान आंदोलन का सफल संचालन किया, तब गाँधी जी ने उन्हें सरदार कहकर पुकारा था। देशविरोधियों एवं राष्ट्र-विरोधियों के साथ निर्ममता से वे पेश आए, तब सारे देश ने उन्हें लौह पुरुष, कहकर पुकारा। जब तक वह लोहा तपता रहा, तब तक देश व राष्ट्र भी एक रहा, पड़ोसियों को हमारी तरफ आँख उठाकर देखने की भी हिम्मत नहीं होती थी। पर जब वह लोहा ठंढ़ा पड़ गया, तब से हम देख रहे हैं कि किस तरह इस देश के भीतर अंतरदेश बनाने की भावना सिर उठाने लगी है एक राष्ट्र की कल्पना को ताक पर रखकर अलग-अलग राष्ट्र होने की घोषनाएँ की जाने लगी हैं, पड़ोसी जिसका नाजायज फायदा उठाकर हम पर आँखें तरेरने लग गए हैं। हमारे प्रधान चिल्ला रहे हैं कि देश पर भीतर और बाहर से खतरे के बादल मंडरा रहे हैं,

देशवासियों को एक जुट हो जाना चाहिए। खतरे के समय वह लौह पुरुष चीखता-चिल्लाता नहीं था। वह एक दिन सबेरे कार्यवाही ही कर देता था। इतिहास उसका गवाह है।

आज हमारे देश में कम सरदार नहीं हैं और इनकी सरदारी की कारगुजारियों को भी हम कम नहीं देख-सुन रहे हैं। इन्हें देखकर हमें आज उस सरदार की याद बड़ी तीव्रता से आ रही है, जिसके माथे पर सरदारी पगड़ी तो नहीं बँधी थी, फिर भी लाखों लाख पगड़ियाँ जिसके सामने झुक जाती थीं मत्थे टेक देती थी:-

जो झुके नहीं थे सदियों से, वे मुकुट, माथ
झुक गए तुम्हारे अभिनंदन में जुड़े हाथ।

सरदार, आज हम भी तुम्हारे अभिनंदन में झुकते हैं, मत्थे टेकते हैं।

स्मारिका-सरदार पटेल की 109 वीं जयंती-31 अक्टूबर, 1984

◈◈◈

जे.पी. के सपनों की तलाश

किसी भी विषय का एक दौर होता है जो ज्यादा दिन तक नहीं चल सकता। यों तो पूरे देश के पैमाने पर और खासकर बिहार में आज जिस तरह यहाँ के राजनीतिक दल और इसकी मूलभूत समस्याओं की उपेक्षा कर रहे हैं और धार्मिक कट्टरता को प्रश्रय दे रहे हैं उससे इस राज्य को सोमालिया बनने में सचमुच ज्यादा समय नहीं लगेगा।

बहुत हुआ। गाँव के खेत-खलिहान से लेकर शहर की चाय की दूकान तक बहुत चर्चा हुई, हमने बाते बनाई, किंतु बातें बनाने से बेहतर है कुछ कर दिखाना और इस दिशा में काम शुरु हो गया है। अब सरकार के कार्यों का मूल्याँकन बहुत हो चुका, सुधार की बातें बहुत हो चुकीं। हम नहीं सुधरेंगे, संभवत: ऐसा सोच लिया गया है। ऐसी स्थिति में आप के समक्ष और कौन सा उपाय बच गया है सिवाय इसके कि एक नई सुबह की तलाश करें।

आज बिहार को सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक अराजकता का सामना करना पड़ रहा है इसलिए पूरे तन-मन से जे.पी. के सपने को साकार करने हेतु एक जुट होना होगा, क्योंकि अधूरे मन से किए गए प्रयास कारगर नहीं होंगे। यह समय कड़े कदम उठाने का है और ऐसा न किया गया तो राज्य उस गर्त में जा डूबेगा जहाँ से उबारना फिर मुश्किल हो जाएगा। बिहार की अस्मिता खतरे में पड़ जायेगी फिर इसकी पहचान के लिए बहुत जद्दोजहद करना होगा।

नाराजगी अब तेजी से बढ़ने लगी है। इसलिए हमें अपने भविष्य के बारे में फैसले शीघ्र ही करने होंगे। अब लड़ाई हर स्तर पर लड़नी होगी। जन-आकांक्षाओं के अनुरुप ही हमलोगों को आंदोलन करने होंगे तथा चुनावी लड़ाई के लिए उसी के अनुरुप अपनी ताकत बनानी होगी, क्योंकि सत्ता के हुकुमरानों ने यहाँ के लोगों की भावनाओं से खेलने के सिवा कुछ नहीं किया। तो आइए जे.पी. के सपनों की तलाश करें।

संपूर्ण क्रांति के मसीहा जिस जय प्रकाश के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर चंबल घाटी के चार-पाँच सौ बागियों ने अपनी बंदूकें फेंक स्वेच्छा से आत्मसमर्पण कर दिया था, उसी जे.पी. के पदचिन्हों पर चलने का संकल्प लेने वाले सत्ताधारियों के सामने ही डकैती, हत्या, अपहरण, अत्याचार, भ्रष्टाचार तथा

बलात्कार का तांडव नृत्य हो रहा है और वे तथाकथित सामाजिक न्याय के घरौंदे में बैठे चैन की वंशी बजा रहे हैं।

1972 के आम चुनाव के बाद ही देश की राजनीति में भ्रष्टाचार के जिस नंगे नाच की तस्वीर राष्ट्रीय मंच पर देखने को मिली उससे लोकनायक न केवल क्षुब्ध हो उठे, बल्कि उनका दिल रो पड़ा। तभी तो उन्होंने समाज की घुटन, पीड़ा और संत्रास को चुनौती देकर 1974 में संपूर्ण क्रांति का नारा दिया। जिसके अंतर्गत समाज और राजनीति में व्याप्त भ्रष्टाचार के उन्मूलन का दृढ़ संकल्प अभिव्यक्त किया गया था। उनकी मान्यता थी –"हिंसा, बेईमानी, भ्रष्टाचार आदि समाज के फोड़े हैं, समाज की आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था में अनेक गलत मूल्य हैं। मूल्य बदले बिना समस्याओं का समाधान नहीं होगा। हमें संपूर्ण व्यवस्था को बदलने का प्रयास करना होगा।" किंतु केंद्र में बनी जनता पार्टी के घटकों के कलह और विवाद से उन्हें गहरा आघात पहुँचा। आज संपूर्ण क्रांति का वह मसाल जिसे लेकर हमें आगे बढ़ना है उस लकीर पर जिसे उन्होंने अपने त्याग, लगन और साधनामय जीवन में खीच रखी है। ऐसे वक्त शायर की निम्न पंक्तियाँ हमें याद आती हैं –

"हजारों साल नरगिस अपनी बेनूरी पे रोती है, बड़ी मुश्किल से होता है चमन में दिदावर पैदा।"

जे.पी. की 93 वीं जयंती स्मारिका-11 अक्टूबर, 1994

◈◈◈

सरदार पटेल की प्रासंगिकता

आज हमारे देश में सरदार पटेल की प्रासंगिकता इसलिए बढ़ गयी है कि भौतिकवादी दुनिया में जहाँ नैतिक संकट है, हमारे देश में देश-भक्ति की भावना का तेजी से ह्रास हो रहा है। जाति, धर्म, भाषा तथा क्षेत्रीयता के नाम पर हम एक दूसरे से दूर होते चले जा रहे हैं। अलगाववाद और आतंकवाद से हमारी नींद हराम हो गई है और हमारी राष्ट्रीय एकता ओर अखण्डता पर एक भीषण खतरा भी मंडरा रहा है। वैसी स्थिति में लौह पुरुष की दृढ़ता, उसका अदम्य साहस, उसके विचार तथा अप्रतिम व्यक्तित्व से प्रेरणा प्राप्त कर देश को टूटने से बचाया जा सकता है।

सरदार पटेल छिन्न-भिन्न भारतीय योजना को जोड़ना चाहते थे। वे ऐसे भारत का स्वप्न देखते थे जिसमें गरीब से गरीब भी इस बात का अनुभव कर सके कि यह देश उसका है और जिसके निर्माण में उसका भी हाथ है। उनकी इच्छा थी कि भारत में उच्च वर्ग या निम्न वर्ग के लोग न हों और जिसमें सभी जन-संप्रदाय पूर्ण सामंजस्य के साथ रह सकें। इस प्रकार वे चाहते थे कि भारतीय राष्ट्र में एकरूपता और एकता हो, सभी संस्कृतियों के लिए पूर्ण स्वतंत्रता हो और जाति, संप्रदाय, वर्ग या स्त्री-पुरुष के आधार पर कोई भेदभाव ने किया जाय। पर आज जाति संघर्ष की आधार भूमि तैयार हो रही है। हिंसा आज बलवती हो गयी है। यह सच है कि भविष्य में वही समाज, संस्कृति और देश जीवित रह सकेगा, जहाँ आपसी एकता, निष्ठा, प्रेम तथा देश भक्ति की भावना लोगों में रहेगी। इसीलिए सरदार पटेल के विचार आज ज्यादा प्रासंगिक हैं, परंतु आज उनके विचारों से विमुख होते चले जा रहे हैं।

लौह पुरुष ने भारत के लिए वही किया जो लिंकन ने अमेरिका के लिए किया था, बिस्मार्क ने जर्मनी के लिए और गैरीबाल्डी ने इटली के लिए। बल्कि सच कहा जाए तो सरदार ने जिन छोटे बड़े 562 देश रियासतों को मात्र सात-आठ दिनों में भारत में मिलाकर अखण्ड भारत का निर्माण किया, बिस्मार्क ने सात-आठ वर्षों में श्लेसविंग और टाल्सटाइटलन को आस्ट्रिया तथा फ्रांस से युद्ध में जीत कर जर्मनी को एकीकरण किया था। इस प्रकार सरदार पटेल के कार्य अधिक कठिन और जटिल थे, किंतु इसके साथ देश के समक्ष आई अनेक चुनौतियों का सामना अपने अदम्य साहस, दृढ़ता, दूरदर्शिता तथा शौर्य के बल

पर किया जिसके लिए वे भारतीय इतिहास में स्वर्णांकित हो गए।

स्वतंत्रता-संग्राम के एक परम दृढ़ नायक, दुर्दमनीय महासेनानी, परम नैष्ठिक देशभक्त तथा दूरदर्शी राजपुरुष वल्लभभाई पटेल की आँखों में राष्ट्र की गौरवमय, आलोकमय और तेजस्वी भविष्य का चित्र स्थापित था। अनेक सदियों तक उनका उदाहरण इस राष्ट्र के लोगों में तेज, वीरता, शौर्य, साहस, अध्यवसाय, त्याग और निरंतर राष्ट्र सेवा का भाव भरता रहेगा।

माउन्टबेटन के अनुसार सरदार के पाँव धरती से जुड़े थे जबकि नेहरू के पाँव आकाश में विचरण करते थे। वे कर्म पर निछावर व्यक्ति थे, कागज-कलम पर नहीं। उनका जीवन-दर्शन इन्हीं शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है 'इतिहास लिखने में वक्त बर्बाद करने की बजाय क्यों नहीं इतिहास का निर्माण किया जाय।'

सरदार पटेल की सुपुत्री कुमारी मणिवेन पटेल के अनुसार सरदार को आराम-पसंद राजनीतिज्ञों से बड़ी नफरत रहती थी। वे किसी की धमकी वा प्रलोभन के आगे झुकने वाले नहीं थे। उन्हें किसी चीज के खो देने का तनिक भय नहीं था। उनमें किसी पद की आकांक्षा भी नहीं थी। एक बार यरवदा जेल में गाँधी जी ने मजाक में सरदार से पूछा कि आप आजादी हासिल हो जाने के बाद कौन सा पद लेंगे? सरदार ने जवाब दिया कि मैं एक साधु बन जाऊँगा। सरदार के इन विचारों के परिप्रेक्ष्य में आज की स्थिति काफी भयावह और दयनीय नजर आती है। देश के बारे में सोचने की बजाय आज हर आदमी एक दूसरे के खून का प्यासा बन गया है। ऐसी स्थिति में मुझे ये पंक्तियाँ याद आती हैं –

"आदमी में जहर इतना भर गया है,
कि विषधरों का वंश भी अब डर गया है।
कल कहोगे सड़क पर मरा कोई विषधर,
आदमी के काटने से मर गया है।"

यह एक अच्छी परंपरा बन रही है कि हमारे महापुरुषों की जयंतियाँ केवल उनके व्यक्तिगत जीवन को ही आधार बनाकर नहीं मनाई जातीं, बल्कि उनके माध्यम से किसी सार्वजनिक भावना का प्रचार-प्रसार तथा प्रोत्साहन किया जाता है। इस संदर्भ में सरदार पटेल के 120वें जन्म-दिवस का यह आयोजन आज 'राष्ट्रीय एकता- पर्व' के रूप में मनाया जाना अत्यंत प्रासंगिक है। भारत के स्वर्णिम विहान की कल्पना को साकार करने के लिए कृतसंकल्प अविश्रांत राष्ट्रकर्मी और परम नैष्ठिक देशभक्त सरदार पटेल ने भारतीय जन-मन के लिए

एक ऐसी स्मृति छोड़ रखी है जो कमरों में टंगे चित्रों तथा चौराहों पर खड़ी मूर्तियों की अपेक्षा कहीं अधिक स्थायी हैं, क्योंकि वे कुछ ही दिनों में फीके पड़ जाते हैं। सरदार पटेल के गुजर जाने के चार दशक से भी अधिक बीत जाने के बाद वे अपने देशवासियों के दिलों में जीवित हैं, जो उन्हें हर मोड़ पर और हर मुसीबत की घड़ी में हमेशा याद करते हैं। उनकी स्मृति को कोटि-कोटि प्रणाम।

स्मारिका-सरदार पटेल की 120 वीं जयंती-31 अक्टूबर, 1995

◈◈◈

सरदार के सपनों के भारत का आज खास्ताहाल

भारत में आज जिस प्रकार घोटाले पर घोटाले होते जा रहे हैं और सार्वजनिक जीवन से जुड़े लोगों पर जिस प्रकार लगातार ऊँगलियाँ उठ रही हैं, उसपर यह चिंता होना स्वाभाविक है कि सरदार पटेल ने भारत के बारे में जो सपना संजोया था, उसका क्या होगा? पिछले एक वर्ष में उद्घाटित विभिन्न घोटालों ने प्रशासनिक सच्चरित्रता तथा इसकी प्रतिबद्धता के विरूद्ध एक सवालिया निशान खड़ा कर दिया है। हवाला से लेकर लखूभाई पाठक प्रकरण तथा दूरसंचार की अनियमितताओं से जुड़े सुखराम के कांड तक सर्वत्र 'घोटाला संस्कृति' पल्लवित हुई है। और तो और भारत के शीर्ष पद पर आसीन पूर्व प्रधानमंत्री पी.वी. नरसिंह राव जैसे महापुरुष जब शुद्ध रूप से ठगी, धोखाधड़ी और चार सौ बीसी के मामलों में बुरी तरह फँस सकते हैं तो ऐसे नेताओं की स्वार्थसिद्धि और उनके भ्रष्ट आचरण से पटेल के सपनों के इस देश का पतन के गर्त में डूबने की मात्र कल्पना की जा सकती है। क्या पटेल ने इसी दिन के लिए अपनी इच्छाशक्ति को वास्तविक कर्म का रूप देकर निष्काम कर्मयोगी की तरह अखण्ड भारत के निर्माण में अपनी अद्‌भूत सुझबूझ का परिचय दिया? आज के स्वार्थी एवं सत्तालोलूप नेताओं में बढ़ती मूल्य-हीनता तथा समाज में तेजी से खत्म हो रही संवेदनशीलता एवं विचार की दरिद्रता के इस दौर में सचमुच यहाँ एक सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक संकट का सबसे ज्यादा अहसास हो रहा है। आज स्थिति यह हो गयी है कि राजनीतिज्ञों के बारे में चालू, चालाक, चोर, झूठे, चारसौबीस, बेईमान, धोखेबाज और कुर्सी चिपकू जैसे शब्दों का इस्तेमाल हो रहा है, क्योंकि पहले की तरह राजनीतिक दलों के नेता समाज तथा देश के हित की बात न सोचकर अपने आप में केंद्रीत हो गए हैं। आज की राजनीति हो गयी है। सामूहिक सरोकारों की बात अब बेमानी लगने लगी है। अवांछित तत्त्वों की सक्रियता से आम जनता पीस रही है। आज के तिकड़म की राजनीति में आतंकवाद, उग्रवाद तथा अपराधी तत्त्व को संरक्षण और संवर्धन मिलता है। और तिकड़मी राजनीति व्यक्ति, समाज तथा देश के लिए घातक तब होती है जब राजनीति लोकाभिमूखी न होकर सत्ताभिमुखी हो जाती है। ऐसी राजनीति में सामाजिक तथा सांस्कृतिक मूल्यों के लिए प्रतिबद्धता खत्म हो जाती है और वह फिर जाति और धर्म से परिचालित होती है जो आज देखने को मिल

रहा है। तिकड़मी राजनीति का ही परिणाम है कि आज देश में मजहब, भाषा, जाति तथा क्षेत्रीयता के भेद-भाव बढ़े हैं और इन भेदों के मजबूत होने के कारण ही पनपा है आतंकवाद और उग्रवाद जो सरदार पटेल के विराट व्यक्तित्व के समक्ष गौण था।

राजनीतिक दलों के ऐसे नेताओं की स्वार्थसिद्धि और उनके भ्रष्ट आचरण से पटेल के सपनों का यह देश पतन की स्थितियों में पहुँच गया है। भ्रष्टाचार की व्यापकता ने चारों ओर निरूपाय होने का भाव उत्पन्न किया है। निराशा का यह भाव इतना गहरा है कि उससे उबरने का कारगर कदम कठिन जान पड़ रहा है, क्योंकि भ्रष्टाचार के विरूद्ध कठिन संघर्ष के लिए देश के लाखों लोगों को खड़ा करने के अभियान के लिए कोई आगे नहीं आ रहा है। इसका एक मात्र कारण यही है कि सभी राजनीतिक दल इस भ्रष्टाचार के घेरे में आ गयी हैं। जनअभियान के लिए प्रेरित करने वाला भाव कहीं नहीं दीखता। दूसरी बात यह है कि एक राजनीतिक दल दूसरे दल को भ्रष्टाचार से लगे आरोपों से बचाने का प्रयास कर रहा है। सच तो यह है कि राजनीति एक सामुहिक प्रक्रिया है जिसमें अपना स्वार्थ तभी सधता है जब अपने सहयोगगियों के स्वार्थों का भी उचित ध्यान रखा जाय। इसी सिद्धांत के तहत सभी राजनीतिक पार्टियाँ अपना आचरण कर रही हैं। सत्ता प्राप्त करने तथा कुर्सी की रक्षा करने के लिए प्राय: सभी पार्टियाँ जायज-नाजायज सभी तरह के हथकंडे अपना रही है।

इसलिए देश की जनता के सामने सबसे बड़ा सवाल सार्वजनिक जीवन में निरंतर लग रहे घुन से उबरने का है। ऐसी स्थिति में जनता की जागरूकता तथा बुद्धिजीवियों का सक्रिय योगदान अत्यंत आवश्यक है। यदि समय रहते इस समस्या का समाधान नहीं किया गया तो भारत का शासन तंत्र अपराधियों के चँगुल में जाने से कोई रोक नहीं सकता और तब वर्तमान की तरह भविष्य भी गर्त में डूब जाएगा। आज के जुल्म व सितम को देखकर किसी शायर ने अपने भावों को यों व्यक्त किया है -

''जब जुल्म का सैलाब रवां होता है
जब कोई गरीब नहा सवां होता है।
मजलूम की गरदन पे छुरी चलती है जब
या रब उस वक्त तू कहाँ होता है।''

सबसे अधिक त्रासद स्थिति यह है कि आज हमारा समाज इतने टुकड़ों में बँट गया है कि एक संपूर्ण राष्ट्र की कल्पना करना भी व्यर्थ प्रतीत होने लगा

है। हम शायद यह भूलते जा रहे हैं कि स्वस्थ समाज के बिना एक समृद्ध व अखण्ड राष्ट्र का निर्माण जो सरदार पटेल का सपना था, कतई संभव नहीं दिखता। अतएव आज जरूरत इस बात की है कि लौह पुरुष सरदार वल्लभभाई पटेल के विचारों एवं आदर्शों के अनुरूप स्वस्थ समाज के साथ-साथ राष्ट्रीयता की भावना को सर्वोपरि महत्त्व दिया जाय जिसका सर्वथा अभाव आज हो गया है। पूरा भारतीय समाज स्वेच्छाचारी, निरंकुश प्रजातंत्र की डगर पर खड़ा है। इसलिए ऐसी विकट स्थिति से उबरने के लिए समाज के गणमान्य व्यक्तियों, गैरसरकारी समूहों, स्वैच्छिक संगठनों से जुड़े लोगों की यह जिम्मेदारी बनती है कि राजनीति के विभिन्न मुद्दों पर जन-आंदोलन व संघर्ष के लिए वे अपने को तैयार करें और केंद्रीकृत सत्ता की कारगुजारियों और उसका अनुगमन करने वाली सारी प्रवृत्तियों पर प्रहार करने के लिए आगे आएँ। तभी राष्ट्रीय चेतना जागृत की जा सकती है, तभी सरदार पटेल का सपना पूरा होगा तथा उनकी जयंती मनाने का अर्थ सिद्ध होगा।

स्मारिका - सरदार पटेल की 121 वीं जयंती - 31 अक्टूबर, 1996

◈◈◈

पर्व-त्योहारों का कल्याणभाव ही भारतीय संस्कृति का मूलाधार

भारत अध्यात्म प्रधान देश है। यहाँ की संस्कृति में अध्यात्मिकता विद्यमान है। संस्कृति राष्ट्र की आत्मा होती है। इसी से राष्ट्र मूल्यों का बोध होता है। ऋषियों ने सांस्कृतिक आधार को अपनाकर एकता को और सुदृढ़ किया, क्योंकि राजनीतिक सत्ता तो बदलती रहती है पर सांस्कृतिक एकता स्थिर, स्थाई और विकासशील होती है।

राष्ट्रीय एकता के रूप में कोई भी कारक तभी अधिक सक्षम हो सकता है जब वह राष्ट्र की संस्कृति के साथ निकट से जुड़ा हो। पर्व-त्योहार भी इस क्षेत्र में तभी कारक हो सकता है जब उसमें राष्ट्रीय संस्कृति प्रतिबिंबित हो। दरअसल संस्कृति मानवीय संवदेनाओं और संचेतनाओं का अलिखित जीवंत इतिहास है। यह लोक-जीवन का दर्पण ही नहीं, दर्पण में दिखाई देने वाला प्रतिबिंब भी है। सामान्य मनुष्य के सुख-दुख, राग-विराग, प्रेम-घृणा, जीत-हार, संयोग-वियोग आदि के जीते-जागते, नाचते-गाते चित्र संस्कृति में दृष्टिगोचर होते हैं। धर्म, जाति, वर्ण, वर्ग और स्त्री-पुरुषों के असमान रेगिस्तान में संस्कृति एक लहलहाता नखलिस्तान है, जो सदियों से समय के सार्थवाह को सुखद विश्राम प्रदान करता आ रहा है। समस्त राष्ट्र की एकता के बीज यदि कहीं छिपे पड़े हैं, तो वह संस्कृति की सोंधी-सोंधी माटी है, जहाँ प्रेम और पीड़ा के गंगा-यमुनी अश्रुप्रवाह का संस्पर्श पाकर वे अंकुरित ही नहीं होते, बल्कि पल्लवित, पुष्पित होकर पुन: बीज के रूप में संपूर्ण राष्ट्र में फैल जाते हैं। लोक संस्कृति में जन-साधारण का हृदय बोलता है। हमारे यहाँ 'संस्कृति' शब्द लोकवाचक है। संस्कृति को सुरुचि एवं परिष्कृत कृति का पर्याय माना गया है। जहाँ वह श्रेष्ठ विचारों एवं कर्मो का समुच्चय तथा संस्कारों का समन्वय कहलाती है, वहीं वह भौगोलिक खंड से जुड़ी होने के कारण संवेदनाओं एवं संचतेनाओं की स्वाभाविक प्रस्तुति और भावों की अभिव्यक्ति बन जाती है।

भारतीय संस्कृति का मूल भाव वह आस्तिक संचेतना है जिससे हम मनुष्य को मनुष्य होने को परिभाषित करते हैं। यह संचेतना इस आस्था से उपजी है कि मनुष्य मूलत: दैवी संपदा का प्राणी है और उसकी आत्मा का स्वरूप सत्‌चित्‌ है। भारतीय संस्कृति में मनीषियों द्वारा अपने आदि ग्रंथों-वेदों में देवों की

स्तुति की ऋचाएँ प्रस्तुत की गई हैं। इंद्र की दृष्टि और कृषि के अराध्य देव के अतिरिक्त राजा की शक्तियों से समाहित राष्ट्र-पुरुष के रूप में प्रस्तुत हुई है। अन्य देवों यथा वरुण अग्नि और वायु की पराशक्तियों का जयगान भी इसी सर्वसमर्थ-सर्व-शक्तिमान रूप को ही व्याख्याति करता है। यही प्रागैतिहासिक राष्ट्र भाव भारत की सांस्कृतिक संचेतना बनकर उसके पर्वों-त्योहारों एवं पूजा उत्सवों में अवतरित हुआ। सूर्य-उपासना में संपन्न छठ पर्व भी इसी की एक कड़ी है।

जब हम भारतीय पर्व-त्योहारों और उपासना-उत्सवों का सूक्ष्म-विश्लेषण विवेचन करते हैं, तो हम पाते हैं कि उनके मूल में किसी न किसी राष्ट्रीय अस्मिता को ही अंतत: परिभाषित और रेखांकित किया गया है। इस दृष्टि से छठ का त्योहार अतिमहत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यही राष्ट्रीय संचेतना छठ-पर्व की पूजा-प्रक्रियाओं और धार्मिक अनुष्ठानों में भी अभिव्यक्ति पाती है। उसके हर अनुष्ठान में इसी राष्ट्रीय संचेतना को रूपाकर करती दैवी संपदा का आवाह्न मंत्रोचार में यथा छठ-गीतों व भजनों द्वारा किया जाता है। सबसे पहले नवग्रह मंडल में फल, मिठाई, ठेकुआ, फिर क्षिति-जल-पावक-गगन-समीरा। पंचमहाभूतों का समुच्चय रूप पृथ्वीमंडल और इन पंचमहाभूतों से सर्जित संपूर्ण प्राणि-दृष्टि का आवाह्न कर उनकी उपासना से ही किसी भी पूजा-क्रिया का आरंभ होता है। हमारी राष्ट्रीय अस्मिता की प्रतीकात्मक रूप में दैहिक अनुभूति इन्हीं आवाह्न मंत्रों, गीतों व भजनों के माध्यम से होती है। इस प्रकार इन पर्व-त्योहारों के जरिए व्यक्ति के संस्कार के साथ-साथ हम समाज का, राष्ट्र का, पूरी मानव जाति और अंतत: संपूर्ण प्राणी जगत तथा सृष्टि मात्र का विकास करते हैं और संपूर्ण सृष्टि के इसी कल्याण भाव से उपजा व्यक्ति एवं राष्ट्रभाव ही भारतीय संस्कृति का मूलाधार है।

जहाँ तक सूर्योपासना का सवाल है सूरज सृष्टि का शक्ति प्रणेता और रक्षक है। शास्त्रों में कहा गया है – 'सविता सर्वस्व प्रसविता' यानी सूर्य ही सृष्टि का रक्षक है। वसुंधरा की हरितिमा में सूर्य की ही तेजस्विता होती है। सूर्य ही सृष्टि में ऊर्जा का अपरिमित स्रोत है। सूर्य के बिना धरती पर जीवन की कल्पना ही नहीं की जा सकती है। वेद वाक्य है – 'न सूर्यस्य संदृशे मा युगोथा:' (ऋग्वेद 2/33/1) अर्थात् जीवन दाता सूर्य से कभी भी हमारा वियोग न हो, सूर्य हमारे बीच ही रहें। इसीलिए छठ पर्व के अवसर पर सूर्योदय और सूर्यास्त के समय सूर्य की पूजा-अर्चना की जाती है। सूर्य के स्तवन से श्रेयस संस्कार ही

नहीं, शौर्य एवं साहस भी मिलते हैं।

वस्तुत: धर्म और संस्कृति राष्ट्रीय जीवन की मूल भित्ति है, उसका प्राण है। जिस प्रकार मछली पानी में अपनी शक्ति से तैरती है, पानी की भूमिका उसके तैरने की क्रिया में एक सहायक की है, उसी प्रकार व्यक्ति के उत्कर्ष और उन्नति की प्रक्रिया में धर्म एवं संस्कृति की भूमिका एक सहायक की होती है। किंतु चिंता का विषय यह है कि आज धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र में पूजा-पाठ, प्रतिष्ठा-समारोह, भोज-भंडारा, भक्तों की भीड़ और संतों के प्रवचन आदि के जो प्रसंग सामने दिख रहे हैं उनमें आत्म प्रदर्शन का भाव अधिक रहता है। धर्म के उपदेशक धर्म स्थानों में अपरिग्रह का उपदेश तो वे देते हैं, पर स्वयं प्रतिष्ठा पाने की महत्त्वाकांक्षा के परिग्रह से वे मुक्त नहीं हो पाते। सच तो यह है कि व्यक्ति के आचार-व्यवहार, संस्कार, राग-द्वेष और संशय से रहित उसके द्वारा स्वीकृत लोकहित ही धर्म है, जिसे व्यक्ति अक्सर भूल जाता है।

भारत में सांस्कृतिक और धार्मिक विरासत के प्रति चेतना बहुत प्राचीन है। वैदिक ऋषि कहते हैं – 'ण्यं राष्ट्रे जागृतामपरोहितां' अर्थात् परोहित यानी राष्ट्र को आगे बढ़ाने वाले चिंतनशील व्यक्ति सदैव जागरूक रहें। भारत की बहुसांस्कृतिक विरासत में यहाँ के ऋषि मानस ने इस विविधता में मौलिक तत्त्व की खोज की, क्योंकि विभिन्नता के भीतर एकता की भावना निहित है। भारतीय चिंतक मानते हैं कि सृष्टि में कुछ ऐसा भी है, जो देश और काल की परिधि से परे हैं। यही मूल चेतना सर्वज्ञ, सर्वव्यापी तथा सर्वशक्तिमान है। भारतीय संस्कृति इसी निःस्सीम, शाश्वत के साथ एकाकार हो जाने को जीवन का चरम सक्षम मानती है। अध्यात्म की सुदीर्घ परंपरावाले देश भारत को इसी ने एकता का आधार प्रदान किया है। आत्मवत सर्वभूतेषू, 'वसुधव कुटुंबकम्' तथा 'एकात्म मानव दर्शन का चिंतन इसी का तार्किक परिणाम है।

बिहार जागरण मंच, दिल्ली के आयोजकों सहित सूर्योपासना के द्वय संपादक प्रो. पी.के. झा 'प्रेम' तथा रविशंकर श्रोत्रिय के प्रति हम आभारी हैं जिन्होंने पवित्र पर्व छठ के शुभ अवसर पर प्रकाशित स्मारिका के अतिथि संपादक का दायित्व सौंपकर मुझे गौरवान्वित किया।

'सूर्योपासना' – प्रवेशांक – 2004, बिहार जागरण मंच, दिल्ली

◈◈◈

राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना जागृत करने का माध्यम है संगीत

संस्कृति राष्ट्र की आत्मा होती है। इसी से राष्ट्रीय मूल्यों का बोध होता है। भारत अध्यात्म प्रधान देश है। यहाँ की संस्कृति में अध्यात्मिकता विद्यमान है। यहाँ का संगीत भी अध्यात्म से जुड़ा है। संगीत में लौकिक और पारलौकिक दोनों ही प्रकार की अनुभूति है। संस्कृत साहित्य इस तथ्य का प्रतिपादन करता है कि 'नादाधिनामिदं जगत्' नाद को ब्रह्म माना गया। उपनिषद् के अनुसार राष्ट्र और ध्वनि का सार 'ऊँ' है। स्वामी शिवानंद ने इसे आत्मा का संगीत कहा, सूफियों ने इसे सौते सरमदी का नाम दिया। मनुष्य तो संगीत के साथ जन्मा है। मानव का अंतर्मन आत्मा के सूक्ष्म संगीत से प्रतिध्वनित है जिसे ध्यानावस्थित होकर सुना जा सकता है। जब आत्मा में यह स्वर मुखरित होता है, तो साधक को दिव्य आनंद की अनुभूति होती है। संगीत का जन्म भाषा से कहीं पहले हुआ था। इसके द्वारा प्राणियों में भावों और भावनाओं का आपस में आदान-प्रदान होता है।

संगीत हृदय की भाषा है। यह आत्मा की प्रतिध्वनि है जिसमें संकीर्णताएँ नहीं हैं। यह व्यक्ति को स्वरों का माधुर्य और व्यक्तियों को समरस सामूहिक जीवन प्रदान करता है। इसलिए यह आवश्यक है कि हम प्रेम से गाएँ और सुनाएँ तथा संगीत में प्रेम का दर्शन करें। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि संगीत के इंद्रधनुष ने सांप्रदायिकता की संकीर्णताओं को हटाया है। स्वतंत्र भारत में लोकतंत्रीय मूल्यों को अपनाने का प्रभाव भी संगीत कला पर पड़ा और फलतः राजदरबारों, सामंती प्रभावों से निकल यह कला जन साधारण के पास पहुँच रही है। अभिजातीय वर्ग और घरानों की कैद से संगीत मुक्ति पा रहा है।

भारत के तीन अक्षर 'भा', 'र', और 'त' की यदि व्याख्या की जाए, तो 'भा' का मतलब भाव 'र' का मतलब 'राग' और 'त' का मतलब 'ताल' होता है। यानी इन तीनों का मिश्रण है 'संगीत'। यानी भारत का नाम ही है संगीत। यहाँ कलाकारों ने गीत, वाद्य और नृत्य के माध्यम से शांति स्थापित करने का काम किया। वैसे सच कहा जाए तो पूरे ब्रह्मांड में विद्यमान है

संगीत। कल-कल बहते झरने, सनन-सनन चलती हवाएँ और परिंदों का कलरव सुनिए, हर जगह संगीत सुनाई देगा। संगीत जब प्रकृति में होता है, तो सकारात्मक ऊर्जा देता है। इसे सुनकर हम खुद को भूल जाते हैं। यह संगीत और प्रकृति का गहन रिश्ता ही है कि हम जो कुछ गाते हैं, वह आसमान तक पहुँचता है। महान गायक तानसेन जब राग दीपक गाते थे, तो दीए खुद-ब-खुद जलने लगते थे। मेघ मल्हार गाने से बारिश आ जाती थी। ऐसा इसलिए होता है, क्योंकि पंचतत्त्वों का रिमोट कंट्रोल संगीत ही है।

सच कहा जाए तो संगीत शांति रूप है और उसका आधार ओंकार है। वास्तव में यह जीवन का शांति रस है। इसे जितना अपने जीवन में इस्तेमाल करेंगे, यह उतना ही अपना प्रभाव दिखलाएगा। इसीलिए भारतीय संगीत को सबसे बढ़िया औषधि कहा गया है। नाट्यशास्त्र में भरत मुनि व बृहदेशी में मतंगमुनि ने कहा है कि संगीत व्यक्ति के शरीर पर अपना प्रभाव छोड़ता है और उसे कई तरह के रोगों से मुक्त भी करता है। आज की भागदौड़ की जिंदगी में इंसान को आराम नहीं मिलता। ऐसे में संगीत ही है, जो मन को चैन पहुँचाता है, चाहे फिल्मी संगीत हो, हिंदुस्तानी, कर्नाटक संगीत या फिर लोक संगीत हो। आम जीवन में संगीत का महत्त्व इस माने में है कि उससे तनाव दूर होता है और मन को शांति मिलती है। सारंगदेव की कृति 'संगीत रत्नाकर' में भी इस बात का उल्लेख है कि व्यक्ति की जिंदगी में संगीत की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। कला एवं संस्कृति ही मनुष्यता की परिभाषा है। अगर विद्यार्थियों को कला एवं सांस्कृतिक कार्यक्रमों से जोड़ दिया जाए, तो शिक्षण संस्थानों में छात्र आंदोलन स्वतः ही समाप्त हो जाएगा। कलाकारों का मनोबल ऊँचा रखकर ही कला के विविध रूपों को जिंदा रखा जा सकता है और कला से ही विकास की प्रेरणा मिलती है।

आदि काल से आज तक मनुष्य संगीत का प्रेमी रहा है, क्योंकि संगीत जीवन में रस घोलता है, गति देता है और संवेदना को प्रभावित करता है। संगीत का एक छोर यदि प्रेम, प्रकृति और श्रृंगार है, तो दूसरा छोर मनुष्य के अभाव, दुख-दर्द और दारुण स्थितियाँ हैं जिन्हें संगीतकार वाणी देते हैं।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि संगीत मनुष्य के जीवन के कोणों में सार्थक संवाद होता है, जो उसे जिंदगी की जद्दोजहद के बीच थके-हारे, टूटते, सूने और उद्धात्त क्षणों में लगातार राहत देता है। संगीत ने इस दायित्व को

ज्यादा जिम्मेदारी से निभाया है जिसके मूल कारण हैं उसकी लयवत्ता और छंदबद्धता।

स्फूर्त्त सांस्कृतिक चेतना संगीत की मूल शक्ति है। गीत-संगीत मीठी गुनगुनाहट के साथ श्रोता का उसके आज से साक्षात्कार कराता है। उसके कारणों से मिलवाता है और कल के चिंतन के लिए सकारात्मक ऊर्जा प्रदान करता है। संगीत न नारा है, न कोरा शोर, न वह दल है और न झण्डा। संगीत इन सबसे अलग हर कालखण्ड में दलदल में खिला कमल है, क्योंकि वह सत्य है और सत्य कभी पाला नहीं बदलता। परंपरा और उत्तराधिकारी को सहेजने में भी संगीत अहम भूमिका निभाता है।

आधुनिक काल के संगीत पर पाश्चात्य संगीत का प्रभाव पड़ा है। गायन शैली में बदलाव आया, नए-नए वाद्यों का प्रयोग शुरू हुआ। बड़े-बड़े आर्केस्ट्राओं ने अपना रंग जमाया। इसी प्रकार भारत में शास्त्रीय संगीत को घरानों से बाहर लाकर जन साधारण तक वैज्ञानिक ढंग से पहुँचाने के लिए विष्णुनारायण भारत खण्डे और विष्णु दिगंबर जी ने बहुत प्रयास किया। जगह-जगह सम्मेलन किए, व्याख्यान दिए और संगीत संस्थाएँ स्थापित की जिनमें हिंदू, मुसलमान, सिख, ईसाई सभी धर्मानुयाइयों को शिक्षा दी जाती थी। आधुनिक प्रचार माध्यमों ने संगीत को जन-जन तक पहुँचाया है ऑडियो तथा वीडियो कैसेट, सी.डी. द्वारा संगीत की गूँज घर-घर में है। यों तो दूरदर्शन और आकाशवाणी सहित विविध टी.वी. चैनलों से संगीत के कार्यक्रम प्रसारित होते हैं, लेकिन आज सिनेमा का जादू सबके सिर पर चढ़कर बोल रहा है। चित्रपट संगीत का हर जगह बोलबाला है। चित्रपट संगीत शास्त्रीय और लोक संगीत दोनों से ही अलंकृत होता है।

भारतीय संगीत में समय के साथ परिवर्तन आए, परंतु इसकी मौलिकता बनी रही। अमीर खुसरो देशभक्ति को ईमान मानते थे। वह भारतीय परंपरा और परिवेश से प्रभावित हुए थे। उन्होंने हिंदू-मुसलिम मेल-जोल से भारत में समन्वित संस्कृति का बीजारोपण किया। वे भारतीय संगीत को अन्य सभी देशों के संगीत से उत्तम मानते थे। उनका कथन था कि यहाँ का संगीत जब अरब, मिस्र देश पहुँचता है, तो वहाँ के गाने वालों की जबान खामोश हो जाती है। आज भी इनकी लिखी कव्वालियाँ जब गाईं जाती हैं, तो लोग आत्मविभोर हो जाते हैं –

'बहुत कठिन है डगर पनघट की ....'

या

'छाप तिलक सब छिनी रे, मोसे नैना मिलाय के'.................

इसी प्रकार भक्ति आंदोलन ने भी संगीत को आध्यात्मिक ऊँचाइयाँ प्रदान की। कीर्तन, भजन, गायन, सस्वर जय और मंत्रोच्चारण में संगीत का उपयोग हुआ। भक्ति आंदोलन का आधार था -'जात-पात पूछे न कोये, हरि को भजे सो हर का होये।' लोक संगीत की अपनी महिमा है। यह जन साधारण के अधिक निकट होने की वजह से बहुत प्रभावकारी होता है। आल्हा गायन, बाउल गायन, पंजाब के वारिसशाह की हीर आदि ने जन-जन के हृदय में अपना जादूई-प्रभाव छोड़ा है। चैती, विदेशिया, बिरहा, कजरी, रसिया, दादर, कहरवा आदि सभी का अपना योगदान है। इनके साथ ही आधुनिक संगीत पर जब हमारी नजर जाती है, तो थोडी निराशा होती है, क्योंकि उनमें वह रस नहीं मिलता जो पुराने गीत में मिलता था। पुराने गाने आज भी सुने जाते हैं, जबकि आजकल के गीत दो साल में ही दिल से उतर जाते हैं। पुराने गानों में शुद्धता है, शब्दों में गहराई है। एक संगीतकार अपने सुरों के जरिए आम आदमी में प्यार और भाईचारे की अहमियत को समझाने की कोशिश करता है और ये चीजें किसी बाजार या मॉल से नहीं खरीदी जा सकतीं। इसलिए आज के आपाधापी और भागदौड़ के युग में सांस्कृतिक कार्यक्रमों का महत्त्व है, क्योंकि मौजूदा दौर में लोगों के बीच दूरियाँ बढ़ती जा रही हैं, जिसे कम करने में काफी वक्त लगेगा, किंतु सांस्कृतिक आयोजनों द्वारा दिलों की दूरियाँ कम की जा सकती हैं। राष्ट्रीय व सांस्कृतिक चेतना की वैचारिक संस्था **राष्ट्रीय विचार मंच** तथा उसके मुख-पत्र **'विचार दृष्टि'** के द्वारा कुछ इसी भाव से प्रेरित होकर तथा इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए आज की सांस्कृतिक संध्या आयोजित है। आज जिस तेजी से देशवासियों में राष्ट्रीयता की भावना का लोप होता जा रहा है उसमें जरूरत इस बात की है कि अलग-अलग भाषाओं में तथा विभिन्न धुनों में ऐसे गीत संगीतबद्ध किए जाएँ जिनसे देशवासियों में राष्ट्रीय सांस्कृतिक विरासत के प्रति चेतना जागृत हो सके, लोगों में समानता, समरसता, भ्रातृत्त्व एवं सद्भाव के भाव भरे जा सकें। हमने तो उन गीतों को 'विस्मृत कर' दिया जिन्होंने हमें आजादी के पथ पर अग्रसर किया, हमारे हृदय एवं मस्तिष्क को राष्ट्रीय चेतना से परिपूर्ण किया था। हममें से कितने अपने बच्चों को भारतीय

गौरव गाथा के उन गीतों को सिखाते हैं, जिसे स्वतंत्रता-संग्राम के दौरान किस मस्ती से आजादी के दीवाने गाते थे – 'मेरा रंग दे बसंती चोला ....।' कहाँ गई वह 'सरफरोशी की तमन्ना ....' जिससे वातावरण गुँजरित हो जाता था। पंजाबी गीत – 'नई रखनी सरकार जालिम नई रखनी' का अन्याय से जूझने का वह दृढ़ विश्वास आज लुप्त हो गया, जबकि आज अन्याय का सबसे ज्यादा बोलबाला है। कितनी पीड़ा होती है जब 'वंदेमातरम्' जैसे गीत की पवित्रता, सौम्यता, भक्ति-भावना किसी आधुनिकता के दीवाने संगीत निदेशक की चमक-दमक, रंग-बिरंगी रोशनी की चकाचौंध, उछल-कूद अंदाज में नृत्य और तरल की धमा-चौकड़ी की भेंट चढ़ जाती है। क्या अधिकार है हमें उन गीतों के साथ मजाक करने का? यह हमारी दौलत है जिसके साथ छेड़छाड़ करने का न तो किसी को हक है और न ही इज़ाजत। क्या हम इसे सांस्कृतिक सोच में आई हमारी मौजूदा विपन्नता के दौर का परिचायक नहीं कहेंगे?

समाजशास्त्र का एक शब्द है 'सांस्कृतिक विलंबना' जो अभिव्यक्त करता है किसी भी समाज के तकनीकी विकास और सांस्कृतिक पतन की स्थिति को, सभ्यता और संस्कृति के बढ़ते फासले को। भारतीय समाज को इस 'सांस्कृतिक विलंबना' की स्थिति में ढकेलने के लिए दूरदर्शन भी काफी हद तक जिम्मेदार है। अल्बर्ट आईंस्टाइन ने कहा था – मानव समाज का भविष्य उसकी तकनीकी और वैज्ञानिक विकास पर कम, नैतिक सिद्धांतों पर अधिक निर्भर करती है और खासकर तब, जब ये नैतिक समाज का सारा आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक ढाँचा अनैतिक बन जाता है। दरअसल नैतिक सिद्धांतों के अभाव ने हमारी वह दृष्टि ही छीन ली जिससे कि हम तय कर सकें कि गलत क्या है, सही क्या है?

आपको याद होगा कि एक समय दूरदर्शन की भूमिका किसी अभिभावक की तरह थी, वह दर्शकों तक ज्ञान, नैतिकता और आदर्श पहुँचाने का प्रयास करता था, लेकिन जैसे ही दूरदर्शन चैनलों की भीड़ बढ़ी वह भी अपना अभिभावकत्त्व छोड़ कर दर्शकों की इच्छाई पर नाचने लगी और फिर दर्शकों को अपनी इच्छाओं पर नचाने लगी। संभवत: दृश्य-श्रव्य माध्यम पर असर डालता है। यही कारण है कि आज हम अपनी बहुविध-बहुरंगी-बहुस्तरीय सृजन परंपराओं और सांस्कृतिक विरासत से दूर जा पड़े। अपने आस-पास के यथार्थ से कट गए। मंच के द्वारा राष्ट्रीय राजधानी नई दिल्ली में आयोजित यह

'सांस्कृतिक संध्या' जहाँ कुछ हद तक शायद उस परंपरा और सांस्कृतिक विरासत को वापस लाने का एक प्रयास है, वहीं इसके माध्यम से संस्कृति के रूप में हम श्रेष्ठ विचारों एवं कर्मों को लोक की भूमिका में बो कर नई पीढ़ी के लिए उन्नत जीवन-मूल्यों की फसल तैयार करते हैं।

इसमें तनिक संदेह नहीं कि भारतीय चिंतकों, मुनियों, ऋषियों, विचारकों तथा दार्शनिकों ने राष्ट्र को एक सांस्कृतिक चेतना के रूप में माना। भारत में राष्ट्र की संकल्पना एक सांस्कृतिक विरासत के प्रति चेतना और अस्मिता के प्रति जागरूकता के रूप में बहुत प्राचीन है। संगीत तो राष्ट्रीय सांस्कृतिक विरासत के प्रति हमारी चेतना का पालन है, उसे तो सदैव ही जागरूक और गतिशील रहना ही चाहिए। इसी जागरूकता और गतिशीलता को बरकरार रखने के लिए मंच की ओर से आज का यह आयोजन राष्ट्रीय राजधानी दिल्ली में अवस्थित प्राय: सभी राज्यों के वासियों के समक्ष प्रस्तुत है जिसके माध्यम से लोगों में थोड़ी भी राष्ट्रीयता एवं सांस्कृतिक चेतना जागृत हो सके तो मंच के इस प्रयास की सार्थकता सिद्ध होगी।

गीत-संगीत समाज की सांस्कृतिक विरासत है जिसमें सभी जाति, धर्म एवं वर्ग के लोग एकत्रित होकर अपनी परंपरा एवं इतिहास आधारित गीतों का गायन करते हैं। संगीत से सामूहिकता पैदा होती है और सामूहिकता में ही सबलता निहित है, क्योंकि सामूहिकता विकास की सीढ़ियाँ तय करती है, जबकि टूट अथवा बिछुड़न अधोगति की ओर ले जाती है। इसके साथ ही समाज को स्वस्थ बनाने में भी सांस्कृतिक कार्यक्रमों की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। मंच ने आज की इस सांस्कृतिक संध्या के माध्यम से सांस्कृतिक चेतना को जागृत करने तथा सांस्कृतिक विरासत को फलक पर पहुँचाने की चेष्टा की है। इस दृष्टि से यह सांस्कृतिक संध्या सांस्कृतिक विरासत और सामाजिक एवं राष्ट्रीय एकता को बढ़ावा देने की दिशा में एक सार्थक कदम है। निश्चित रूप से ऐसे कार्यक्रमों से सांस्कृतिक मूल्यों की हिफाजत व संरक्षण किया जा सकता है।

नई सदी में जब पूरा विश्व एक गाँव के रूप में सिमट आया और विश्वग्राम (Global Village) की कल्पना की जा रही है, ऐसे में जरूरी है कि हम एक दूसरे की संस्कृति को गहराई से समझें। आज की इस सांस्कृतिक संध्या के जरिए हम एक दूसरे की संस्कृति को गहराई से

जानने-समझने में समर्थ होंगे, ऐसा मेरा विश्वास है। यही नहीं, युवा वर्ग को संस्कृति व मर्यादाओं को ध्यान में रखकर आगे बढ़ने का मौका मिल सकेगा तथा सांस्कृतिक कार्यक्रमों के माध्यम से प्रतिभा प्रदर्शन के साथ-साथ संस्कृति की गरिमा भी कायम की जा सकती है।

जंग-ए-आजादी 1857 की 150वीं वर्षगांठ और लौह पुरुष सरदार पटेल की 132वीं जयंती के अवसर पर आयोजित आज के इस समारोह और सांस्कृतिक संध्या को सफल बनाने में तन-मन-धन से मंच से जुड़े जिन सहयोगियों ने अपेक्षित सहयोग प्रदान किया है उन सब के प्रति मैं आभार व्यक्त करता हूँ। खासतौर पर भाई सतेन्द्र, अरविंद, उदय, अनिल तथा प्रो. 'प्रेम' के अथक परिश्रम तथा उनकी हार्दिकता और उदारता को मैं अनुकरणीय मानता हूँ।

राष्ट्रचेता, दिल्ली- 2007

◈◈◈

ध्यान रखना चाहिए कि ये संपादकीय किसी दैनिक या साप्ताहिक के लिए नहीं लिखे गए थे। फिर भी सिद्धेश्वर जी ने इनमें सामयिकता ही नहीं तात्कालिकता को भी साधने की कोशिश की है। इसलिए इनमें गुजरते समय और घटती घटनाओं का संदर्भ तो है लेकिन बात ऐसी कही गई है कि जो तात्कालिकता और राजनीति की उठापटक से पार जाती है। निजी और सामूहिक जीवन के ऐसे कालजयी मूल्यों को पकड़ने का प्रयास किया गया है, जो दैनंदिन जीवन की आपाधापी में खो जाते हैं। सिद्धेश्वर जी की लगातार कोशिश है कि वर्तमान में जीते हुए और अपने आसपास की घटनाओं पर लिखते हुए शाश्वत को हमेशा सामने रखा जाए।

-प्रभाष जोशी
भूमिका से

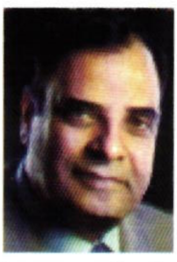

समकालीन कशमकश को सिद्धेश्वर ने अपने संपादकीयों में जिस बारीकी और सच्चाई से जाहिर किया है वह उनकी विश्लेषणात्मक समझ को उजागर करती है। पूरी पुस्तक में वर्तमान दौर की वैचारिकी और सैद्धांतिकी को व्यक्त करती ऐसी टिप्पणियाँ हैं, जो एक बेहतर संपादक की भूमिका को दर्शाती हैं। वे अमूर्त कथ्यरूपात्मक संपादकीय और कुछ समय बाद अर्थहीन हो जाने वाली रपटें नहीं हैं। अपने समय और संवाद को समझकर संपादक-लेखक ने तात्कालिक महत्त्व की सामग्री को स्थायी स्वाद देने वाली रचना बना दिया है। कारण कि पत्रकारिता के सिद्धांत से इन्होंने कभी समझौता नहीं किया।

-आलोक मेहता
शुभाशंसा से

लेखक परिचय

पूरा नामः सिद्धेश्वर प्रसाद

संक्षिप्त नामः सिद्धेश्वर

पिता का नामः स्व. इन्द्रदेव प्रसाद

जन्म तिथिः 18 मई, 1941

जन्म स्थानः ग्राम-बसनियावाँ, पत्रालय-बसनियावाँ, भाया-हरनौत, जिला-नालंदा, बिहार (भारत)

शैक्षिक योग्यताः पटना विश्वविद्यालय से स्नातकोत्तर, सन् 1962 ई.

तकनीकी शिक्षाः एस.ए.एस., भारतीय लेखा एवं लेखा परीक्षा विभाग से सन् 1973 ई.

सरकारी सेवाः भारतीय लेखा एवं लेखा परीक्षा विभाग में 36 वर्षों तक सेवा कर लेखा परीक्षक के पद से प्रोन्नति पाते हुए वरिष्ठ लेखा परीक्षा अधिकारी तक पहुँचे।

स्वैच्छिक सेवा निवृत्तिः वृहत्तर एवं व्यापक देश हित में 1 जून, 2000 से स्वैच्छिक सेवा निवृत्त।

अभिरुचिः समाज व साहित्य सेवा एवं पत्रकारिता, राष्ट्रभाषा हिंदी के प्रचार-प्रसार के लिए संघर्षशील तथा रचनात्मक लेखन से जुड़ाव।

साहित्य सृजनः गद्य एवं पद्य की अब तक पंद्रह पुस्तकें प्रकाशित तथा पाँच पुस्तकें प्रकाशनाधीन। इसके अतिरिक्त देश व समाज के समसामयिक सामाजिक, साहित्यिक तथा राजनीतिक विषयों पर लगभग सवा दो सौ रचनाएँ देश की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित तथा आकाशवाणी एवं दूरदर्शन के विभिन्न केंद्रों से प्रसारित। प्रो. राम बुझावन सिंह द्वारा विरचित जीवनी 'सिद्धेश्वर : व्यक्तित्व और विचार' प्रकाशित।

सम्मानः विभिन्न सामाजिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक संगठनों द्वारा पुरस्कृत एवं सम्मानित।

भारत सरकार के रेल मंत्रालय में रेलवे हिंदी सलाहकार समिति के सदस्य पद पर रहकर राजभाषा हिंदी की सेवा।

विदेश यात्राः 13-15 जुलाई 2007 को अमेरिका के न्यूयॉर्क में आयोजित 8वें विश्व हिंदी सम्मेलन में बिहार सरकार की ओर से भारतीय प्रतिनिधि मंडल में शामिल होकर शैक्षिक सत्र में आलेख पाठ एवं परिचर्या में सक्रिय भागीदारी।

संप्रतिः 1. राष्ट्रीय महासचिव, राष्ट्रीय विचार मंच, दिल्ली
2. संपादक, 'विचार दृष्टि', दिल्ली

संपर्कः 'दृष्टि', यू-207, शकरपुर, विकास मार्ग, दिल्ली-110092. फोन : 011-22059410, 22530652 मो. : 09811281443
'बसेरा', पुरन्दरपुर, पटना-800001 (बिहार)
फोनः 0612-2510519, मो.: 9873434086

सरदार पटेल साहित्य प्रकाशन
दिल्ली

I.S.B.N. No : 978-81-904100-7-6